रहस्यवाद

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

रहस्यवाद

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
सैदपुर, पटना - ८०० ००४

संस्करण : प्रथम संस्करण :
शकाब्द १८८४, विक्रमाब्द २०२०, खृष्टाब्द १९६३
द्वितीय संस्करण :
विक्रमाब्द २०६१, खृष्टाब्द २००४

मूल्य : १२०.०० रुपये

मुद्रक : इन्द्रप्रस्थ इन्टरनेशनल
द्वारा आर० के० ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-३२

देहमुक्त आचार्य क्षितिमोहन सेन

की

पुण्यस्मृति में

वक्तव्य

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना को अपने व्याख्यानमाला कार्यक्रमों से राष्ट्रीय स्तर पर गौरव प्राप्त हुआ है। परिषद् की इस उपलब्धि में देश के प्रतिष्ठित विचारकों, मनीषियों एवं लेखकों का योगदान स्मरणीय है। उनके उत्प्रेरक व्याख्यानों का ग्रंथाकार रूप केवल परिषद की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि है। यदि परिषद् ने यह महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य नहीं किया होता तो यह एक अपूरणीय राष्ट्रीय क्षति होती। इसी कड़ी में मध्यकालीन संत-साहित्य के मर्मी आलोचक और प्रखर विचारक पंडित परशुराम चतुर्वेदी का ग्रंथ 1962 में 'रहस्यवाद' प्रकाशित हुआ था, जिसने रहस्वाद संबंधी अनेक भ्रान्तियों को समाप्त कर उसे वैश्विक साहित्य-धरातल पर प्रतिष्ठित किया था। इस ग्रंथ का हिंदी आलोचना में वही महत्त्व है जो अंग्रेजी साहित्य में अंडरहिल के 'मिस्टिसिज्म' का है।

इस ग्रंथ का महत्त्व इस तथ्य में है कि इसने रहस्यवाद को न केवल एक जीवन-दर्शन के रूप में स्थापित और व्याख्यायित किया है वरन् रहस्यवाद को काल्पनिक या पलायनवादी प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित करने की भ्रान्ति का भी निराकरण किया है। रहस्यवाद वस्तुतः मानवीय, कल्याणकारी और नैतिक चेतना का उत्कर्षक भाव-उद्गम है। वास्तविक रहस्यवादी भावदशा चित्त का परिष्कार कर मनुष्य को निर्मल मानवीय धरातल प्रदान करती है। सच्चा रहस्यदर्शी सामान्य लौकिक कवियों की अपेक्षा जीवन और काव्य दोनों के प्रति अधिक ईमानदार होता है। उसका स्वांतः सुखाय इतना विराट् होता है कि उसमें सम्पूर्ण विश्व समाहित हो जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ पंडित परशुराम चतुर्वेदी की दीर्घकालिक साधना, चिन्तन और अध्ययन का प्रतिफल है। मुझे विश्वास है कि 'रहस्यवाद' पूर्व की ही भाँति नये रूप में आलोचकों और पाठकों के बीच समादृत होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
१३ मार्च, २००४

वीरेन्द्र नारायण यादव
निदेशक

प्रस्तावना

रहस्यवाद के अध्ययन की ओर अभी अधिक दिनों से विशेष ध्यान दिया गया नहीं समझा जाता। ऐसा लगता है कि सर्वप्रथम, इस विषय की ओर उन विद्वानों की दृष्टि गई जो धार्मिक साधना की विभिन्न प्रणालियों के संबंध में विचार किया करते थे। फलतः इसके स्वरूप को निर्धारित करते समय उन्होंने प्रचलित धर्मों अथवा संप्रदायों द्वारा विहित उपासना-पद्धतियों ही तक इसे सीमित रखना उचित माना। इस प्रकार, इसकी चर्चा अधिकतर विश्व के विशिष्ट धार्मिक वर्गों के इतिहासों में भी होने लग गई। ईसाई संतों तथा सूफ़ी पीरों के धार्मिक जीवन, उनकी भावनाओं और उनके उद्‌गारों की ओर ऐसे लोगों का ध्यान विशेष रूप से गया और उन्होंने इन पर चिंतन किया। उन्होंने क्रमशः यहूदी धर्म, हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म एवं ताओ जैसे अन्य अनेक धर्मों में भी इस प्रकार की साधना का पता लगाना आरंभ किया जिसका एक परिणाम यह हुआ कि रहस्यवाद विषयक धारणाओं के प्रायः एक समान पाये जाने तथा उसके सब कहीं एक सा प्रतीत होते हुए भी, कभी-कभी ईसाई रहस्यवाद, हिंदू रहस्यवाद, बौद्ध रहस्यवाद अथवा यहूदी रहस्यवाद जैसे नामों की सृष्टि हो गई। कुछ ऐसा समझा जाने लगा कि इस विषय को इसके वास्तविक रूप में जान पाने का साधन केवल धार्मिक विश्वास का ज्ञान मात्र ही हो सकता है। इस मत को कभी-कभी ऐसे लेखकों तक ने व्यक्त करना उचित समझा जिन्होंने रहस्यवाद के 'दार्शनिक आधार' पर भी विचार किया।

इस प्रकार की धारणा में उल्लेखनीय परिवर्तन कदाचित् उस समय तक न हो सका जब इसके मूलस्रोत की व्याख्या विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की जाने लगी और वैसे विशेषज्ञों में से कई ने इसे स्पष्ट शब्दों में 'धार्मिक अनुभव' कहा तथा इसके संबंध में फ्रायडियन मनोविज्ञान की दृष्टि से चर्चा की जाने लगने पर वैसे लोगों में पारस्परिक मतभेद तक दीख पड़ने लगा। फिर भी, इसमें संदेह नहीं कि रहस्यवाद के मनोवैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उसके संबंध की अनेक त्रुटियां दूर होती जान पड़ने लगीं और उसके किसी न किसी प्रारंभिक रूप का पता उन लोगों ने भी लगाना आरंभ किया जो नृतत्वविज्ञान जैसी विद्याओं के पंडित थे अथवा जिन्होंने विश्व की विभिन्न संस्कृतियों को अपने अध्ययन का विषय बनाया था। इसी प्रकार इस विषय की ओर बहुत से ऐसे विद्वानों का भी ध्यान गया जिन्हें साहित्यिक रचनाओं अथवा उनमें निहित प्रवृत्तियों के अध्ययन में विशेष रुचि थी। इन्होंने ऐसा करते समय इसे स्वभावतः किसी एक शैली विशेष की कोटि में रखा और इसे अधिकतर धार्मिक काव्यों के उन रचयिताओं में ढूंढ़ने का प्रयास किया जो उच्चकोटि के आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करते हुए जान पड़ते थे। अतएव, जहां तक हमें

पता चलता है, रहस्यवाद का विषय बहुत कुछ कोरा धार्मिक ही समझा जाता आया है और इसे अधिक व्यापक रूप देने की चेष्टा कम देखी गई है।

केवल धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, नृतत्व विज्ञान, समाज शास्त्र अथवा साहित्य के दृष्टि-कोणों से रहस्यवाद के विषय का अध्ययन अपने-अपने ढंग से उचित ही कहा जा सकता है और जहां तक उसके उतने क्षेत्र विशेष तक सीमित रह कर इसकी व्याख्या वा इसके स्वरूप-निर्धारण करने का प्रश्न है, उसके संबंध में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। परंतु, यदि वैसे सारे यत्नों पर एक साधारण-सी दृष्टि भी डाली जाय तो कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि इसे केवल किसी साधना, विश्वास, चेष्टा, प्रवृत्ति अथवा अन्य प्रकार की ऐसी सीमा तक ही केंद्रित कर देने से हम इसके प्रति कदाचित् पूरा न्याय नहीं कर पाते। इसके व्युत्पति-मूलक अर्थ, इसकी संभा-वनाओं तथा इसके स्वयं उपर्युक्त विभिन्न दृष्टियों द्वारा अध्ययन किये जाते देख कर भी हमें इस पर पुनर्विचार करने की प्रवृत्ति होने लगती है। हम इस प्रकार सोचने लगते हैं कि क्या इसको हम कोई ऐसा व्यापक रूप नहीं दे सकते जिसके अंतर्गत न केवल उपर्युक्त सभी बातें आ जायं, प्रत्युत इसके अतिरिक्त हम इसके क्षेत्र में उन अन्य पक्षों तक का भी समावेश कर सकें जो उनसे कम महत्त्व के नहीं हैं तथा जिनका लगाव इसके साथ सिद्ध कर देने पर हम इसके वास्तविक मर्म को कदाचित् ठीक तौर पर हृदयंगम भी कर सकते हैं। जान पड़ता है कि इस प्रकार के प्रश्न संभवतः कई लेखकों के सामने उठे हैं और उन्होंने कभी-कभी इसकी ओर संकेत भी किया है।

ऐसे लोगों की दृष्टि से देखने पर हमारा रहस्यवाद के विषय को केवल उपर्युक्त धर्मादि तक के क्षेत्रों ही तक सीमित रखना उचित नहीं। इसकी व्यापकता न केवल किसी चेष्टा विशेष तक पहुंच पाती है और न वह किसी मनोवृत्ति तक जा कर ही सीमित बन जाती है। इसके अंतर्गत इन दोनों का समावेश किया जा सकता है तथा इस प्रकार इसे वस्तुतः एक व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। इसके सिवाय इसका संबंध न केवल किसी व्यक्ति मात्र के साथ सिद्ध होता है, अपितु यह उसके अपने सामाजिक जीवन के अंतर्गत एक ऐसे महत्त्वपूर्ण साधन का भी काम दे सकता है जिसका प्रयोग सदा कल्याणकारक एवं शांतिदायक सिद्ध होगा। इस प्रकार विचार करने पर यह किसी व्यक्ति विशेष के लिए एक जीवन-दर्शन सा लगने पर भी उसके किसी व्यक्तिगत काम की ही वस्तु नहीं रह जाता, प्रत्युत यह ऐसे सुदृढ़ मार्ग का भी रूप ग्रहण कर लेता है जिसका लक्ष्य अधिक से अधिक सामाजिक एवं सुखमय बन जा सकता है तथा जिस कारण यह उन कुछ दोषों से मुक्त भी दीख पड़ने लगता है जो अब तक 'रहस्यवाद' शब्द से सूचित होते आये हैं। इस विषय के प्रति ऐसी धारणा रखने वाले कुछ लोगों ने इसे 'जीवन-कला' जैसा नाम देना ठीक समझा है, किंतु यह उपयुक्त नहीं है। 'जीवन-कला' शब्द हमें केवल वैसी चेष्टाओं की ओर संकेत करता जान पड़ता है जो जीवन को गति देती हैं। इसके द्वारा हमें उस मूल उत्स का बोध भी नहीं होता जिससे उन चेष्टाओं को प्रेरणा मिला करती है। किंतु 'जीवन-दर्शन' शब्द में ऐसी कमी नहीं पायी जाती। इसके द्वारा कोई एक ठोस आधार हमारे सामने आ जाता है, एक आलोक प्रकाश करता जान पड़ता है और हम अग्रसर होते भी प्रतीत होने लगते हैं।

प्रस्तुत भाषण के अंतर्गत रहस्यवाद को किसी जीवन-दर्शन विशेष के रूप में ही देखने

तथा उसके समझने की चेष्टा की गई है और इस प्रकार, उसको एक ऐसे विषय की भांति ही समझा भी गया है। रहस्यवाद के संबंध में निर्मित विभिन्न धारणाओं, उनके कारण उत्पन्न होने वाली अनेक भ्रांतियों और जटिलताओं तथा इनके समाधानार्थ किये जा सकने वाले एक प्रयास के रूप में, प्रसंगवश दी गई इसकी एक परिभाषा के अतिरिक्त, क्रमशः इसके चरम लक्ष्य, उसकी अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति जैसी विविध प्रासंगिक बातों की चर्चा कर दी गई है जिससे इस विषय की गूढ़ता वा रहस्यमयता का निराकरण किया जा सके। ऐसा करते समय हमें विषय की दुरूहता के कारण, कतिपय ऐसे उल्लेख करने पड़े हैं जो अप्रासंगिक से लग सकते हैं और कभी-कभी ऐसी तर्क-पद्धति का प्रयोग करना है जो अनावश्यक जान पड़ सकती है। परंतु ऐसा जानबूझ कर करना पड़ा है। विषय की व्यापकता तथा उसका यथोचित परिचय देने के प्रयास में हमने कुछ ऐसे प्रश्नों को भी छेड़ दिया है जिनके साथ इस पर दृष्टि डालने से ही हमें इसका स्पष्टीकरण होता जान पड़ा तथा हमने इस विषय का यथेष्ट विवेचन करने के यत्न में यह उचित समझा कि अपने समक्ष प्रस्तुत लोगों को तर्क-पूर्ण ढंग से बतलाया जाय। इसके अंत में हमने रहस्यवाद के विषय में कतिपय ऐतिहासिक बातों की ओर भी संकेत कर दिया है तथा कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

रहस्यवाद का कोई न कोई रूप हमें अति प्राचीन काल से ही दीख पड़ने लगता है। विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले उसे किसी अविकसित 'धार्मिक विश्वास' का नाम देते हैं और कहते हैं कि उसमें इसका बीज निहित रहा होगा। हो सकता है कि उसके मूल में ऐसी कोई बात रही हो जिसका स्पष्ट विकास पीछे चल कर हुआ हो। वास्तव में 'धर्म' शब्द का अभिप्राय भी संभवतः पहले किसी न किसी जीवन-दर्शन का ही समझा जाता रहा होगा। परंतु समय पाकर उसमें अनेक प्रकार की संकीर्ण भावनाओं का समावेश होता चला गया और वह (धर्म) शब्द किसी न किसी सांप्रदायिक वर्ग के रूप में समझा जाने लगा। हमने इस संबंध में प्रसंगवश एक स्थल पर इसका उल्लेख भी कर दिया है कि उस दृष्टि से 'धर्म' वा 'रहस्यवाद' में कोई वैसा अंतर नहीं है। परंतु जैसा इस भाषण में बतलाये गए अनेक अन्य तथ्यों द्वारा सिद्ध होगा, इस समय वैसा कहना विवाद से रहित नहीं है। हमारे विचार से वर्त्तमान 'धर्म-संबंधी' भावना बहुत कुछ संकीर्ण हो गई जान पड़ती है तथा यदि उसमें किसी 'ईश्वर' जैसी सत्ता का अनिवार्यतः पाया जाना निश्चित हो उस दशा में हमें इस ईश्वर निरपेक्ष रहस्यवाद को उससे अधिक व्यापक मानना होगा। वैसी दशा में ही हम इसके अंतर्गत उन मतों का समावेश भी कर ले सकते हैं जो अनीश्वरवादी कहला कर प्रसिद्ध हैं।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि विषय के बहुत लोकप्रिय न होने पर भी इसके संबंध में बराबर ग्रंथों का निर्माण होता जा रहा है और यह जान कर बहुत से लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि अभी इस वर्ष भी इस पर अनेक ऐसी पुस्तकें निकली हैं जो सर्वथा संग्रहणीय है।[१] यह युग

---

१. (A) Happold, F.C. : Mysticism, A Study and Anthology (Penguin Books, 1963)

ही वास्तव में, ऐसा है जब कि विश्व के मनीषी वर्त्तमान विकट परिस्थिति से ऊब कर किसी आवश्यक तथा अनिवार्य परिवर्त्तन के लाने में यत्नशील हैं तथा किसी ऐसे भविष्य का चित्रण करने में संलग्न हैं जिसके निर्माण में यह विषय भी सहायक बन सकता है।

इस भाषण को देने के लिए मुझे आमंत्रित करके मेरे सुहृद बंधु 'माधव' जी ने जो अवसर प्रदान किया है उसके लिए मैं उनका अत्यंत आभारी हूं। मैं उन सज्जनों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिन्होंने इसमें उनको सहयोग किया है। इस 'रहस्यवाद' जैसे तथाकथित 'नीरस' विषय पर भाषण भी सभी ने पूरे धैर्य के साथ सुना और इस प्रकार मुझे प्रोत्साहन दिया। भाषण के तैयार करने में मैंने स्वभावतः कई लेखकों की महत्त्वपूर्ण रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण की है तथा अनेक स्थलों पर उनके ग्रंथादि से मुझे उपयुक्त प्रसंगों का उल्लेख करना पड़ा है जिसके लिए मैं उन सभी का परम अनुगृहीत हूं। इस भाषण के लिए मुझे प्रचुर सामग्री जुटाने में मेरे अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने मुझे पूरा सहयोग प्रदान किया है।

गांधी जयंती
सन् १९६३ ई०
बलिया

परशुराम चतुर्वेदी

(B) Spencer, Sidney : Mysticism in World Religion (Penguin Books, 1963)

विषय-क्रम

रहस्यवाद

१. सामान्य परिचय, परिभाषा और स्वरूप

(१) सामान्य परिचय

रहस्यवाद जिसकी हमें यहां चर्चा करनी है एक ऐसा विलक्षण विषय है जिसका निभ्रांत रूप में परिचय देना प्रायः संभव नहीं समझा जाता। कहते हैं कि जिस किसी व्यक्ति को इससे संबद्ध बातों का कोई प्रत्यक्ष अनुभव हुआ करता है वह उसे किसी अन्य के प्रति भलीभांति संप्रेषित करने में, बहुधा असमर्थ रह जाता है। उसके विषय में दूसरा जो कुछ कहने चलता है वह उसकी अनेक बातों को हृदयंगम न किये रहने के कारण, विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के हीफेर में पड़ जाता है तथा उसके लिए अधिकतर अनुमान से ही काम लेना आवश्यक हो जाता है। इसके सिवाय जिन लोगों का ध्यान इधर विशेष रूप में गया है और जिन्होंने अभी तक इस विषय का समुचित अध्ययन करने का यत्न किया है, उनमें या तो ऐसी मनोवृत्ति के लोग रहे हैं जिन्होंने इसे केवल कोई न कोई धार्मिक रूप दे डाला है और इसका कोरा प्रशंसात्मक वर्णन कर दिया है अथवा अन्य ऐसे लोग हैं जिन्होंने इसकी दार्शनिक वा मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने के यत्न में, इसके आधार को केवल एक साधारण कोरा अनुभव-मात्र ही मान लिया है। इसी कारण, उन्होंने इसके संबंध में विचित्र कल्पनाएं भी कर डाली हैं। फलतः यह विषय, केवल अधूरा सा ही बना न रहकर, प्रायः कठिन और दुरूह तक भी हो गया जान पड़ता है। ऐसी दशा में, इस पर सीधे कुछ कहने के पहले, यह कदाचित् अधिक उचित होगा कि इसका एक सामान्य परिचय भी दे दिया जाय और तब इसके विषय में आज तक प्रकट किये गए विभिन्न प्रमुख विचारों की एक समीक्षा करके अंत में, इसके वास्तविक स्वरूप के किसी निर्णय की चेष्टा की जाय।

इस प्रकार, यदि हम चाहें तो इस प्रसंग में, पहले 'रहस्यवाद' शब्द के ऊपर भी कुछ विचार कर सकते हैं। इसके लिए सर्वप्रथम, उस 'रहस्य' शब्द को ही ले सकते हैं जिसके आगे 'वाद' शब्द को जोड़कर उसका निर्माण किया गया है। 'रहस्य' शब्द का मूल 'रहस्' पर आधारित है जो स्वयं 'रह त्यागे' के अनुसार, 'त्याग करना' अर्थ रखने वाली धातु 'रह' से, उसके आगे 'असुन' प्रत्यय लगाकर बना कहा जा सकता है। ऐसे 'रहस्' का अर्थ साधारणतः 'विविक्त', 'विजन', 'गुह्य' और 'एकांत' होता है जिस कारण इसके द्वारा अधिकतर 'गोपनीयता' का बोध होना स्वाभाविक है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अंतर्गत आये हुए "योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः" (६-१०) में प्रयुक्त 'रहसि' का 'रहस्' शब्द इसी का परिचायक है। इसी प्रकार, 'ऋग्वेद' (२-२९-१) में दीख पड़ने वाले उस 'रहसूरिवागः' के 'रहसू' शब्द का प्रयोग भी लगभग इसी भाव को सूचित करता प्रतीत होता है। यहां पर उसका अर्थ किसी ऐसी माता का किया गया है जिसने अपने शिशु को स्वयं अविवाहिता रहने के कारण, गुप्त रूप से जन्म दिया हो। इसलिए 'रहस्य' शब्द को भी यहां पर, यदि केवल किसी ऐसे आशय का ही बोध कराने वाला मान लें और इसी प्रकार, 'वाद' शब्द से

ध्वनित होनेवाले अर्थ को भी किसी विचार-विनिमय में प्रस्तुत किये गए तर्क वा अधिक से अधिक मत-विशेष का सूचक होना स्वीकार कर लें, तो इन दोनों के संयुक्त आधार पर निर्मित 'रहस्यवाद' शब्द का विषय कोई ऐसा रूप ग्रहण कर सकता है जिसका प्रसंग छेड़ना यहां असंगत भी जान पड़ेगा। क्योंकि वैसी दशामें यह कहा जा सकता है कि जो कुछ गोपनीय है उसके संबंध में किसी प्रकार के 'वाद' की चर्चा कैसी ?

अतएव हमें यहां 'रहस्य' शब्द के एक अन्य अर्थ की ओर भी ध्यान देना पड़ेगा जो इसे 'भेद', 'मर्म' वा 'सारतत्त्व' का पर्याय बना देता है। इसका प्रयोग विशेषकर धार्मिक वा आध्यात्मिक प्रसंगों में हुआ करता है और यह भी बहुत प्रसिद्ध है। 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' में ही जहां श्री भगवान् कृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं, "तू मेरा भक्त और सखा है, इस कारण, मैंने तुम्हें यह सर्व रहस्यों में उत्तम रहस्य वा पुरातन योग बतलाया है।" (४-३) वहां पर यह इसी अर्थ का सूचक है, किंतु इसके साथ ही वहां पर कतिपय अन्य बातों की ओर भी संकेत कर दिया गया है। वहां इसके पहले आनेवाले दो श्लोकों द्वारा यह भी कहला दिया गया है कि "वह योग, सर्वप्रथम विवस्वान् अर्थात् सूर्य को बतलाया गया था जिन्होंने उसे अपने पुत्र मनु को बतलाया और मनु ने भी फिर अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बतलाया तथा ऐसी परम्परा से प्राप्त हुई उस विद्या को, राजर्षिगण जानते आये थे, किंतु वह दीर्घ काल से नष्ट हो चली थी"[१] इस प्रकार ऐसे कथन द्वारा उस रहस्यपरक योग मार्ग की वहां पर न केवल प्राचीनता प्रदर्शित की गई है, अपितु उसे प्राप्त करने वाले विशिष्ट महापुरुषों की एक चर्चा के भी आ जाने के कारण, हमें उसकी महत्ता, उत्कृष्टता एवं गूढ़ता का भी आभास मिल जाता है और इसके साथ-साथ हम उसके उनका उत्तम होने की सार्थकता को भलीभांति हृदयंगम कर लेते हैं। इसके सिवाय 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' के ही अंतिम अध्याय में हमें उसके लिए 'गुह्याद्‌गुह्यतरं' (१८-६३) 'सर्वगुह्यतम्' (१८-६४) एवं 'परमगुह्य' (१८-६८) जैसे शब्दों के प्रयोग किये गए भी मिलते हैं और वहां पर यहां तक भी कहा गया पाया जाता है कि "इस गुह्यतत्त्व को किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रकट नहीं करना चाहिए जो भक्ति न करता हो, तप न करता हो, सुनने की इच्छा न रखता हो अथवा जो निंदक हो"[२] तो हमें उसके लिए विशेष अधिकारी होने की आवश्यकता का भी पता चल जाता है।

इनके अतिरिक्त 'रहस्य' शब्द के दो-चार अन्य अर्थ भी बतलाये जाते हैं। किंतु वे यहां पर उतने उपयुक्त नहीं ठहराये जा सकते। उदाहरण के लिए, यदि हम यहां पर इसका प्रयोग उस अर्थ में करते हैं जिसके अनुसार इसे कोश-ग्रंथों के अंतर्गत,[३] 'खेल', 'विनोद', 'हंसीठट्ठा' वा 'मसखरी' का भाव व्यक्त करनेवाला समझा गया है तो उस दशा में भी, हमारे सामने लगभग उसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो जाती है जैसी, इसका केवल गोपनीयता-सूचक अर्थ करते समय पड़ी थी और हमें उसे असंगत मान कर छोड़ देना पड़ा था। इस 'रहस्य' शब्द के अनंतर 'वाद' के जोड़ने पर इस प्रकार आ जाने वाली अर्थ-गंभीरता ही यहां उस 'रहस्यवाद' की अनुपयुक्तता का भी प्रश्न ला देती है और हमें उसका ऐसा अभिप्राय अस्वीकार करना पड़ जाता है। इसी प्रकार, यदि हम

---

१. 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' (अ० ४, श्लोक १-२)।
२. वही (अ० १८, श्लोक ६७)।
३. 'महाराष्ट्र शब्द कोश' (भाग० ६) पृ० २५९८।

'रहस्य' शब्द का एक अन्य अर्थ 'मैत्री', 'स्नेह', 'प्रेम' अथवा 'पारस्परिक सख्यभाव' का जैसा करते हैं तो वहां पर भी, हमें ऐसा लगता है कि यह उतना उपयुक्त नहीं कहा जायगा। क्योंकि इस प्रकार के भावों के लिए भी हमारा किसी 'वाद' के प्रश्न का छेड़ना, कदाचित् कुछ असंगत ही समझा जा सकता है और इस 'रहस्यवाद' शब्द का वह आशय किसी प्रकार सूचित नहीं हो पाता जो हमें यहां पर अभिप्रेत हो सकता है। वास्तव में, 'रहस्य' शब्द का अर्थ 'गूढ़ तत्त्व' वा 'गुह्यभेद' जैसा मान कर चलने पर ही हमें उसके आगे 'वाद' शब्द के जोड़ने पर भी, किसी वैसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, यही सर्वथा उपयुक्त भी जान पड़ने लगता है। इसके सिवाय यह उस दशा में, वैसे 'रहस्' शब्द के आधार पर निर्मित भी कहला सकता है जिसका अर्थ, "रहस्तत्त्वे रमे गुह्ये[१]" जैसे प्रमाणों के आधार पर हमें 'तत्त्व' वा 'सार पदार्थ' का बोध कराता है। निष्कर्ष यह कि 'रहस्यवाद' का ऐसा शब्दार्थगत परिचय पाकर हम इसका अर्थ, तब तक किसी 'गूढ़तत्त्व विषयक मत' के रूप में ही कर लेते हैं।

परंतु इस 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग हमारे यहां बहुत अधिक दिनों से होता आता नहीं जान पड़ता। जहां तक पता चलता है इसका हिंदी में सर्वप्रथम प्रयोग, काव्यरचना-शैली के प्रसंग में, किसी समय सन् १९२७ ई० में हुआ। उसी वर्ष की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के मई वाले अंक में, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने (सुकवि किंकर के नाम से) अपने एक लेख में इसके प्रयोग का प्रश्न छेड़ा था। इसी के आस-पास स्व० अवध उपाध्याय तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसका प्रयोग किया था। अतएव यह किसी प्रकार आधुनिक भी कहा जा सकता है जिस कारण इसके अर्थ में अभी तक हमें अपने यहां की किसी रूढ़िता के प्रवेश पा जाने का कोई चिह्न भी लक्षित नहीं होता। जहां तक अनुमान होता है इसका प्रयोग यहां पर सर्वप्रथम, अंग्रेजी शब्द (Mysticism) (मिस्टीसिज्म) का भाव व्यक्त करनेके लिए उसके एक पर्याय के रूप में ही हुआ होगा। इसके अतिरिक्त इस संबंध में इतना और भी कहा जा सकता है कि इस अर्थ में यह शब्द जितना अधिक हिंदी में प्रयुक्त होता है उतना अन्यत्र न होता होगा। उदाहरण के लिए मराठी भाषा के लेखक, 'मिस्टीसिज्म' का अर्थ प्रकट करने के लिए, प्रायः 'गूढ़ वाद' वा 'गूढ़ गुंजन' जैसे शब्दों का व्यवहार करते पाये जाते हैं।[२] इसी प्रकार, जहां तक पता है, बंगला भाषा के लेखक भी उसके लिए बहुधा 'मरमियावाद' जैसे शब्द का ही प्रयोग करना अधिक समीचीन समझते हैं।[३] परंतु इन दोनों प्रयोगों के आधार पर भी, उस शब्द का वस्तुतः किसी गूढ़तासूचक आशय की ही ओर संकेत करना सिद्ध होता है वास्तव में अंग्रेजी का 'मिस्टिसिज्म' शब्द भी, लगभग ईसवी सन् १९०० के अनंतर ही, साधारणतः काम में लाया जाने लगा है।[४] अंग्रेजी के Mystic (मिस्टिक) शब्द

---

१. 'मेदिनी कोश'।

२. डॉ० प्रह्लाद नरहर जोशी : 'मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति' (पुणें, १९५७ ई०) पृ० १५०-१।

३. रमा चौधुरी : 'वेदान्त ओ सूफ़ी दर्शन' (कलिकाता, १९४४ ई०) पृ० १४६, १६४-५।

४. A. C. Bonquet : Comparative Religion (Pelican Series, 1953), p. 286.

की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द myste's (मिस्टेस) वा muste's (मस्टेस) से बतलायी जाती है जिसका अर्थ "मृत्यु एवं जीवन के मर्म-संबंधी गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी दीक्षित" व्यक्ति का हुआ करता है। इस प्रकार, उसके आधार पर निर्मित 'मिस्टिसिज्म' शब्द द्वारा भी प्रत्यक्षतः किसी 'गुप्त विद्या' वा किसी ऐसी साधना-पद्धति का ही बोध हो सकता है जिसका संबंध गुप्त कृत्यों के साथ हो तथा जो इसी कारण, 'रहस्यमयी' भी कही जा सकती हो। वैसी दशा में हमारा ध्यान स्वभावतः उससे सादृश्य रखने वाली उन भारतीय तांत्रिक विद्याओं की ओर भी चला जा सकता है जिन के ग्रंथों के अंतर्गत "एषोहि सर्वबुद्धानां रहस्यं परमाद्भुतम्" जैसे कथन किये गए मिलते हैं।[1]

ऐसी गोपनीयता को प्रायः यंत्र, मंत्र एवं त्राटक टोने आदि से संबंध रखनेवाली विभिन्न जादू विद्याओं के साधकों के यहां भी बहुत महत्व दिया जाता आया है। इन जैसी विद्याओं का आरंभ, संभवतः इधर के 'पूर्वी' कहे जाने वाले देशों में ही हुआ था और पश्चिमी देशों में ये पीछे 'मैजिक' (Magic) नाम से प्रचलित हुई। इस 'मैजिक' शब्द का मूल संबंध भी उन 'मागी' (magi) लोगों के नाम से जुड़ा हुआ है जो प्राचीन ईरानियों के पुरोहित हुआ करते थे। उनके लिए समझा जाता था कि ये यहां के 'दैवों' वा देवताओं को प्रसन्न कर लेना जानते हैं और इस प्रकार इनके माध्यम द्वारा, समय पड़ने पर, उनसे कोई भी काम करा लिया जा सकता है। वे लोग अपनी गुप्त शक्ति के आधार पर नितांत अनहोनी बातों तक के कर डालने में समर्थ माने जाते थे और इसी कारण, वे उधर बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे भी जाते थे।[2] कहा जाता है कि ऐसे ही तीन प्रमुख मागियों ने, किसी रहस्यमयी तारिका के आधार पर चलते हुए, इस बात का पता लगा लिया था कि यीशु ख्रीष्ट किधर जन्म ले रहे हैं। इन विद्याओं का एक प्राचीन केन्द्र मिश्र देश भी समझा जाता आया है, जहां के लिए प्रसिद्ध है कि यहीं से उनका प्रवेश पीछे ग्रीस देश में हुआ था। ग्रीस देश के लोगों ने मिश्र देश के ज्ञान देवता थाट (Thot) को अपने यहां 'हर्मिज' (Hermes) के रूप में स्वीकार कर लिया और उसे जादू विद्याओं का संरक्षक भी बना लिया। उसी हर्मिज के नाम से संबद्ध कोई 'मरकत शिलाखंड' (Emerald Tablet) मिला है जिस पर इन विद्याओं का सारतत्त्व लिखा पाया जाता है। उसके लेख के अनुसार "विश्व सत्ता की एकता तथा सारे जागतिक पदार्थों में लक्षित होने वाली संगति की एकता ये दोनों ठीक एक समान हैं और ये क्रमशः उत्तरोत्तर चढ़ाव एवं उतार के रूपों में पायी जाती है। इस प्रकार ये दोनों किसी एक ही उद्देश्य की पूर्ति का साधन स्वरूप भी ठहरायी जा सकती हैं।"[3]

हर्मिज के नाम से प्रसिद्ध वह लेख, चाहे उसका न होकर किसी अन्य व्यक्ति की ही कृति क्यों न हो, उसका अपना एक पृथक् महत्व है। हम आगे चल कर देखेंगे कि वह किसी न किसी रूप में, रहस्यवाद के मूल सिद्धांतों की ओर भी कुछ न कुछ संकेत करता प्रतीत होता है। अभी, इस संबंध

---

१. 'श्री गुह्य समाज तन्त्रम्' (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज नं० ५३), पृ० ११६।

२. Joseph Gaer : 'How the Great Religions began' (New York, 1954), pp. 122-3.

३. Eliphas Levi : 'The History of Magic' (New York, 1948), p. 79.

में, हमें केवल इतना ही कहना है कि मैजिक वा जादू विद्या वाले उधर के लोग उन दिनों किसी अपूर्व सत्ता में भी विश्वास करते थे और उसके प्रति अपनी आस्था के अनुसार, उनकी एक ऐसी धारणा बन गई थी कि वह अकेली ही सारे दैवी नियमों का प्रतिनिधित्व किया करती है। वे लोग समझते थे कि उसकी शक्ति की जानकारी प्राप्त कर लेने पर, उसे किसी न किसी प्रकार अपने वश में भी कर लिया जा सकता है। उस समय तदनुसार ही, उसके विभिन्न काल्पनिक कृत्यों का अनुकरण भी किया जाता था तथा तद्विषयक मंत्रों के विविध प्रयोग भी किये जाते थे। ऐसा मान लिया जाता था कि उसके द्वारा अनुप्राणित हो जाने पर, वैसे प्रत्येक सच्चे साधक का रोम-रोम तक उससे प्रभावित हो जाता है और उसमें भी अनेक अलौकिक कार्यों के कर डालने की अपूर्व क्षमता आ जाया करती है। उसके लिए मानो प्रकृति के मंदिर वाले गुप्त कपाट आपसे आप खुल जाते हैं और वह उसके गुह्यतम विषयों को भी प्रत्यक्ष कर लिया करता है। परंतु ये यूरोप के जादूगर, वैसी सत्ता के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास रखते हुए भी, उसे Grand Arcamun अर्थात् 'महान् रहस्य' का नाम देना ही अधिक पसंद करते थे और उन्हें इस बात का भय रहा करता था कि उसके प्रत्यक्ष हो जाने पर, स्वर्ग एवं भूतल दोनों एक साथ उध्वस्त हो जा सकते हैं। एलिफ़ास लेवी नामक प्रसिद्ध यूरोपीय लेखक ने तो इस संबंध में यहां तक लिखा है कि इस बात का समाधान करना तक भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस किसी ने इस पहेली को सुलझाने की कोई चेष्टा की उसे विदित हो गया कि यह स्वभावतः अस्पष्ट है तथा इसे किसी प्रकार भी प्रकट करना मृत्यु के मुख में जाना कहा जा सकता है।[1]

अतएव, ऐसी गुप्त सत्ता के अनुकरण में अथवा उसे वश में लाने के लिए किये गए यत्न भी स्वभावतः गुप्त ही रखे जाते थे और उनके साधकों के मन में यह बात भलीभांति बैठ गई थी कि इसमें हमारे लिए सिद्धि की प्राप्ति करना केवल गुह्य साधनाओं पर ही निर्भर है। ऐसी गोपनीयता के महत्व को 'रसायन विद्या' के वे साधक भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं जिनके यहां अपने प्रयोगों वा युक्तियों को सदा छिपा रखने का नियम रहा है। इसी प्रकार, जैसा हमें अभी 'श्रीमद्भगवद्गीता' से उद्धृत "योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः" पंक्ति में आये हुए 'रहसि स्थितः' से अनुमान किया जा सकता है, अपनी साधनाओं की प्रक्रिया को गुप्त रखने की यह प्रवृत्ति, भारतीय योग-साधना का अभ्यास करने वाले योगियों तक में भी, पायी जाती आई है। यहां पर इस संबंध में, यहां तक भी कहा गया मिलता है कि मंत्रादि के प्रयोग एवं यौगिक साधनाओं में हमें पूरी सफलता केवल उसी दशा में मिल सकती है जब हम उन्हें गुप्त बनाये रखने का भी यत्न करें। ऐसा जिस किसी भी कारण क्यों न समझा जाता रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि इस ओर यहां पर बराबर ध्यान भी दिया जाता आया है। गो० तुलसीदास रचित 'मानस' में जहां, उसके 'प्रथम सोपान' के अंतर्गत, कपटी मुनि का प्रसंग आता है, वहां उसके मुख से राजा प्रतापभानु के प्रति यह बात स्पष्ट शब्दों में कहलायी गई है "जोग जुगुति जप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ"[2] और वह भी कदाचित् यहां की किसी प्रचलित परंपरा की ओर ही संकेत करती है। संभव है कि यहां पर ऐसे नियम का पालन

---

१. The History of Magic, p. 127.

२. 'रामचरितमानस' (१-१६८)।

अधिकतर, किसी विद्या के लिए उपयुक्त अधिकारी के अभाव की दशा में ही किया जाता रहा हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि साधनाओं की गोपनीयता को, कदाचित् यहां पर भी कभी कम महत्व नहीं दिया जाता रहा है।

रहस्यवाद की चर्चा करते समय हमारा जादू विद्याओं के जैसे विषय को इस प्रकार सामने लाना कुछ असंगत सा लग सकता है। किंतु वास्तव में, बात ऐसी नहीं है तथा कम से कम, इस विषय के जानकार समझे जाने वाले आधुनिक लेखकों की ओर से इसके लिए कुछ तर्क भी उपस्थित किये गए हैं।[१] रहस्यवाद के विषय में अपना मत साधिकार व्यक्त करने की चेष्टा करनेवाली कुमारी अंडरहिल का कहना है, "मानव जाति के आध्यात्मिक इतिहास द्वारा प्रकट होता है कि परोक्ष सत्ता के ऊपर विचार करते समय वह उसके प्रति सदा दो विभिन्न, किंतु मौलिक दृष्टिकोणों को प्रश्रय देती आई है। उसके संपर्क में आने के उद्देश्य से वह इन दोनों के अनुसार, दो प्रकार की साधनाओं को अपने काम में लाती भी चली आई हैं।" लेखिका ने फिर इन दोनों को क्रमशः Way of Magic अर्थात् 'जादू का मार्ग' तथा Way of Mysticism अर्थात् 'रहस्यवाद का मार्ग' जैसे दो नाम भी दिये हैं। परंतु इसके साथ ही उसने यह भी बतला दिया है कि यद्यपि ये दोनों अपने अंतिम रूपों की दृष्टि से एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं, किंतु फिर भी इनकी सीमाओं का निरूपण करना सरल नहीं है। ये दोनों मार्ग एक ही प्रस्थान-विंदु से आरंभ होते हैं जिस कारण दोनों एक ही समान भाषा, साधनों और पद्धतियों को काम में लाकर, बहुधा किसी जिज्ञासु को भ्रम में डाल देते हैं। फलतः बहुत कुछ जिसे वास्तव में, 'जादू' कहना चाहिए उसका साधारणतः रहस्यवाद के रूप में वर्णन किया जाने लग जाता है। बात यह है कि ये दोनों विद्याएं ऐसे एक ही क्षेत्र के दो छोरों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसे मनुष्य की अतीन्द्रिय चेतना कहा जा सकता है और इन दोनों के मध्य वे सभी बड़े-बड़े धर्म आ जाते हैं जो इस रूपक के अनुसार, उस चेतना क्षेत्र में पाये जानेवाले विभिन्न पड़ावों का परिचय दे सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जादू विद्या एवं रहस्यवाद ये दोनों ही अंत में जाकर, किसी धर्म के रूप में परिणत हो जाती हैं और इनमें कोई तात्त्विक अंतर नहीं है।"[२]

कुमारी अंडरहिल ने आगे चलकर जादू विद्या एवं रहस्य विद्या की तुलना करते हुए, इन दोनों में कुछ पारस्परिक अंतर भी दिखलाने का यत्न किया है। उसने कहा है कि यद्यपि ये दोनों ही किसी असाधारण शक्ति को प्राप्त करा देने का दावा करती जान पड़ती हैं, किंतु इनके उद्देश्यों एवं साधनों में महान् अंतर पाया जाता है, जिस कारण हम इन्हें ठीक एक समान भी नहीं कह सकते। रहस्यवाद का साधक जहां अपनी संकल्पशक्ति का प्रयोग, उसे अपने भावावेग के सहयोग में लाकर, करना चाहता है और इस प्रकार, अपनी प्रज्ञा के बल पर शाश्वत सत्ता के साथ प्रेमात्मक संपर्क स्थापित करके, अपने व्यक्तित्व को विश्वात्मक चेतना में अनुप्राणित भी कर देना

---

१. यूरोप के अंतर्गत पहले भी जादू एवं विज्ञान में कोई अंतर नहीं माना जाता था और मध्ययुगीन रोजर बेकन तक ने 'जादूपरक विज्ञान' (Magical Sciences) **की चर्चा की थी—जी० बी० वेटर की पुस्तक** Magic and Religion, p. 150.

२. Evelyn Underhill : Mysticism (New York, 1955), p. 70.

चाहता है, वहां जादू विद्या के साधक का काम, अपनी संकल्प-शक्ति को बौद्धिक बल के सहयोग में लाकर उसकी सहायता से केवल किसी ज्ञानपरक शक्ति का ही निर्माण कर लेना रहा करता है। इस कारण, इसका सारा उपक्रम वैसी सत्ता के बल पर व्यक्तिगत रूपमें शक्ति-संपन्न बन जाना ही कहा जा सकता है। तदनुसार किसी रहस्यवादी साधक में जहां अपने को, वैसी सत्ता के प्रति अर्पित कर देने की उदार प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है, वहां जादू विद्या के प्रयोग अधिकतर शक्तिशाली बन, उसके द्वारा अभीष्ट लाभ करने के लिए ही किये जाते हैं। इस प्रकार दोनों साधकों की मनोवृत्तियों का अंतर स्पष्ट है। इस संबंध में यहां पर एक अन्य बात की ओर भी ध्यान दिलाया जा सकता है जिससे इन दोनों के पारस्परिक भेद पर कुछ प्रकाश पड़ता है। 'जादू' शब्द यद्यपि फ़ारसी भाषा का बतलाया जाता है, तथापि यह मूलतः संस्कृत के उस 'यातु' शब्द का एक रूपांतर मात्र जान पड़ता है जिससे 'यातुधान' शब्द बनता है और इसके बहुत से प्रयोग 'अथर्ववेद' अथवा 'ऋग्वेद' तक में भी किये गए मिलते हैं।[1] यह 'यातु' शब्द 'या प्राणे' के अनुसार, 'गतिमान होना' वा 'पहुंचना' अर्थ रखने वाली 'या' धातु का 'लोट् लकार' वाला प्रथम पुरुष का एक वचन का रूप है, जिसका शब्दार्थ 'वह जाय' अथवा 'आप जायं' जैसा हुआ करता है। इसलिए यह अनुमान करना भी कदाचित्, अनुचित नहीं कहा जायेगा कि इनका प्रयोग, उस समय संभवतः उन मंत्रों वा शक्तियों के प्रति आदेश वा अनुरोध के रूप में किया जाता होगा, जिनका लक्ष्य यथास्थल पहुंचकर अपने प्रयोक्ता का अभीष्ट कार्य पूरा करना रहना होगा तथा इनका कोई अनिष्ट वा हानिकारक प्रयोग करने वालों को ही 'यातुधान' वा 'मायावी' भी कहा जाता रहा होगा। जादूगरों के यहां ऐसा विश्वास बराबर किया जाता आया है कि यदि हम अपने यहां किसी मंत्र वा युक्ति का प्रयोग करते हैं तो उसकी ठीक प्रतिक्रिया वहां पर भी रहेगी जहां के लिए वह उद्दिष्ट रह सकता है। यह बात उन मूल सिद्धांतों पर आधारित है जो प्राकृतिक नियमों की ओर संकेत करते हैं तथा जिनमें से कुछ की चर्चा हम इसके पहले, हर्मिज वाले मरकत शिलाखंड के लेख (Emerald tablet) के प्रसंग में कर आये हैं। परंतु जहां तक रहस्यवादियों के विषय में कहा जा सकता है, वे इस प्रकार के उद्देश्यों द्वारा प्रेरित होकर, कभी अपनी साधना करते नहीं पाये जाते।

इसके सिवाय, यदि कुछ और भी सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो हमें इन दोनों प्रकार के साधकों द्वारा कल्पित अपूर्व सत्ता की वास्तविक स्थिति में भी बहुत बड़ा अंतर प्रतीत होगा और हमें पता चलेगा कि ये दोनों किस प्रकार, एक दूसरे से नितांत भिन्न मूल स्रोतों से अपने लिए प्रेरणा ग्रहण करते हैं। जिस असाधारण वा अलौकिक सत्ता में एक जादूगर अपना विश्वास रखता है वह किसी रहस्यवादी साधक वाले उस गूढ़ तत्व-जैसी नहीं ठहरायी जा सकती जिसके संपर्क में आना वा जिसे अपनाना इसका परम ध्येय रहा करता है। यदि ये दोनों, किसी प्रकार इस विषय में कुछ सहमत भी जान पड़ते हैं तो केवल इतनी ही दूर तक कि वह अपूर्व सत्ता वा गूढ़ तत्व इन दोनों की ही दृष्टि में, अगम्य वा इन्द्रियातीत है तथा इसी कारण, वह 'रहस्य' भी है। जादू विद्या

---

१. 'अथर्ववेद' (६-३२-२), (७-७०-२) आदि और 'ऋग्वेद' (१-३५-१०), (१०-८७-२, ३, ७, १०) आदि में देखिए।

का साधक उसके अस्तित्व में अपनी पूरी आस्था रखता है और वह उसकी अमित शक्ति का सहारा लेना चाहता है, जहां एक रहस्यवादी उसके परोक्ष बने रहने पर भी, उसका अपरोक्षवत् अनुभव करना चाहता है। इस प्रकार उसके साथ मिलकर परमानन्द में लीन होना भी अपना अभीष्ट माना करता हैं,[1] फलतः प्रथम की दृष्टिमें जहां वह सत्ता अधिक से अधिक एक अनुपम शक्ति के भांडार का काम देती है और वह वैसे साधकों के लिए प्रत्यक्षतः साधन स्वरूप बन जाती है, वहां द्वितीय की दृष्टि उसे अपने सर्वस्व अथवा परम अभीष्ट के रूप में स्वीकार करती है। इस कारण वह इसका चरम साध्य तक भी बन जाया करती है। इसी बात को यदि हम चाहें तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ग्रीस देशवालों के ज्ञान देवता से संबद्ध पूर्वोक्त 'मरकत शिलाखंड' (Emerald tablet) वाले लेख के अनुसार, यदि उस एकमात्र सत्ता का प्रभाव सर्वत्र लक्षित होता है और वह वस्तुतः उत्तरोत्तर चढ़ाव की चरम सीमा पर पायी जा सकती है और जागतिक पदार्थ उसकी दूसरी ओर उत्तरोत्तर उतार के अन्य छोर पर अवस्थित है तो उस दशा में, वैसी सत्ता का हमसे कहीं अन्यत्र विद्यमान रहना भी समझा जा सकता है जो किसी रहस्यवादी की दृष्टि से कभी अभिप्रेत नहीं कहला सकता। रहस्य विद्या के अनुसार उस गूढ़ सत्ता का उसके साधक से कुछ भी दूर वा पृथक् रहना कभी अनुमान तक नहीं किया जा सकता, प्रत्युत ऐसी दशा की कल्पना तक इसे असह्य हो जाती है।

रहस्यवाद के विषय की इसे एक विलक्षणता ही माननी चाहिए कि इसकी चर्चा करने वाले लेखकों को इसकी व्याख्या करते समय अथवा इसका कोई साधारण परिचयात्मक उल्लेख करते समय भी, इसे प्रायः किसी अन्य विद्या वा मत से अभिन्न मान लेने की प्रवृत्ति हो जाया करती है। तदनुसार जादू विद्या एवं रहस्य विद्या को मूलतः एक और अभिन्न स्वीकार करने की बात हमारे सामने किसी अपवाद के रूप में नहीं लायी जाती। इसके समानांतर में कतिपय अन्य ऐसी धारणाएं भी प्रस्तुत की जाती हैं, जिनमें से एकाध और का भी यहां प्रसंग ला देना वर्ण्य वस्तु के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए बहुत से लेखक इस बात में सहमत जान पड़ते हैं कि रहस्यवाद को हम किसी धर्म वा संप्रदाय विशेष से भिन्न नहीं ठहरा सकते। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी धर्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति और आध्यात्मिक जीवन रहा करता है, ठीक उसी प्रकार हमें वह रहस्यवाद का भी जान पड़ता है। इसके सिवाय कुछ ऐसे लोग अपने इस मत का समर्थन उन विशिष्ट तर्कों द्वारा भी करना चाहते हैं जिनके अनुसार मानव जाति के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वाले पंडितों ने इसे उसकी एक स्थिति विशेष के रूप में स्वीकार कर लिया है। परंतु ऐसे लोगों का मत भी हमें सर्वथा समीचीन नहीं जान पड़ता। ये लोग अपना उक्त मत प्रकट करते समय कदाचित्, यह बात भूल जाते हैं कि जिस आशय को व्यक्त करने के लिए धर्म शब्द का वे यहां प्रयोग करते हैं वह वस्तुतः धर्म का न होकर किसी 'मजहब' वा 'पंथ' के साथ संबद्ध

1. Cf. "The prayer assumes that the volitional element rests with the god, but with the operator in magic." Magic and Religion (New York 1958) by G. B. Vetter, p. 157.

कहा जा सकता है और उसे अधिकतर ईश्वरीयशास्त्र (Theology) के साथ चलना पड़ता है। इसमें विशिष्ट आचार, बाह्य पूजन-पद्धति, सांप्रदायिक व्यवस्था आदि जैसी बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है जो रहस्यवाद के लिए उतने आवश्यक नहीं। इसी प्रकार इसे वैसे धर्मों के विकास क्रम का किसी कड़ी के रूप में मान लेना भी आपसे आप निराधार बन जाता है।

परंतु इस मत के समर्थक, केवल इतने समाधान द्वारा ही संतुष्ट होते नहीं जान पड़ते। ईश्वरीय शास्त्र (Theology) को महत्व देनेवाले एक ऐसे ईसाई लेखक ने रहस्यवाद को एक सच्चे विज्ञान का भी पद प्रदान करते हुए बतलाया है कि ईश्वरीय शास्त्र तथा रहस्यवाद, ये दोनों एक ही समान सभी विज्ञानों के शीर्ष स्थान पर बैठने का दावा कर सकते हैं अथवा उसके ही शब्दों में "ये दोनों विद्याएं विज्ञानों की रानी कहलाने योग्य है।"[१] इसके सिवाय, जहां तक धर्मों के अंतर्गत पाये जाने वाले विविध कर्मकांडों के रहस्यवाद के साथ गिने जाने का प्रश्न है, ऐसे लेखकों ने कभी-कभी उनकी रहस्यवादात्मक व्याख्या कर डालने तक का भी यत्न किया है। उदाहरण के लिए डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने 'हिंदू रहस्यवाद' पर अपना भाषण देते समय 'रहस्यवाद' का एक वर्गीकरण, 'याज्ञिक रहस्यवाद' (Sacrificial Mysticism) अथवा 'कर्मकांडात्मक रहस्यवाद' (Ritualistic Mysticism) के रूप में भी किया है और ऐसा करते समय, उन्होंने बतलाया है कि इसका आधार यज्ञकर्मों की तथा उनके विधायक वेदों की भी गूढ़ रहस्यमयी शक्ति में निहित है।[२] इसी प्रकार डॉ० विंटरनित्स ने भी एक स्थल पर यज्ञों के रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक महत्व की ओर संकेत किया है।[३] परंतु ऐसी मान्यताओं को भी अधिक समर्थन नहीं मिल सकता। यज्ञादि कर्मों की विधियों में जिन मंत्रों के प्रयोग हुआ करते हैं, उनका उद्देश्य प्रधानतः सकाम हुआ करता है—चाहे वह स्वर्ग की प्राप्ति, अमरत्व की उपलब्धि, जनकल्याण अथवा विश्वशांतिपरक ही क्यों न हो। वे सर्वथा बाह्य कृत्यों को ही साधन बनाते हैं जिनका रहस्यवाद में कोई स्थान नहीं है और जिन्हें गौण मान कर ही आध्यात्मिक जीवन की स्थिति को प्राप्त करना उसका परम ध्येय भी ठहराया जा सकता है। रहस्यवाद किसी धार्मिक विश्वास के प्रति एकांत-निष्ठा प्रदर्शित करना आवश्यक नहीं मानता और न उसे किसी इष्ट की सिद्धि के लिए कोई अनुष्ठान करना ही कभी अभिप्रेत रहा है। उसकी साधनाएं प्रधानतः अंतरंग हुआ करती हैं और उसकी सिद्धि कभी किसी सुखवाद की दृष्टि द्वारा मर्यादित भी नहीं कहला सकती।

ईश्वरीयशास्त्र (Theology) तथा उस पर आधारित धर्म के सुखवादात्मक विश्वासों के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए एक पश्चिमी लेखक ने उन्हें अत्यंत साधारण श्रेणी का

---

१. M. G. R. Albert Farges : 'Mystical Phenomena' (London 1926) p. 3.

२. Dr. S. N. Dasgupta : 'Hindu Mysticism' (Chicago, 1927) pp. 3-30.

३. M. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. 1. (Calcutta 1927) p. 233.

ठहराया है और कहा है कि "यदि सच कहें तो इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है, जैसे वास्तव में कभी किसी ईश्वर का ज्ञान नहीं हुआ करता और न वह किसी की समझ में ही आता है। उसका तो केवल प्रयोग मात्र कर लिया जाता है और उसे कभी अपने मित्र वा सहायक के रूप में, कभी किसी नैतिक आधार की दृष्टि से, तथा कभी-कभी केवल उसे अपना प्रेमपात्र बनाकर ही अपने काम में ला दिया जाता है।"[1] इन जैसी धार्मिक प्रवृत्तियों में इस लेखक को किसी काल्पनिक महत्वाकांक्षा की भी गंध आती है और वह कहता है कि इस प्रकार देखने पर यहां परस्पर विरोध भी स्पष्ट है। उसके अनुसार एक ओर जहां वैसी किसी सत्ता के प्रति अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए याचना की जाती है अथवा उसके प्रति अपना सांसारिक संबंध तक प्रदर्शित किया जाता है, वहां दूसरी ओर किसी नैतिक पूर्णता का अपने लिए कोई उच्चादर्श भी उपस्थित किया जाता है।[2] इसी प्रकार वैसे धार्मिक विश्वासों पर आश्रित सी जान पड़ने वाली कुछ रहस्यवादात्मक अनुभूतियों को इन आलोचकों ने उन विकृत मानसिक दशाओं तक से अभिन्न ठहराने का यत्न किया है जो किसी मानसिक रोग के कारण अथवा औषधि के द्वारा, प्रायः उत्पन्न हो जाया करती हैं। उन्माद वा हिस्टीरिया जैसे रोगों की स्थिति में अथवा मादक वस्तुओं के सेवन की दशा में, मनोविकार स्वभावतः दीख पड़ने लग जाते हैं और उनके द्वारा प्रभावित व्यक्ति अनेक वैसी बातों को भी प्रकट करता पाया जाता है जैसी किसी रहस्यवादी साधक के अनुभवों में दीख पड़ती हैं। इन लेखकों के अनुसार इस प्रकार का औषधिक वा औपचारिक प्रभाव किसी व्यक्ति को अपनी उन चिंताओं से सर्वथा मुक्त कर दिया करता है जो उसे अपने सांसारिक प्रपंचों के कारण हो गई रहा करती हैं। इसलिए वह ऐसी अनुभूति को प्रायः किसी आध्यात्मिक सत्ता की देन तक स्वीकार कर लिया करता है। फलतः रहस्यवादात्मक अनुभव भी कोई ऐसी विकृत मनःस्थिति मात्र ही कहा जा सकता है जो शरीर एवं चेतना के पारस्परिक संबंध में कोई विकार आ जाने के कारण, उसे मानसिक रूप में प्राप्त हो जाया करती है और जिसे भ्रांतिवश कोई धार्मिक महत्व भी प्रदान कर दिया जाता है।

परंतु, यदि ऐसे मतों का कुछ विश्लेषण कर लिया जाय तो ये तथ्य के निकट पहुंचते नहीं जान पड़ते। इसमें संदेह नहीं कि कोरी सांसारिक दृष्टि के अनुसार देखने पर, प्रेम और नैतिक पूर्णता की महत्वाकांक्षा दोनों एक साथ चल नहीं सकते। इस स्वार्थ एवं परमार्थ का पारस्परिक विरोध ही एक ऐसी बड़ी बाधा उपस्थित कर सकता है जिसका किसी साधारण ढंग से निराकरण करना सरल नहीं है। सांसारिक प्रेम की दशा में, जहां अपने प्रेमपात्र को अपना कर उसके सहवास द्वारा किसी सुखोपभोग के प्राप्त करने की अभिलाषा देखी जाती है और वह निरी व्यक्तिगत ही कहला सकती है, वहां नैतिक पूर्णता की महत्वाकांक्षा किसी ऐसी संकीर्ण मनोवृत्ति द्वारा अनुप्राणित नहीं रहा करती और वह स्वभावतः समाजगत भी हुआ करती है। इसके

१. Prof. Leuba quoted in the Varieties of Religious Experience by William James (London 1929) pp. 506-7.

२. Prof. Leuba referred to in 'The Meaning of God in Human Experience' by W. E. Hocking (New Haven, 1912) pp. 574-78.

विपरीत, यदि हम इस प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार करें कि एक साधारण प्रेम उस आध्यात्मिक प्रेम से सर्वथा भिन्न हुआ करता है जो किसी व्यक्तिविशेष के प्रति न होकर एक अपूर्व एवं अनुपम विश्वात्मक सत्ता के प्रति अनुभव में आया करता है तथा जिसकी दशा में अपने लिए प्रेम-पात्र को आत्मसात् कर लेने की अपेक्षा उसके प्रति अपने को पूर्णतः समर्पित कर देने की मनोभावना काम करती है और वैसी दशा में नैतिक पूर्णता की महत्वाकांक्षा का उद्देश्य भी केवल समाजगत न रहकर विश्वगत हो जाया करता है तो उक्त प्रकार दीख पड़ने वाले विरोध का स्वतः निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार जहां तक औषधिक वा औपचारिक मनोदशाओं की कोटि में रहस्यानुभूति के लाने का प्रश्न है हमें यहां पर भी ऐसे मतों का मुख्य शिलाधार केवल बाहरी सादृश्यों में ही निहित जान पड़ता है जिस कारण हम दोनों को तत्वतः एक समान कभी नहीं ठहरा सकते। इसके सिवाय हमें यह भी पता चलता है कि जिस अलौकिक सौंदर्य, आध्यात्मिक आनंद अथवा उदारवृत्ति का बोध हमें रहस्यवादात्मक अनुभूति की दशा में होता है उसकी औषधिक वा औपचारिक मनोदशा की स्थिति में कभी कोई संभावना भी नहीं हो सकती। इन दोनों के स्तर नितांत भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण प्रथम की दशा में हमें जहां उसके द्वारा प्रतिफलित आचारगत उदात्तता भी दीख पड़ती है, वहां दूसरी भी स्थिति में केवल कतिपय क्षणिक भौतिक मनोविकार उत्पन्न होकर ही रह जाते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रहस्यात्मक अनुभूति की दशा में भी, हमें प्रायः किसी प्रेमोन्माद के भाव का आ जाना असंभव नहीं है, किंतु ऐसी दशा भी किसी ऐसे साधक को आत्मविभोर की ही स्थिति तक ला दिया करती है, उसमें साधारणतः कोई विकृतावस्था भी नहीं आ पाती।

इसी प्रकार, यदि हम कतिपय अन्य ऐसे मतों पर विचार करें तो वे भी हमें सामान्यतः बहुत कुछ भ्रांतिपूर्ण और निःसार तक ही दीख पड़ेंगे। किंतु इसके साथ हमें वैसे प्रसंगों के ब्याज से रहस्यवाद का एक सामान्य परिचय भी मिल जाता जान पड़ेगा और जैसा हम अभी देख आये हैं, हम उसके साध्य, साधना तथा रहस्यात्मक अनुभूति आदि के विषय में न्यूनाधिक संकेत भी पा लेंगे। इन जैसी बातों का कुछ और भी अधिक स्पष्टीकरण, उन विद्याओं वा शास्त्रों के साथ इसके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भी किया जा सकता है जो इसके क्षेत्र से किसी न किसी प्रकार संबद्ध कही जाती हैं तथा जिनमें से किसी न किसी की कोटि में इसे लाने के यत्न भी किये गए हैं। किंतु ऐसा करने के पहले, क़दाचित् यह और भी उचित होगा कि हम रहस्यवाद की उन कतिपय प्रमुख परिभाषाओं की भी एक साधारण परीक्षा कर लें, जो कुछ विद्वानों द्वारा आज तक प्रस्तुत की गई हैं तथा जिनके आधार पर कभी-कभी इसका पूर्ण परिचय दे डालने तक की चेष्टा की जाती है। ऐसी परिभाषाओं की संख्या बहुत बड़ी है और उन सभी को सामने लाकर उपस्थित कर देना हमारे लिए यहां पर संभव भी नहीं है। हमें तो ऐसा लगता है कि जिन-जिन लोगों ने इसे जिस रूप में देखा है उसके अनुसार उन्होंने इसका एक चित्र उपस्थित कर देने की चेष्टा की है और तदनुसार हमें यहां पर एक विचित्र मतभेद का भी सामना करना पड़ सकता है। परंतु जैसा हमने अभी, इसकी व्याख्या करनेवालों के मतों पर विचार करते समय भी देखा है, इनकी उपयुक्त समीक्षा कर लेने पर हमें इसके वास्तविक स्वरूप के निर्धारण में बहुत बड़ी सहायता भी मिल सकती है। हम इस प्रकार इसकी उन [illegible] विशेषताओं से भी कुछ अवगत हो सकते हैं जिनके कारण

हमने इसके विषय को विलक्षण कर डाला था। इन परिभाषाओं का एक साधारण सा वर्गीकरण कर लेने पर भी, हमें विदित होगा कि इनमें से कुछ को हम केवल किसी न किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित कह सकते हैं। कुछ अन्य को इसे किसी न किसी साधनापरक दृष्टिकोण से देख-कर की गई बतला सकते हैं। इसी प्रकार हम शेष परिभाषाओं के विषय में भी यह कह सकते हैं कि वे आचार-दर्शन के अनुसार वा जीवन-पद्धति को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत की गई होंगी। हम इनमें से प्रत्येक वर्ग से चुन कर केवल थोड़े से ही उदाहरण देंगे। फिर उसके आगे उनकी व्याख्या आदि आलोचना करने का भी कुछ यत्न करेंगे।

(२) परिभाषा

मनोवैज्ञानिक आधार पर दी गई परिभाषाओं में से भी यदि किसी-किसी के अनुसार, हम रहस्यवाद को केवल एक 'चेतना' के रूप में देख सकते हैं तो अन्य की दृष्टि से इसे केवल किसी एक 'संवेदन' का ही रूप दे सकते हैं। फिर इसी प्रकार, यदि हम इसे किसी अनुभूति की कोटि में रख सकते हैं तो अन्य प्रकार से इसे हम किसी मनोवृति का भी स्थान प्रदान कर सकते हैं। इनमें से प्रथम दृष्टि का अनुसरण करते हुए आर० एल० नेटलशिप (R. L. Nettleship) नामक एक विद्वान् लेखक ने कहा है "सच्चा रहस्यवाद इस बात का बोध हो जाना है कि जो कुछ हमारे अनुभव में आता है वह वस्तुतः एक अंश अथवा केवल एक अंशमात्र है अर्थात् अपने वास्तविक रूप में, वह अपने सै किसी अधिक वस्तु का प्रतीक मात्र है,"[१] जिससे उनके रहस्यवाद विषयक दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार वाल्टर टी० स्टेस (Walter T. Stace) नामक एक अन्य दार्शनिक लेखक ने भी रहस्यात्मक अनुभूति का सारतत्व बतलाते हुए, उसे किसी ऐसी चेतना की ही संज्ञा दे डाली है जिसमें उनके अनुसार किसी 'अनिर्दिष्ट एकता' का बोध हो जाया करता है[२] और इस बात को इन्होंने अनेक प्रकार से प्रमाणित भी किया है। इन्होंने इस संबंध में, ऐसी चेतना का परिचय देते हुए विलियम जेम्स (William James) नामक प्रसिद्ध मनोविज्ञान विशेषज्ञ का भी मत उद्धृत किया है और कहा है कि यह रहस्यवादात्मक चेतना एक नितांत नवीन प्रकार की चेतना है और हम इसे साधारण बौद्धिक चेतना से कुछ भिन्न ठहरा सकते हैं। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के यत्न में, इन्होंने इसे एक (Sensory-intellectual consciousness) जैसा विचित्र नाम भी दे डाला है जिसका यदि कोई हिंदी रूपांतर किया जा सके तो वह कोई 'मस्तिष्क-संबंधी बौद्धिक चेतना' कहला सकता है।[३]

---

१. "True mysticism is the consciousness that every thing that we experience is an element and only an element in fact i. e., that in being what it is, it is symbolic of something more." Quoted in 'Mysticism in Religion' by Dr. W. R. Inge (New York) p. 25.

२. Walter T. Stace : 'The Teachings of the Mystics' (New York, 1960) p. 238.

३. Do, p. 12,

वाल्टर स्टेस ने इस प्रकार, नेटलशिप द्वारा दी गई परिभाषा को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक रूप में समझा देने की चेष्टा भी की है। उनके द्वारा किये गए संकेतों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने वास्तव में इसे इसके उस मौलिक रूप में देखने का यत्न भी किया है जो विशुद्ध ज्ञानपरक और प्रारंभिक है तथा इस कारण, उनकी यह परिभाषा अत्यंत गूढ़ और दार्शनिक बन जाती है। परंतु इसके फलस्वरूप हमें रहस्यवादात्मक अनुभूति के केवल एक अधूरे चित्र का ही प्रत्यक्ष दर्शन हो पाता है। इसे ज्ञान तत्व की दृष्टि से देखने का तो हमें एक अत्यंत प्रामाणिक और विश्वसनीय साधन अवश्य मिल जाता है, किंतु उसके प्रखर आलोक में इसके अन्य पक्ष बहुत कुछ मंद भी पड़ जाते हैं और उनके स्पष्ट उभर न सकने के कारण हम इसे इसके किसी मर्यादित रूप में समझ लेने की भूल भी कर सकते हैं। रहस्यवाद के अंतर्गत कोरा ज्ञानतत्व ही नहीं है, प्रत्युत उसमें संवेदनातत्व की मात्रा का भी अत्यंत प्रचुर होना स्वयंसिद्ध है। इस बात को यहां पर स्पष्ट स्वीकार न करके लेखक ने कदाचित् अपनी परिभाषा को एकांगी जैसी बना दिया है, जिस कारण यह महत्वपूर्ण होने पर भी सर्वथा स्वीकार योग्य नहीं कहला सकती।

लगभग इसी प्रकार की हमारी धारणा उन परिभाषाओं पर विचार करते समय भी होती है जो रहस्यवाद को विशुद्ध 'चेतना' के रूप में न ठहरा कर उसे कोई 'संवेदन' मात्र के चित्र में ही अंकित कर देना चाहती हैं और जो इस प्रकार, एक अन्य छोर पर पहुंचती सी भी जान पड़ने लगती है। उदाहरण के लिए हम यहां पर भी दो लेखकों की ऐसी परिभाषाएं देना चाहते हैं जिनसे हमारे कथन की पुष्टि होगी। इन लेखकों में से एक फ्लेइडरर (Pfleiderer) नाम के हैं जिनकी ऐसी परिभाषा को डॉ० इंज ने अपनी पुस्तक 'मिस्टिसिज़म इन रेलिजन' में उद्धृत किया है और जिसका हिंदी रूपांतर इस प्रकार दिया जा सकता है—"रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता का स्पष्ट संवेदन है, जिस कारण इसे हम इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते कि यह अपने मूलरूप में केवल धर्म-विषयक एक संवेदनमात्र है। परंतु जिस विशिष्ट बात के कारण यह धर्म के अंतर्गत किसी प्रवृत्ति विशेष का स्थान ग्रहण करता है वह ईश्वर में, उसके ईश्वरत्व के ही अनुसार अपने जीवन का पूर्ण सान्निध्य निर्दिष्ट करना भी है। इस प्रकार, सारे ऐसे साधनों एवं मार्गों से पृथक् रहकर जो हमारे लिए प्रायः माध्यमों का काम कर दिया करते हैं, यह एक पवित्र संवेदन के जीवन में प्रवेश भी कर जाना है तथा वहां पर उसके एकांत अंतर्वर्तित्व में अपना कोई चिरस्थायी निवास-स्थान बना लेना है,"[१] जिसके बहुत कुछ जटिल जान पड़ने पर भी हम उसमें निहित भाव को भलीभांति समझ ले सकते हैं। इसी प्रकार

---

१. "Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God; it is nothing, therefore, but the fundamental feeling of religion, the religious life at its very heart and centre. But what makes the mystical special tendency inside religion is the endeavour to fix the immediateness of the life in God as such, as abstracted from all intervening helps and channels whatever, and find a permanent abode in the abstract inwardness

एक अन्य लेखक अर्थात् प्रसिद्ध बट्रांड रसेल (Bertrand Russel) ने भी रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए एक स्थल पर कहा है—"रहस्यवाद तत्वतः 'संवेदन' की उस तीव्रता और गंभीरता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो अपनी विश्वपरक भावना के प्रति अनुभव की जाती है,"[१] जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने भी यहां पर, संभवतः फ्लेइडरर के ही मत की पुष्टि उनके समान धार्मिक भावना के साथ न रहकर और अपनी बात को अधिक विस्तार न देकर विशुद्ध वैज्ञानिक वा दार्शनिक दृष्टि से तथा केवल थोड़े से ही शब्दों द्वारा कर दी है।

फ्लेइडरर की परिभाषाओं में एक वैसे 'संवेदन' की चर्चा की गई है जो किसी ईश्वर के संबंध में अनुभूत होता है, जहां बट्रांड रसेल ने भी उसके लिए किसी ऐसी सत्ता की ओर संकेत किया है जो उसके प्रसंग में विश्व का नाम आ जाने पर आपसे आप समझ में आ जाती है। इसी प्रकार प्रथम लेखकने जहां ईश्वर के किसी अव्यवहित सान्निध्य की कल्पना की है, वहां रसेल ने उसी बात को केवल 'आस्था' शब्द के द्वारा प्रकट कर दिया है और इस प्रकार, अपने कथन को अधिक मौलिक तथा सारगर्भित भी बना दिया है। इसके सिवाय, इस दूसरे लेखक का वैसे 'संवेदन' को अत्यंत तीव्र और गंभीर बतलाना भी, यहां पर विशेषतः विचारणीय है। परंतु, जैसा हमने इसके पहले रहस्यवाद को किसी विशुद्ध 'चेतना' का पर्याय-मात्र मान लेने वाले लेखकों के संबंध में बतलाया है, ये 'संवेदन' को महत्व प्रदान करने वाले भी उसके दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं कहला सकते हैं। इनके लिए भी कहा जा सकता है कि इन्होंने भी कदाचित् एक मनोवैज्ञानिक तत्व के रूप में स्वीकार कर लिया है और उसे 'चेतना' की जगह 'संवेदना' ठहरा कर ही संतोष कर लिया है। वास्तव में ये दोनों प्रकार के लेखक रहस्यवाद की दशा में अनुभूत होने वाली किसी मनोदशा का मूल अनुसंधान करने में ही उलझ गए प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार कुछ लेखक रहस्यवाद की चर्चा करते समय इसे किसी ऐसी अनुभूति का ही रूप देना चाहते हैं जो विशेष प्रकार की हुआ करती है। किसी साधारण सी अनुभूति की दशा में हम उसे न्यूनाधिक प्रकट कर दिया करते हैं, किंतु रहस्यात्मक अनुभूति का अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया जाना हमारे लिए न केवल कठिन, अपितु बहुधा असंभव तक सा लगने लगता है जिसका कारण उसके स्वरूप में ही निहित है। विलिमय जेम्स (William James) ने अपने Varities of Religious Experience अथवा धार्मिक अनुभूति के भेद वाले भाषणों में रहस्यवाद का वर्णन करते हुए, इसकी उस विशेषता पर बहुत बल दिया है और यद्यपि उन्होंने इसकी कोई पृथक् परिभाषा भी देने की चेष्टा नहीं की है, तथापि उनके दिये हुए संकेतों के आधार पर, इसकी एक साधारण सी धारणा बना ली जा सकती है। उनके अनुसार "रहस्यवाद उस मनोदशा की ओर इंगित करता

---

of a life of pious feeling. Quoted at p. 25 of Mysticism in Religion by *Dr. W. R. Inge.*

१ *"Mysticism is, in essence, little more than a certain intensity and depth of feeling in regard to what is believed about the Universe."* *Mysti-*cism and Logic (London 1949) p. 3.

है जिसमें अनुभूति का अव्यवहित बन जाना तज्जन्य आनंदातिरेक को किसी दूसरे के प्रति संप्रेषित नहीं करने देता" और इस बात को समझाते हुए उन्होंने एक स्थल पर यह भी कहा है कि "रहस्यात्मक अनुभूति का सर्वाधिक विशुद्ध रूप हमें वह जान पड़ता है जिसमें इस प्रकार के कथन का महत्व सूचित होने लग जाय कि "अरे, मैंने तो इस बात को अपने जीवन भर कहते सुना था, किंतु आजतक इसके पूरे अभिप्राय को कभी समझ नहीं पाया था" जिससे इस प्रकार का अनुभव उसके हृदय में बैठ गया हुआ सा भी प्रतीत होने लग जाय। "अपने हर्षातिरेक की असंप्रेषणीयता ही रहस्यवाद वाली सारी दशाओं की एकमात्र व्याख्या ठहरायी जा सकती है।" इस प्रकार का हर्षातिरेक उस अनुभति में प्रकट होता है जिसमें न केवल हम किसी निरपेक्ष सत्ता के साथ एकरूप हो जाते हैं, प्रत्युत वैसी एकरूपता का हमें आभास भी हो जाया करता है।[१] इसी प्रकार एक अन्य लेखक अर्थात् लामा अनागरिक गोविंद भी रहस्यवाद को किसी अनुभूति के ही रूप में देखना चाहते हैं। इनके अनुसार भी (रहस्यवाद) असीम तथा जो कुछ भी अस्तित्व में है उस समग्र की विश्वात्मक एकता की प्रातिभ अनुभूति है और इसके अंतर्गत सारी चेतना (अथवा यदि कहना चाहें तो) सारा जीवन तत्व तक आ जाता है"[२] जो दूसरे शब्दों में विलियम जेम्स की ही बातों का समर्थन करता जान पड़ता है। विलियम जेम्स ने जहां, ऐसी अनुभूति के सर्वथा प्रत्यक्ष और अव्यवहित होने के कारण, उससे प्रकाशन की असंप्रेषणीयता तथा ऐसी अनुभूति में आनेवाली निरपेक्ष एवं व्यक्तिगत चेतना की एकता द्वारा उत्पन्न हर्षातिरेक की भी चर्चा कर दी है, वहां लामा गोविंद वैसे अनुभव को केवल प्रातिभअनुभूति (Intuitive Experience) की संज्ञा मात्र देकर ही रह जाते हैं उसके किसी प्रभाव का वर्णन भी नहीं करते।

परंतु रहस्यवाद को केवल किसी अनुभूति मात्र के रूप में स्वीकार कर लेना भी हमें उपयुक्त नहीं जान पड़ता। वैसा कथन करने से यह अवश्य समझ में आ जाता है कि रहस्यवाद हमारी किसी आंतरिक दशा का परिचय देता है और वह परिचय कुछ विचित्र भी हुआ करता है, वैसी अनुभूति की दशा में हमारा व्यक्तित्व किसी सीमारहित सत्ता के साथ एकाकार हो जाता है और इसके कारण, हमें विशेष आनंद भी होने लगता है। परंतु क्या हमारे मानव जीवन के साथ इसकी कोई सार्थकता भी प्रमाणित होती है अथवा इसका कोई स्थायी महत्व भी है? जैसी कोई बात इससे सूचित नहीं होती। इसके सिवाय हमें इसके द्वारा यह भी नहीं पता चलता कि हम ऐसे अनुभव को किसी प्रासंगिक मनोदशा के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं वा नहीं। विलियम जेम्स ने इसके विषय में यहां तक भी कह डाला है कि ऐसी दशा की एक विशेषता इसकी क्षणिकता वा

---

१. William James : 'The Varieties of Religious Experience' a study in Human Nature (Longmans 1929) pp. 379-429.

२. Lama Anagarika Govind : Foundations of Tibetan Mysticism (p. 77)—"The intuitive experience of the infinity and the all-embracing oneness of all that is : of all consciousness of all life or however we may call it." (Rider Company London 1959). 'Varieties of Religious Experience p. 38.

अस्थिरता (Transiency में) भी पायी जाती है[1], जिसका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि ऐसी अनुभूति का कोई व्यापक प्रभाव भी नहीं पड़ता होगा। अतएव हम अधिक से अधिक इसे केवल उन धार्मिक पुरुषों के साधनापरक जीवन में ही कहीं उदाहृत पा सकते हैं जो अपने नियम विशेष के अनुसार यापन किया जाता है और जिसे इसी कारण, किसी वातावरण वा स्थिति विशेष के अनुसार केवल न्यूनाधिक रूप में सीमित वा मर्यादित भी कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह कि रहस्यवाद को इस प्रकार केवल एक 'अनुभूति' मान लेने पर भी, हमें वस्तुतः इसका एक मनोवैज्ञानिक परिचय-मात्र ही मिलकर रह जाता है और यह केवल इसकी उस दशा की ही ओर तक संकेत भी करता है जो सर्वथा आभ्यंतरिक मात्र कहला सकती है। इसके सिवाय इसका यदि कोई बाह्य प्रभाव भी लक्षित होता है तो वह किसी हर्षातिरेक के रूप में जान पड़ता है और वह क्षणस्थायी भी समझा जा सकता है।

इसलिए रहस्यवाद की परिभाषा देते समय, कुछ अन्य लेखकों ने इसके अनुभूतिपरक पक्ष को गौणता प्रदान करके, इसकी उस विशेषता की ओर अधिक ध्यान दिलाने का यत्न किया है, जिसके कारण इसका रूप किसी 'मनोवृत्ति' का बन जाता है। उदाहरण के लिए ई० केयर्ड (E. Caird) नामक एक लेखक के अनुसार "रहस्यवाद अपने चित्त की वह मनोवृत्ति विशेष है जिसके बन जाने पर अन्य सारे संबंध ईश्वर के प्रति आत्मा के संबंध के अंतर्गत जाकर विलीन हो जाते हैं"[2] जिसमें वस्तुतः ऐसी किसी मनोदशा का केवल परिणाम प्रकट होता है। इसलिए डॉ० रानडे ने इसी बात को इस प्रकार बतलाने की चेष्टा की है, जैसे, "रहस्यवाद उस मनोवृत्ति को सूचित करता है जिसमें ईश्वर का स्पष्ट, अव्यवहित एवं प्रत्यक्ष प्रातिभ ज्ञान हो जाया करता है और जिसमें उसका हमें कोई मौन आस्वादन तक होने लगता है।"[3] इससे स्पष्ट है कि ऐसी मनोवृत्ति केवल किसी ईश्वरीय संबंध को ही सूचित करके नहीं रह जाती, प्रत्युत हमें इस बात का भी पता दे देती है कि इसे प्रदर्शित करने वाला किसी ईश्वरीय सान्निध्य के आनंद का अनुभव भी किया करता है और इस प्रकार, यह परिभाषा के केयर्ड द्वारा दी गई परिभाषा से अधिक पूर्ण कहला सकती है। परंतु वैसी दशा में भी इसे, उस पहली परिभाषा की ही भांति रहस्यवाद को केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित बना देनेवाली ही कहा जा सकता है। अतएव इसके एक अन्य रूप के उदाहरण में हम सी० एफ० ई० स्पर्जन (C. F. E. Spurgeon) नामक लेखक या लेखिका की दी हुई वह परिभाषा भी उद्धृत कर सकते हैं जिसके अनुसार "वास्तव में रहस्यवाद कोई धार्मिक मत न होकर एक स्वभाव विशेष है और कोई दार्शनिक पद्धति न होकर एक वातावरण विशेष है"[4] जिसके द्वारा

---

१. Varieties of Religious Experience, P. 381.

२. "It (mysticism) is that attitude of the mind in which all other relations are swallowed in the relations of the soul to God." Quoted in 'Mysticism in Religion' by Dr. W. R. Inge, p. 25.

३. "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, firsthand, intuitive apprehension of God." Mysticism in Maharastra (Poona 1933) p. 1 (Preface)

४. Mysticism is, in truth, a temper rather than a doctrine, an at-

हमें वैसी मनोवृत्ति की अधिक व्यापकता का भी बोध होने लगता है। 'मनोवृत्ति' शब्द से केवल किसी साधारण मनोदशा का ही आशय प्रकट किया जा सकता है, जहां 'स्वभाव' शब्द के प्रयोग द्वारा उसमें आ जाने वाले किसी चिर-स्थायित्व का भी भाव लक्षित होने लगता है। इसके सिवाय स्पर्जन की इस परिभाषा के अंतर्गत इस बात की ओर भी संकेत कर दिया गया दीख पड़ता है कि रहस्यवाद को किसी भी धार्मिक मत अथवा दार्शनिक पद्धति के स्रोतों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि यह परिभाषा भी किसी ऐसी गहरी मनोवृत्ति का ही परिचय देती है जो केवल 'स्वभाव' का रूप ग्रहण कर लेने के कारण, किंचित् भिन्न-सी लगती है और वास्तव में यह भी, तत्त्वतः एक मनोदशा ही है।

परंतु, यदि हम इस मनोवृत्ति या स्वभाव को उक्त अन्य दो-तीन मनोदशाओं को परि-प्रेक्ष्य में लाकर देखने लगते हैं और उनके साथ रहस्यवाद के प्रसंग में, इसकी तुलना करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां पर भी हमें अपना मत प्रायः पूर्ववत ही प्रकट करना पड़ेगा। हमें ऐसी परिभाषाओं के भी विषय में केवल यही कहना पड़ेगा कि ये कुछ न कुछ अधूरी हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि ये 'मनोवृत्ति' वा 'स्वभाव'-वाली परिभाषाएं भी कोरी मनोवैज्ञानिक दशाओं की ही ओर इंगित करती दीख पड़ती हैं, जिस विचार से ये उन प्रथम तीन वर्गों वाली परिभाषाओं से वस्तुतः आगे नहीं बढ़ जातीं जिनकी चर्चा हम इनके पहले कर आये हैं। 'चेतना', 'संवेदन' और 'अनुभूति' की भांति 'मनोवृत्ति' की मनोवैज्ञानिक स्थिति एवं प्रक्रिया पर भी लगभग एक ही प्रकार विचार प्रकट किया जा सकता है। यदि इनमें कोई सूक्ष्म अंतर ढूंढ़ने का यत्न किया जाय तो उस दशा में, अनेक बातें कही जा सकती हैं, किंतु उनका हमारे प्रकृत विषय 'रहस्यवाद' के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इसकी व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए हम केवल इतना ही कहेंगे कि ये परिभाषाएं हमें उसके पूरे क्षेत्र का परिचय दिलाने में असमर्थ रह जाती हैं। ये चारों ही रहस्य-वाद की दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक परिभाषा-मात्र कहला सकती हैं, जिस कारण इनमें व्यावहारिकता से अधिक शास्त्रीयता का ही अंश आया है। रहस्यवाद को विशुद्ध चेतना का रूप देने वाली परिभाषा, इसे अपनी मानसिक वृत्तियों के मूल स्रोत अथवा अंतिम सूक्ष्म ज्ञानपरक स्थिति तक ले जाकर हमसे कोरा तत्त्व-चिंतन मात्र कराने लग जाती है। उसे संवेदन ठहराकर काम चलाने की चेष्टा करनेवाली दूसरी परिभाषा में भी, हमें वस्तुतः वैसा ही दोष आ गया दीख पड़ता है, क्योंकि यहां पर भी हमारा ध्यान किसी मानसिक वृत्ति के मूल तात्विक रूप संबंधी चिंतन की ही ओर आकृष्ट हो जाया करता है। तीसरी परिभाषा उसे अनुभूति का नाम देकर हमें उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार करने का अवसर अवश्य देती है, किंतु वह भी उपयुक्त नहीं है। वह भी उसके क्षेत्र को अधिक से अधिक व्यक्तिगत सीमा तक ही ले जाकर छोड़ देती है और यहां पर भी वस्तुतः किसी आंतरिक संवेदन की ही प्रधानता बनी रह जाती है। इसका कोई व्यावहारिक रूप हमें, इनमें से चौथी परिभाषा के अंतर्गत लक्षित होता है, जहां पर इसे किसी मनोवृत्ति अथवा स्वभाव तक का वेश प्रदान कर दिया गया है और जहां पर यह केवल एक भीतरी प्रक्रियामात्र बनकर ही नहीं रह

---

mosphere rather than a system of philosophy. Quoted in Mysticism in the Bhagvad Gita by Dr. M. N. Sircar (Calcutta, 1944) p. V (Preface).

जाता। परंतु इस मनोवृत्ति को ही यथार्थतः केवल किसी निर्देशक अथवा मार्गदर्शक से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता और न इस दिशा में भी हम रहस्यवाद के किसी क्रियात्मक पक्ष की ओर समुचित ध्यान दे पाते हैं, जिसके फलस्वरूप हमें इस परिभाषा को भी अंत में एकांगी ही कहना पड़ जाता है।

अतएव कदाचित्, इन्हीं जैसे दोषों को दूर करने की चेष्टा में कुमारी अंडरहिल ने अपने रहस्यवाद-संबंधी विशेषताओं के विवेचन का उपसंहार ऐसे शब्दों में दिया है जिनके द्वारा इसका विषय केवल किसी मनोदशा की ही कोटि का नहीं रह जाता, प्रत्युत उसमें कुछ क्रियात्मकता भी लक्षित होने लगती है। उनकी ऐसी परिभाषा के अनुसार "रहस्यवाद तथ्य की खोज विषयक उस प्रणाली का एक सुनिर्दिष्ट रूप है जो उत्कृष्ट एवं पूर्ण जीवन के लिए काम में लायी जाती है और जिसे हमने अब तक मानवीय चेतना की एक सनातन विशेषता के रूप में पाया है।"[१] फिर लगभग इसी बात को हम एक अन्य ऐसे लेखक प्रिंगल पैटिसन (Pringle Pathison) द्वारा दी गई एक परिभाषा में भी इस प्रकार पाते हैं—"रहस्यवाद मानवीय चित्त द्वारा किये गए उस प्रयास के संबंध में दीख पड़ता है जो सारी वस्तुओं के ईश्वरीय सार तत्व अथवा अंतिम तथ्य को आत्मसात् करने के लिए तथा सर्वोत्कृष्ट सत्ता को प्रत्यक्ष सान्निध्य का परम सौभाग्य प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। इसमें से प्रथम अंश रहस्यवाद के दार्शनिक पक्ष का है और दूसरा उसके धार्मिक अंश या पक्ष से संबद्ध है जहां ईश्वर केवल एक बाह्य वस्तु ही न रहकर अनुभूति का भी रूप ग्रहण कर लेता है।"[२] इस प्रकार इस दूसरे लेखक की परिभाषा पहली से अधिक स्पष्ट एवं सरल भी बन गई है, किंतु इन दोनों का लक्ष्य लगभग एक ही जान पड़ता है। ये दोनों ही प्रत्यक्षतः रहस्यवाद को केवल किसी व्यक्ति की आंतरिक अनुभूति की सीमा तक पहुंचाकर उसे संकुचित ही बना रहने देना नहीं चाहतीं। ये उसे कोई क्रियात्मक रूप देकर मानवीय जीवन के किसी न किसी व्यावहारिक क्षेत्र तक भी ला देना चाहती हैं। इनकी यह विशेषता इस बात में भी लक्षित होती है कि जहां पर इनमें मनुष्य की ओर से किये जानेवाले किसी तथ्य वा आध्यात्मिक सत्ता की खोज-संबंधी दार्शनिक प्रयास की चर्चा की गई है, यहीं पर इनके अंतर्गत इस बात का प्रसंग भी छेड़ दिया गया है कि यह सारा यत्न मानवीय जीवन के किसी आदर्श की उपलब्धि के लिए भी किया जाता है। इस कारण

---

१. "Mysticism is seen to be a highly specialized form of that search for reality for heightened and completed life, which we have found to be a constant characteristic of human consciousness." Mysticism (New York 1955) p. 93.

२. "Mysticism appears in connection with the endeavour of the human mind to grasp the divine essence or the ultimate reality of things, and to enjoy the blessedness of actual communion with the highest. The first is the philosophic side of mysticism, the second its religious side. God ceases to be an object and becomes an experience." Quoted in 'Mysticism in Religion' by Dr. Inge, p. 25.

ऐसी परिभाषा देने वाले के संबंध में किसी कोरी शास्त्रीयतापरक संकीर्णता के लाने का प्रश्न उठाना भी कदाचित् उचित न होगा।

परंतु, यदि इन पर कुछ और भी गंभीरता के साथ विचार किया जाय तो हमें इनके संबंध में भी कुछ न कुछ आपत्ति करने का कारण मिल सकता है। इन परिभाषाओं का जो दार्शनिक पक्ष से संबद्ध अंश है वह किसी ऐसे प्रयास की ओर इंगित करता है जो संभवतः तर्काश्रित ही हो सकता है और जिसमें इसी प्रकार, अधिकतर तर्क-शास्त्र की उन प्रसिद्ध पद्धतियों से भी काम लेना पड़ सकता है जो हमारे साधारण जीवन के लिए उपयुक्त हैं। इनका समुचित उपयोग वैसे प्रातिभ ज्ञान में भी नहीं आ सकता जो रहस्यवाद के लिए आधारशिला का काम देता है। रहस्यवाद के अंतर्गत हमें तत्वज्ञान को बहुत बड़ा महत्त्व देना पड़ सकता है, किंतु वह केवल इसी कारण, किसी वैसे दर्शन-शास्त्र की कोटि में भी नहीं लाया जा सकता। दोनों के उद्देश्यों में तात्त्विक समानता है और इनके आदर्शों तक को भी, यदि हम चाहें तो अधिक भिन्न नहीं बतला सकते। किंतु जहां तक इनकी पद्धतियों का प्रश्न है, हमें उनके विषय में यही कहना पड़ेगा कि वे अवश्य भिन्न-भिन्न ठहरायी जा सकती हैं।

इसके सिवाय हमारा ध्यान, इस संबंध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात की ओर भी जा सकता है जिसकी ओर अलबर्ट स्वीजर (Albert Schweitzer) नामक एक लेखक ने संकेत किया है। उसका कहना है, "सारा रहस्यवाद इस धारणा को मान्यता देकर चलता है कि जीवात्मा जगत् से यथार्थतः स्वातंत्र्य की ही दशा में रहती है। रहस्यवाद इस प्रकार, जगत् की दृष्टि से प्राप्त वैसी स्वाभाविक मुक्तावस्था का संपादन, गौरवीकरण तथा प्रत्यक्षीकरण है, वह उस दशा के लिए घोर यत्न वा परिश्रम नहीं है,"[१] अर्थात् इस लेखक के अनुसार हम रहस्यवाद के अंतर्गत उन प्रयासों का समावेश नहीं कर सकते जो किसी दार्शनिक की ओर से, तत्व-ज्ञान का रहस्य जानने के उद्देश्य से किये जाते हैं, प्रत्युत इसमें अधिक से अधिक, उन साधनाओं तक ही की गणना कर सकते हैं जो स्वभावतः अथवा अपने प्रातिभ ज्ञान द्वारा उपलब्ध अनुभूतियों के दृढ़ीकरण के लिए वा उन्हें व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से किये जा सकते हैं। इस लेखक द्वारा प्रकट किये गए मत की विस्तृत व्याख्या अथवा उसकी समीक्षा करने का भी अवसर हमें आगे चलकर मिलेगा।

अभी हमें यहां पर कतिपय उन परिभाषाओं पर भी विचार कर लेना है जो रहस्यवाद को किसी मानसिक तत्व के रूप में ही परिचित न कराकर उसे हमारे लिए किसी महत्त्वपूर्ण साधन का रूप दे देना चाहती है और जो इसी कारण, पूर्ववाली परिभाषाओं से सर्वथा भिन्न भी कही जा सकती है। ऐसी परिभाषाओं में से एक डब्लू० ई० हार्किंग (W. E. Hocking) की है जिसके अनुसार भी रहस्यवाद को उसमें लक्षित होने वाले किसी मत की दृष्टि से नहीं,

---

१. "All mysticism premises the idea that the soul lives in geunuine freedom from the world. Mysticism is the realization, glorification and manifestation of a naturally given state of redemption from the world, it is not a struggling and striving to attain to that state."—Indian Thought and its Development (London, 1951) p. 77.

प्रत्युत उसके कार्य को ही ध्यान में लाकर कह सकते हैं और उसके विषय में इस प्रकार कह सकते हैं कि "रहस्यवाद ईश्वर के साथ व्यवहार करने का एक मार्ग है"[१] अर्थात् इसी को दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वह उसकी उपासना का एक भेदमात्र है। परंतु इस लेखक के अनुसार, हम रहस्यवाद की परिभाषा को किसी सीमित क्षेत्र तक ही मर्यादित रख सकते हैं और हम उसे किसी एक धार्मिक पद्धति के रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार नामक एक भारतीय लेखक ने रहस्यवाद की ऐसी परिभाषा देते हुए इस प्रकार कहा है, "रहस्यवाद सत्य एवं वास्तविक तथ्य तक पहुंचने का एक ऐसा माध्यम है जिसे निषेधात्मक रूप में, तर्कशून्य कहा जा सकता है"[२] जिससे उसका रूप दार्शनिक बन जाता है। 'ईश्वर' एवं 'सत्य' वा 'तथ्य' वस्तुतः किसी एक ही मूल सत्ता की ओर निर्देश करने वाले शब्द हैं। इन्हें प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण में अंतर है। यदि प्रथम उसे, किसी सर्वशक्तिमान और नियामक के रूप में देखता है तो दूसरा उसके विषय में ऐसा कुछ भी समझना नहीं चाहता। रहस्यवाद की ऐसी परिभाषा देनेवालों में हम डॉ० राधा कमल मुकर्जी का भी नाम ले सकते हैं जिन्होंने उसे न केवल किसी एक साधन, प्रत्युत एक विशिष्ट कला के रूप में भी स्वीकार किया है और जिन्होंने इसके साथ ही, किसी ईश्वर वा सत्य की चर्चा करना इसके लिए आवश्यक नहीं समझा है। इनके अनुसार "रहस्यवाद भीतरी समायोग विषयक वह 'कला' है जिसके द्वारा मनुष्य विश्व का उसके विभिन्न अंशों की जगह उसके अखंड रूप में बोध करता है"[३] जिससे यह परिभाषा प्रथम दो जैसी, क्रमशः धार्मिक वा दार्शनिक न रहकर सामाजिक का जैसा रूप ग्रहण कर लेती है। इसकी सहायता से हम अपने प्रकृत विषय को किसी ऐसी विद्या विशेष के रूप में भी देखने लगते हैं जिसका लक्ष्य हमारे भीतर किसी मानसिक संतुलन की स्थिति उत्पन्न कर देना रहा करता है और इसका परिणाम सारे विश्व को उसकी अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में समझ लेना भी हो जाया करता है।

अतएव, इसमें संदेह नहीं कि ऐसी परिभाषाओं में हमें किसी प्रकार की कोरी शास्त्रीयता की गंध आती नहीं जान पड़ती। इनका स्पष्ट उद्देश्य रहस्यवाद के किसी न किसी विशुद्ध व्यावहारिक पक्ष की ओर भी निर्देश करना रहा करता है। चाहे सत्य को हम किसी अलौकिक सत्ता के रूप में स्वीकार करें और उसकी प्राप्ति के लिए इसे अपने काम में लायें अथवा उसके विषय में किसी केवल परमतत्त्व मात्र की ही कल्पना करते हुए उसे अधिक से अधिक जान लेने का यत्न करें और

---

१. "Mysticism is a way of dealing with God." The Meaning of God in Human Experience." (New Haven, 1912) p. 355.

२. "Mysticism is an approach to Truth and Reality, which can be negatively indicated as nonlogical."—'Mysticism in Bhagavad Gita' (Calcutta 1944) p. 1 (Preface)

३. "Mysticism is the art of inner adjustment by which man apprehends the Universe as a whole, instead of its particular parts." 'The Theory and Art of Mysticism.' (Bombay 1960) p. XII (Preface)

उसमें इसकी सहायता लें। हमारे लिए सर्वत्र यह किसी एक आवश्यक साधन का ही काम देता है और यदि इसे हम किसी 'कला' के रूप में भी स्वीकार करते हैं तो यह एक सुव्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेता है तथा डॉ० मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत की गई उक्त तीसरी परिभाषा के अनुसार, यह संपूर्ण विश्व की मौलिक एकता वा अखंडता का भी हमें अनुभव करा सकता है। परंतु रहस्यवाद को इस प्रकार केवल किसी साधन मात्र के ही रूप में स्वीकार करके हम कदाचित् उसका यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर पाते। इस प्रकार हम इसे संभवतः कोई गौण स्थान प्रदान कर देते हैं और उन सारी बातों को ध्यान में नहीं लाते जो इसके महत्व को हमारे लिए बढ़ा दे सकती हैं। इसे केवल किसी साधन मात्र के रूप में मान लेने पर हमारे सामने उस आदर्श का भी पूरा चित्र उपस्थित नहीं हो पाता जिसकी उपलब्धि के लिए इसे उपयोग में लाना कहा जा सकता है तथा जिसे ध्यान में न रखने के कारण ऐसी परिभाषाओं में भी अपूर्णता का दोष आ जाता है। केवल इतना मात्र कह देना कि ईश्वर की प्राप्ति, परमतत्व का सम्यक् ज्ञान अथवा विश्व की अखंडता का बोध हो जाना उसका लक्ष्य है इसके परिणाम का भी कोई परिचय हमें नहीं दे पाता और न हमें यही जान पाने का कोई संकेत प्रदान करता है कि इसका हमारे जीवन वा समाज के साथ भी क्या संबंध हो सकता है तथा किस प्रकार हम इसका मूल्यांकन, उस विश्व की दृष्टि से भी कर सकते हैं जिसके नियामक सत्ता की उपलब्धि, उसके स्वरूप का ज्ञान अथवा कम से कम उस विश्व के वस्तुतः एक और अखंड होने का कोई अनुभव करना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण समझा गया है।

ऐसी परिभाषाओं में लक्षित होनेवाली उक्त कमी की पूर्ति उन कतिपय अन्य परिचयों द्वारा की जाती जान पड़ती है जिनके अनुसार रहस्यवाद, केवल एक साधारण सा साधन वा मार्ग न बना रहकर, किसी जीवन-पद्धति वा तत्परक अनुशासन के रूप में भी आ जाता है। वैसी दशा में यह हमारे लिए किसी चिंतन वा प्रतिपादन मात्र का ही विषय बनकर नहीं रह जाता, प्रत्युत इसे एक मार्ग-निर्देशक वा अनुशासन-विधायक का भी पद प्राप्त हो जाता है और हमें इसके अपने जीवन के अंतर्गत किसी ठोस प्रयोग के करने का कुछ न कुछ संकेत भी मिल जाता है। ऐसी परिभाषाओं में से हम यहां पर केवल दो को देना चाहते हैं और वे दोनों, संयोगवश, भारतीय लेखकों के ही द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। इनमें से एक स्व० वासुदेव जगन्नाथ कीर्त्तिकर की है जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्हें वेदांत-दर्शन का अच्छा ज्ञान था तथा जो उसे सदा व्यावहारिक रूप देना चाहते थे आदि। इसी प्रकार, दूसरी सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा दी गई है जिनके विषय में विशेष परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। स्व० कीर्तिकर के अनुसार "रहस्यवाद एक आचार-प्रधान 'अनुशासन' है जिसका लक्ष्य उस दशा को प्राप्त कर लेने का रहता है जिसे किसी यूरोपीय रहस्यवादी के अनुसार, 'मनुष्य का ईश्वर के साथ मिलन' अथवा (जैसा कोई भारतीय योगी कह सकता है) अपने भीतर आत्मानुभूति का उपलब्ध कर लेना या ब्रह्म अर्थात् विश्वात्मा के साथ एकता का अनुभव कर लेना कहा जाता है।....यह तत्वतः एवं मूलतः एक वैज्ञानिक 'आस्था' है और सभी प्रकार से व्यावहारिक भी है"[1] इसी प्रकार डॉ० राधाकृष्णन् भी रहस्यवाद की परिभाषा

---

१. "It (mysticism) is a moral discipline having for its object the acquisition of a condition in directing, as a European mystic puts it the

इस रूप में ही देना चाहते हैं और उसे वे मानवीय प्रकृति का एक ऐसा सतत "अभ्यास ठहराना चाहते हैं जिसका परिणाम आध्यात्मिक तत्व की उपलब्धि कर लेना कहा जा सकता है"[१] जिससे पता चलता है कि वे उसे वस्तुतः भारतीय दृष्टिकोण से देखते हैं। उनका, एक अन्य स्थल पर भी कहना है, "हिन्दूधर्म जितना अधिक एक जीवन-पद्धति है उतना उसे किसी विचारधारा का रूप नहीं दिया जा सकता। जहां विचार के क्षेत्र में, वह धर्मपूर्ण स्वातंत्र्य प्रदान करने को तैयार रहता है, वहां व्यवहार के लिए यह कोई कठोर शासन की संहिता भी निर्दिष्ट कर देता है।"[२] अतएव, ये दोनों परिभाषाएं रहस्यवाद को किसी मानसिक अथवा साधन विशेष संबंधी क्षेत्रों से निकालकर व्यवहार के क्षेत्र में ला देती हैं।

परंतु इस प्रकार कथन करने पर भी, हमें रहस्यवाद के उस मूल रूप तक पहुंचने में कुछ न कुछ कठिनाई ही जान पड़ती है। इन परिभाषाओं द्वारा हम अपने प्रकृत विषय के केवल बाह्य रूप का ही कोई चित्र उपस्थित कर पाते हैं। हम उसे केवल आचार-प्रधान बतलाकर छोड़ देते हैं जिसके कारण किसी को ऐसा भ्रम भी हो जा सकता है कि वह मानवीय जीवन के लिए निर्दिष्ट की गई कोई दैनिक नियमावली मात्र होगी। दूसरे शब्दों में यहां रहस्यवाद हमारे लिए कोई ऐसी आचार-संहिता प्रस्तुत कर देता है जो हमारे दैनिक व्यवहार के लिए आवश्यक वस्तु हो सकती है और जिसका विधिवत् अनुसरण करके हम किसी आदर्श जीवन का उपभोग कर सकते हैं। किंतु जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसे किसी ऐसे बाह्य विधान मात्र का रूप दे देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता और न इसके द्वारा हम उसके वास्तविक रूप को प्रत्यक्ष ही कर पाते हैं। पहले दी गई परिभाषाओं के आधार पर जहां रहस्यवाद-संबंधी मनोवैज्ञानिक तथ्यों तक पहुंचने की चेष्टा करते जान पड़ते हैं और इस प्रकार उसे अधिक से अधिक किसी मनोवृत्ति के ही रूप तक लाने में समर्थ हो पाते हैं, वहां हम उसे यहां प्रत्यक्ष व्यवहार तक की कोटि में ला देते हैं और इसके कारण हमें उसकी किसी वैसी आंतरिक स्थिति अथवा प्रक्रिया के विषय में भी कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। इसी प्रकार, उसे किसी साधन-विशेष के रूप में देखते हुए भी हम उसके अनेक आवश्यक लक्षणों को भलीभांति प्रकट नहीं कर पाते। इसके सिवाय, ऐसी परिभाषाओं के अनुसार भी, हम रहस्यवाद के क्षेत्र को

---

union of Man with God or (as an Indian Yogin might say) a self-realization, within oneself, of one's identity with Brahma, the Universal self. . . . Mysticism is, in essence, at foundation a scientific faith, and it is entirely practical in its character." Studies in Vedanta (Bombay 1924) pp. 150-160.

१. C. E. M. Joad **की** Counter Attack from the East **नामक पुस्तक के पृष्ठ १४९ पर उनका यह कथन** "discipline of human nature leading to a realization of spiritual" **के रूप में उद्धृत किया गया दीख पड़ता है। देखिए उसका** London, 1933. **वाला संस्करण।**

२. "Hinduism is more a way of life than a form of thought. While it gives absolute liberty in the world of thought, it enjoins a strict code of practice."—The Hindu View of Life (Allen and Unwin 1931) p. 77,

न्यूनाधिक धार्मिक वा आध्यात्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रख देना चाहते हैं, जिस कारण हमें किसी ऐसी संभावना पर भी विचार करने का कोई अवसर नहीं मिल पाता कि उसका उदाहरण कहीं अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है।

अतएव इस संबंध में, हम दो अन्य ऐसी परिभाषाएं भी दे देना चाहते हैं जो इस प्रकार की कठिनाइयों को किसी न किसी प्रकार हल करती हुई जान पड़ती हैं तथा जो इनसे कुछ अधिक स्पष्ट एवं व्यापक तक भी कहला सकती हैं। इनमें से प्रथम चॉर्ल्स ए० बेनेट (Charles A. Bennett) नामक एक पश्चिमी लेखक द्वारा प्रस्तुत की गई है और द्वितीय के पुरष्कर्ता डॉ० एस० एन० दासगुप्त नामक एक भारतीय विद्वान हैं। ये दोनों ही रहस्यवाद को, लगभग एक ही दृष्टिकोण के अनुसार देखते जान पड़ते हैं और ये दोनों उसका व्याख्यात्मक परिचय भी देते हैं। इनमें से चार्ल्स बेनेट अपनी बात को इस प्रकार कहते हैं, "रहस्यवाद का अर्थ कभी-कभी विचार-प्रधान रहस्यवाद समझा जाता है और उसे एक ऐसा दार्शनिक मत मान लिया जाता है जो परमात्म-तत्व की कोरी एकता तथा पृथक्-पृथक् जीवात्माओं और सीमित पदार्थों का उसमें विलीन हो जाना घोषित करता हो। किंतु किसी ऐसे सिद्धांत से हमारा संबंध नहीं है, हम रहस्यवाद को जीवन की एक ऐसी पद्धति के रूप में देखते हैं जिसका प्रमुख अंग ईश्वर का अव्यवहित अनुभव हो जाना कहा जा सकता है"[१] और जिसके अनुसार इसका प्रतिनिधित्व करनेवालों में उन्होंने प्लोटिनस और टेरेसा जैसे रहस्यवादियों के नाम भी लिये हैं। इसी प्रकार डॉ० दास गुप्त भी कहते हैं, "रहस्यवाद कोई बौद्धिकवाद नहीं है; यह मूलतः एक सक्रिय, रूपात्मक, रचनात्मक, उन्नायक तथा उत्कर्षप्रद सिद्धांत है।.... इसका अभिप्राय जीवन के उद्देश्यों तथा उसके प्रश्नों को, उस कहीं अधिक वास्तविक और अंतिम ढंग से, आध्यात्मिक रूप में ग्रहण कर लेना है जितना शुष्क तर्क की दष्टि से कभी संभव नहीं कहा जा सकता है।.... रहस्यवादपरक विकासोन्मुख जीवन का अर्थ, आध्यात्मिक मूल्य, अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार कल्पित सोपान द्वारा क्रमशः ऊपर चढ़ते जाना है। इस प्रकार अपने विकास की दृष्टि से यह बहुमुखी भी हुआ करता है और यह उतना ही समृद्ध होता है जितना स्वयं जीवन के लिए कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद सभी धर्मों का मूल आधार बन जाता है और यह विशेषकर उन लोगों के जीवन में उदाहृत होता दीख पड़ता है जो वास्तव में धार्मिक पुरुष होते हैं।"[२] डॉ० दास गुप्त अपने इस कथन द्वारा केवल कोई परिभाषा मात्र ही उप-

---

१. "By mysticism is sometimes meant speculative mysticism, a metaphysical doctrine which proclaims the abstract unity of the Godhead and the obliteration in it of the particularity of individual souls and finite objects. With this doctrine we are not concerned, but with mysticism as a way of life, in which the conspicuous element is the immediate experience of God." —'Philosophical Study of Mysticism' (New Haven 1923) p. 7.

२. "Mysticism is not an intellectual theory; it is fundamentally an active, formative, creative, elevating and ennobling principle of life.... Mysticism means a spiritual grasp of the aims and problems of life in a much

स्थित नहीं करते, अपितु उनका उद्देश्य यहां पर रहस्यवाद के मूल स्रोत, उसके स्वरूप तथा उसकी कार्य-पद्धति एवं आदर्श का स्पष्टीकरण भी जान पड़ता है और यह उसकी अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है तथा यह उसके आवश्यक अंगों को हमारे सामने लाकर हमें उस पर विचार करने का एक सुअवसर भी प्रदान करता है। परंतु, डॉ० दासगुप्त द्वारा दी गई इस विवेचनात्मक परिभाषा के अंतर्गत, हमें उस रहस्यात्मक भावना का भी कोई समावेश किया गया नहीं दीख पड़ता जिसके कारण हमारे इस विलक्षण विषय को 'रहस्यवाद' जैसा नाम दिया गया है तथा जिसके प्रथम अंश रूप 'रहस्य' शब्द का विवेचन हमने सबसे पहले ही कर दिया है।

रहस्यवाद का वास्तविक स्वरूप निर्धारण करने की चेष्टा में हमने न केवल 'रहस्य' शब्द के अभिप्राय को जानना चाहा था, अपितु उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करने वाले लोगों में से कुछ के कथनों के उदाहरण देकर हमने उसे कतिपय विद्याओं से तत्वतः असमान भी ठहराया था। इसी प्रकार हमने अभी, रहस्यवाद के संबंध में दी गई अनेक परिभाषाओं के भी उदाहरण प्रस्तुत करके यह समझने का यत्न किया है कि इसे लोगों ने किन-किन भिन्न दृष्टियों से देखा है तथा किस प्रकार ऐसा करते समय, इसके किसी पक्ष विशेष पर ही अधिक ध्यान देकर उन्होंने अपनी परिभाषाओं को बहुत कुछ एकांगी अथवा अधूरी भी बना डाला है। इसके सिवाय हमने अभी यह भी देखा है कि यदि ऐसी विभिन्न परिभाषाओं पर किसी क्रम से विचार किया जाय और उनकी विशेषताओं की आलोचना करते हुए, उसी क्रमानुसार कोई परिणाम भी निकाला जाय तो, यह संभव है कि इसी बहाने हम अपने इस गूढ़ विषय को समझने में बहुत कुछ कृतकार्य भी हो सकते हैं। इन जैसा परिभाषाओं के आधार पर यदि हमें यह न पता चल सके कि 'रहस्यवाद क्या है' तथापि इतना निश्चय है कि इनकी एक साधारण समीक्षा कर लेने पर भी, हमें इस बात का कुछ कुछ न संकेत तो अवश्य मिल जा सकता है कि 'इसका वास्तविक विषय क्या हो सकता है'। उसके शब्दार्थ-गत परिचय तथा उसके व्याख्यात्मक विवेचन द्वारा उसकी एक प्रारम्भिक झांकी मिल सकती है। फिर उसके विशेषज्ञों द्वारा बतलाये गए कतिपय विशिष्ट लक्षणों के आधार पर हम उसके बहुत कुछ निकट तक पहुंच जा सकते हैं इस प्रकार हमें उसका कुछ आभास भी हो जा सकता है। अतएव ऐसे यत्नों के ही फलस्वरूप हम अपनी उपलब्धियों के सहारे रहस्यवाद की कोई एक ऐसी परिभाषा भी दे सकते हैं जिसके किसी विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा हम अपने विषय का वास्तविक स्वरूप निर्धारित कर सकें।

तदनुसार हम यहां पर रहस्यवाद की एक ऐसी परिभाषा प्रस्तुत करने जा रहे हैं जो अभी

---

more real and ultimate manner than is possible to mere reason. A developing life of mysticism means a gradual ascent in the scale of spiritual values, experience, and spiritual ideals. As such, it is many-sided in its development, and as rich and complete as life itself. Regarded from this point of view, mysticism is the basis of all religions—particularly of religion as it appears in the lives of truly religious men." (Chicago, 1927) p. IX. (Preface)

तक इस विषय पर किये गए हमारे चिंतन और विवेचन का फलस्वरूप ठहरायी जा सकती है तथा जिसके अंतर्गत समाविष्ट हो जानेवाली बातों के संबंध में विचार करते हुए हम आगे अपने विषय का और भी अधिक स्पष्टीकरण करने का भरसक प्रयास करेंगे। हम ऐसी किसी परिभाषा के सर्वथा पूर्ण वा दोषरहित होने का कोई दावा नहीं कर सकते और न विषय के अत्यंत गंभीर होने के कारण, और विशेषकर इसलिए भी कि इसके जानकार समझे जाने वाले विद्वानों तक में इस संबंध में पर्याप्त मतभेद जान पड़ता है, हम किसी सर्वसम्मत समझे जाने योग्य मत को यहां उपस्थित ही कर सकते हैं। इस प्रसंग में यहां पर इतना और भी कहा जा सकता है कि अबतक दी जाने वाली परिभाषाओं का रूप अधिकतर धार्मिक वा आध्यात्मिक ही हुआ करता था और, जैसा हमें रहस्यवाद का इतिहास जान लेने पर पता चलेगा, इस विषय का महत्व अधिकतर इसके व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही केंद्रित रहा। परंतु इस पर नवीनतम ढंगों से विचार करनेवाले इसका पूर्वपरिचित रूप में देखा जाना सर्वथा समीचीन समझते नहीं जान पड़ते और वे इसे एक ऐसा रूप देते हुए प्रतीत होते हैं जो उससे कहीं अधिक व्यापक और धर्म-निरपेक्ष तक भी कहा जा सकता है। अतएव, संभव है कि हमारी दी हुई परिभाषा में कतिपय बातों का ठीक उसी प्रकार समावेश किया गया न मिल सके जैसा पहले से होता आ रहा था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी नयी बातों का सम्मिलित हो जाना भी दीख पड़े जिनको इस प्रसंग में कोई स्थान देना कभी पहले उतना आवश्यक नहीं समझा जाता था और ऐसी सारी विशेषताओं का कारण हमें यथास्थल आगे चलकर विदित हो सकता है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यहां रहस्यवाद के किसी सर्वथा नवीन रूप का प्रतिपादन का समर्थन किया जाने वाला है तथा इसी कारण, पूर्वागत बातों को किसी प्रकार हेय माना जायगा। अब तक के विशेषज्ञों द्वारा इस विषय का आधार-स्वरूप ठहरायी गई धार्मिक पुरुषों की रहस्यात्मक अनुभूतियों का महत्व आज भी वैसा ही बना हुआ है जैसा पहले समझा जाता था और उनकी उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। उनकी अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक समीक्षा मात्र की जा सकती है और जहां तक संभव है, उनके पूरक रूप में कतिपय धर्म-निरपेक्ष व्यक्तियों के उपयुक्त अनुभव भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

रहस्यवाद की एक परिभाषा इस रूप में रखी जा सकती है और उस पर विचार किया जा सकता है; जैसे, "रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूल आधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता वा परमात्म-तत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो जा सकता है।" इस प्रकार यदि हम इस परिभाषा को लेकर चलें और इसमें कही गई बातों का विवेचन करने के लिए इसका कोई विश्लेषण भी करें तो हम यह कह सकते हैं कि इसके अंतर्गत प्रधानतः पांच ऐसे प्रकरण आ जाते हैं जिनके विषय में कुछ न कुछ स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक होगा। इनमें से प्रथम रहस्यवाद को किसी एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करता है, द्वितीय विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट या निर्विशेष एकता अथवा परम तत्व के स्वरूप को किसी न किसी प्रकार, निर्धारित करना है, तृतीय उसकी 'प्रत्यक्ष अनुभूति' का परिचय देना तथा चतुर्थ ऐसे अनुभव की 'अनिर्वचनीयता' पर विचार करना है और इसी प्रकार, पंचम वैसे रहस्यवादी व्यक्ति के व्यवहार का निरूपण करते हुए उसकी

समुचित व्याख्या कर देना है। इनमें से प्रत्येक का अपना एक पृथक् महत्व है और इस कारण, उस पर बिना कुछ प्रकाश डाले, हम उनके यहां पर प्रसंग में लाने की सार्थकता को सिद्ध नहीं कर सकते और न बिना उनपर सम्यक् विचार किये, हम अपने प्रस्तुत विषय को यथेष्ट रूप में समझ ही ले सकते हैं। अतएव सबसे पहले हम यहां पर इस प्रश्न को ही ले सकते हैं कि रहस्यवाद को किसी जीवन-दर्शन के रूप में क्यों स्वीकार करना चाहिए। इस संबंध में हम इसके पहले, बहुत कुछ संकेत कर चुके हैं और प्रसंगवश कहीं न कहीं इसका न्यूनाधिक समाधान भी कर चुके हैं। इस कारण हमें इसके विषय में विशेष नहीं कहना है और जो कुछ हम कहेंगे वह स्वभावतः उसके उपसंहार के रूप में और संक्षिप्त भी होगा। शेष चार प्रश्नों पर कुछ अधिक विस्तार के साथ कहना पड़ सकता है जिस कारण यह उचित होगा कि उनका विवेचन, इस पर कथन कर लेने के अनंतर किया जाय।

(३) स्वरूप

हम अभी देख आये हैं कि कतिपय विद्वानों ने रहस्यवाद को केवल किसी मनोदशा मात्र के रूप में स्वीकार किया है और इस प्रकार, उसकी कोई न कोई मनोवैज्ञानिक व्याख्या देखकर ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन हो जाना समझ लिया है। इसमें संदेह नहीं कि जहां कहीं भी उन्होंने उसकी कोई ऐसी परिभाषा दी है, वहां इसके पहले वा पीछे उन्होंने उसके संबंध में और भी बहुत सी बातें बतलाने की चेष्टा की है तथा वे इस प्रकार, उसके प्रायः सभी प्रमुख अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते और अपना निर्णय देते भी दीख पड़ते हैं। परंतु अपना ध्यान विशेषकर चेतना, संवेदन, अनुभूति वा मनोवृत्ति जैसी बातों की ही ओर अधिक आकृष्ट हो जाने के कारण, वे इन परिभाषाओं में केवल उन्हीं को प्रमुख स्थान भी दे दिया करते हैं। ठीक यही दशा वैसे विद्वानों की भी जान पड़ती है जो उसे केवल किसी साधन वा कला का पद प्रदान करना चाहते हैं और इस प्रकार उस विषय को किसी आंतरिक मनोदशा के रूप में स्वीकार न करके उसे किसी ऐसे माध्यम का ही बाना पहना देना चाहते हैं जो वैसी मनःस्थिति को अपने लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होकर तदनुसार कार्य करने तथा प्रतिफलित हो जाने में केवल किसी उपकरण का काम दे सकता है। अतएव, प्रथम दृष्टि से जहां रहस्यवाद तत्व-ज्ञान के किसी मनोविज्ञान-संबंधी अंग का रूप धारण करता प्रतीत होता है, वहां द्वितीय दृष्टि के अनुसार, वह किसी व्यापार-विशेष अथवा शिल्पविद्या की कोटि में आ जाता है और इस प्रकार हम दोनों में से किसी की भी दशा में हम उसके व्यावहारिक पक्ष को नहीं देख पाते। परंतु जैसा उसके विषय में, आचार, अनुशासन वा जीवन-पद्धति जैसी बातों की चर्चा करने वाले विद्वानों के मतों का प्रसंग आने पर देखा गया है, उसका वह दूसरा पक्ष ही कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है और उनका प्रथम शास्त्रीय पक्ष इसके सामने प्रायः गौण भी बन जा सकता है। अतएव, रहस्यवाद के वास्तविक रूप को पहचानने अथवा उसको भलीभांति समझने के लिए जीवन के साथ पाये जाने वाले उसके संबंध को भी देखना चाहिए। हमें इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि मानव-जीवन की दृष्टि से इसका महत्व कहां तक हो सकता है अथवा किस प्रकार यह कोई समुचित आदर्श उपस्थित कर सकता तथा किसी व्यक्ति को उसकी सिद्धि के लिए अग्रसर होने का मार्ग भी निर्दिष्ट कर सकता है।

रहस्यवाद को केवल किसी धर्म-विशेष अथवा धार्मिक प्रणाली के रूप में स्वीकार करने-

वालों का वास्तविक उद्देश्य भी, कदाचिद् इससे भिन्न नहीं ठहराया जा सकता और न इस दृष्टि के अनुसार उनसे इस बात में सहमत न होने का कोई तर्क-संगत कारण ही दिया जा सकता है। 'धर्म' शब्द को यदि उसके प्राचीन मौलिक अर्थ में लिया जाय तो वह किसी वस्तु वा व्यक्ति की उस प्रकृति वा स्वभाव को सूचित करता दीख पड़ेगा जो उसमें तत्वतः निहित है अर्थात् जिसका अस्तित्व बने रहने के ही कारण उस वस्तु वा व्यक्ति को कोई वैसी संज्ञा-विशेष प्रदान की जाती है। उसका धर्म उसे इसी कारण, धारण करता है अर्थात् अपनी विशिष्टता के साथ उसे सदा प्रतिष्ठित किये रहता है। जहां तक पता चलता है 'धर्म' शब्द का ऐसा प्रयोग सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' के उस मंत्र में किया गया था जिसमें विष्णु का तीन पदों को काम में लाना और इस प्रकार सभी धर्मों को यथावत् बनाये रखना कहा गया है।[1] इस दृष्टि से जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना है, जल का शीतल होना तथा सूर्य का प्रकाश फैलाना है, उसी प्रकार कोई धर्म-विशेष मनुष्य का भी हो सकता है। उस धर्म-विशेष के ही कारण मनुष्य, मनुष्य है और उसके अभाव में वह निरा पशुवत् प्राणी-मात्र कहला सकता है। मनुष्य के विषय में एक यह विशेष बात भी कही जा सकती है कि जहां प्राकृतिक पदार्थ वा साधारण प्राणी अपने ऐसे धर्म से अवगत नहीं हो पाते, वहां इसमें उसे भलीभांति जान तथा समझ लेने की भी शक्ति है और इसी कारण यदि यह चाहे तो उसका सदुपयोग वा दुरुपयोग भी कर सकता है। अतएव, जब हम किसी धर्म विशेष का नाम लेते हैं तो साधारणतः वहां पर भी यही समझा जाता है कि उसके द्वारा किन्हीं ऐसे आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई होगी जो मनुष्य के उक्त मौलिक वा प्राकृतिक धर्म की सुसंगति में लाये जा सकते हैं तथा इसी कारण, उनका अनुसरण करना इसके लिए परम कर्त्तव्य हो जाता है और उसका पालन करने के लिए इसे दृढ़प्रतिज्ञ भी बनना पड़ता है। यदि हम सारे प्रमुख धर्मों में सामान्यतः पायी जानेवाली बातों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह पता चल सकता है कि उनमें कोई तात्विकभेद नहीं है, प्रत्युत वे मूलतः एकसमान हैं तथा वे किसी न किसी प्रकार, उन विशेषताओं को भी प्रकट करती हैं जिन्हें मनुष्य के मौलिक 'धर्म' का नाम दिया जा सकता है। अतएव, किसी व्यक्ति का साधारण धर्म उसे ऐसे आदर्शों की सहायता से, वस्तुतः उसके उस धर्म-विशेष की ओर भी इंगित करता कहा जा सकता है जिसके कारण वह अपने को मनुष्य के रूप में मान सकता है तथा जिसको ध्यान में रखकर चलने पर ही उसके जीवन का सफल होना भी कहा जा सकता है।

धर्म इस प्रकार, वस्तुतः किसी जीवन-दर्शन का पर्याय बन जाता है और कदाचित् यही उसका मौलिक रूप भी ठहराया जा सकता है। उसकी इस विशेषता को न समझ पाने के कारण उसके संबंध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियां उत्पन्न होने लगती हैं और हम उसे उपेक्षणीय तक ठहराने लग जाते हैं। उसे किसी जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर लेने पर हमारे सामने उसके दो प्रमुख अंग आ जाते हैं जिनमें से प्रथम का संबंध, वस्तु-स्थिति को भलीभांति समझ और हृदयंगम कर उसके अनुसार अपने जीवनादर्श को निर्धारित कर लेने से है और इसी प्रकार उसका दूसरा वैसा अंग भी उस अपने निश्चित एवं स्वीकृत आदर्श को अपने दैनिक व्यवहार द्वारा कार्यान्वित करने में पाया जा सकता है। उस आदर्श को समझकर न अपनाने तथा उसे, केवल अंधविश्वास के बल पर

---

१. "त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्" (१-२२-१८)।

स्वीकार कर लेने में अनर्थ हो जाने की आशंका रहा करती है और इसी प्रकार अपने आदर्श के अनुसार व्यवहार न करने पर भी, हमें स्वभावतः किसी न किसी रूप में हानि उठानी पड़ सकती है। इसके सिवाय वैसे आदर्श के स्वरूप का यथेष्ट व्यापक और सुसंगत न होना तथा उसे अधूरे रूप में समझना अथवा विकृत रूप में स्वीकार करना कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इसी प्रकार, उसे सदा अपने ध्यान में न रखते हुए अथवा उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखकर जीवन-यापन करना भी हानिकारक हो सकता है। धर्म-विषयक इस रहस्य को समुचित महत्व न देने के ही कारण उसे लोगों ने और का और समझ रखा है तथा बहुधा उसे किसी बाह्य विधान का रूप देकर और उसका केवल अंधानुसरण मात्र करके उसका संभवतः दुरुपयोग तक कर डाला है। फलतः जिस धर्म के आलोक में मानव जीवन की सुव्यवस्था संभव हो सकती थी उसी के विकृत एवं संकीर्ण रूप ने अनेक उलझनों को प्रश्रय दे दिया है और इसी कारण, बहुत से आधुनिक विचारवाले व्यक्तियों ने उसे सारे अनर्थों की जड़ तक बतला देने में कोई संकोच नहीं किया है। ऐसे लोगों ने उसे प्रायः किसी अवैज्ञानिक 'वाद' जैसा भी मान लिया है और उसके विषय में ऐसी धारणा बना ली है कि वह सदा विज्ञान के प्रतिकूल ही जा सकता है। परंतु जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, ऐसा समझ बैठना केवल किसी भ्रांति के ही कारण हो सकता है। यदि हम धर्म को उसके मौलिक रूप अथवा जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर सकें तो हमें विदित होगा कि किसी वैसे ही धर्म को हम रहस्यवाद की भी संज्ञा दिया करते हैं।

अतएव, रहस्यवाद को हम इसलिए जीवन-दर्शन कहते हैं कि उसे हम धर्म के मौलिक रूप में स्वीकार करते हैं। हम यदि चाहें तो उसे किसी ऐसे दर्शन की भी कोटि में रख सकते हैं जिसमें न केवल शास्त्रीय तर्क-वितर्क से काम लिया जाता हो, अपितु जिसमें अनुभूति को भी प्रधानता दी जाती हो और जो इसी कारण, हमारे लिए व्यावहारिक भी ठहराया जा सकता हो। शुष्क तर्क-वितर्क द्वारा हम किसी स्पष्ट निर्णय पर नहीं पहुंच पाते और विभिन्न प्रकार की प्रपत्तियों एवं संभावनाओं का जाल बुनते-बुनते उसमें स्वयं फंसकर असहाय-जैसे तक भी दीखने लग जाते हैं। किंतु, यदि ऐसी तर्क-पद्धति को किसी सरस अनुभूति का भी सहयोग मिलता चले तो हमें किसी प्रकार के नैराश्य का सामना नहीं करना पड़ सकता। रहस्यवाद में ऐसी अनुभूति की ही प्रधानता है जो दर्शनवाले क्षेत्र के लिए प्रायः विरल ही कही जा सकती है। तर्क-पद्धति का उद्देश्य जहां विभिन्न मान्यताओं के बीच संगति लाना, उनकी परीक्षा करना तथा यदि कहीं कोई दोष दीख पड़े तो उसका परिहार कर देना मात्र होता है, वहां अनुभूति उन्हें अपनी आस्था के अनुसार प्रयोग में लाकर कार्यान्वित भी कर देना चाहती है और इस प्रकार, उनका हमें संभवतः कोई प्रत्यक्षीकरण तक भी हो जाया करता है। तर्क बाह्य दृष्टि प्रधान होता है और वह अधिकतर संगति पर ही बल देता है, जहां अनुभूति अंतर्दृष्टि-प्रधान हुआ करती है और वह ज्ञेय वस्तु के अंतस्तल तक पहुंच जाना चाहती है। इसी प्रकार तर्क-पद्धति जहां केवल बुद्धि से काम लेती है और अपनी उपलब्धियों को कोई न कोई भावनात्मक रूप भी प्रदान करती चलती है, वहां अनुभूति का आधार एक ऐसा संवेदन हुआ करता है जो अधिकतर किसी प्रातिभ ज्ञान के बल पर काम करता है तथा जिसमें स्पष्ट भावनाएं नहीं बन पातीं और न इसी कारण, जिसे हम किसी अन्य के प्रति कभी ठीक ढंग से संप्रेषित ही कर पाते हैं। अतएव इस प्रकार की तर्क-प्रणाली को विशेष प्रश्रय

देने वाला दर्शन रहस्यवाद से नितांत भिन्न ठहरता है और इसी दृष्टि से विचार करने पर हमने उसे शास्त्रीयता-प्रधान भी माना है। रहस्यवाद को जीवन-दर्शन की संज्ञा देते समय हम उसका ऐसी किसी विशेषता से भी समन्वित होना नहीं समझा करते। हम उसे यह नाम देने का अभिप्राय केवल इतना ही समझ लेते हैं कि जिस प्रकार दर्शन अपने तत्त्व-ज्ञान होने की दशा में, चरम सत्य का अनुसंधान करता है तथा वैसी ही दृष्टि के आधार पर, मानव जीवन के लिए शाश्वत मूल्यों का निर्धारण भी कर देता है, उसी प्रकार इस रहस्यवाद का जीवन-दर्शन भी उस चरम सत्य को अनुभूतिगम्य बना देता है तथा उसके आदर्शानुसार किये जाने वाले व्यवहारों में शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा भी कर देना चाहता है।

रहस्यवाद को इस प्रकार व्यवहार-प्रधान कहते समय हमारा ध्यान स्वभावतः आचार-शास्त्र की ओर भी जा सकता है और हम इस प्रश्न पर भी विचार करने लग सकते हैं कि उसका भी इसके साथ कोई तात्विक संबंध हो सकता है वा नहीं। तदनुसार हम देखते हैं कि, आचार-शास्त्र के अंतर्गत, साधारणतः ऐसी समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास किया जाता है कि नैतिक अधिकार एवं नैतिक कर्तव्य के मूल स्रोत क्या हैं? मानव जीवन के लिए अंतिम श्रेय, किस बात में है? क्या मनुष्य, नैतिक दृष्टि से सभी कुछ करने के लिए स्वतंत्र समझा जा सकता है? आदि जो यद्यपि हमारे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषयों का स्पष्टीकरण करने की दृष्टि से किया जाता है, कभी यथेष्ट मूल्यवान् सिद्ध नहीं होता। आचार-शास्त्र, जैसा हमें विदित है, तत्व-ज्ञान दर्शन का एक आवश्यक अंग भी समझा जाता है, जिस कारण इसमें उसकी अनेक विशेषताएं आप से आप आ जाया करती हैं। तदनुसार हम देखते हैं कि यहां पर भी, अधिक-तर उस तर्क-पद्धति से ही काम लिया जाने लगता है जिसकी चर्चा हम अभी कर आये हैं और इस प्रकार, मानव जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध रखनेवाली इस विद्या में भी बहुधा शुष्क शास्त्रीयता की ही गंध आ जाती है। आचार-शास्त्र के अनुसार एक ओर जहां हम इसके विभिन्न प्रश्नों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुलझाने का यत्न करते हैं, वहां दूसरी ओर उनके न्याय-संगत होने के संबंध में तर्क-वितर्क भी करने लग जाते हैं और इस प्रकार हमें उनमें से किसी को भी व्यवहार के स्तर तक लाने का पूरा अवसर नहीं मिल पाता। इसके विपरीत रहस्यवाद ऐसे प्रश्नों का समाधान केवल एक सरल ढंग से कर देना चाहता है। इसके अनुसार सभी नैतिक मूल्यों का मूल स्रोत उस रहस्यानुभूति में निहित समझा जा सकता है जिसकी दशा में विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता का प्रत्यय हो जाया करता है। तदनुसार प्रत्यक्ष अनेकता की दशा में भी किसी परोक्ष एकता का भान होना तथा उसकी अव्यवहित अनुभूति की प्रगाढ़ता के कारण, किसी व्यक्ति के सारे जीवन-क्रम का ही आमूल परिवर्तित हो जाना आदि हमें कुछ ऐसे संकेत प्रदान कर देते हैं जिनके आधार पर वैसे प्रश्न आप से आप हल हो जाते हैं। इसके सिवाय, इन बातों की ओर ध्यान जाते ही, हमें एक अन्य भी ऐसा आधार प्रेम-तत्त्व के रूप में मिल जाता है जो न केवल वैसी भावनाओं का परिणामस्वरूप हुआ करता है, प्रत्युत जिसका अपूर्व रंग चढ़ जाने के कारण, वे सभी हमारे लिए सर्वथा सुखद और स्वाभाविक भी प्रतीत होने लगती हैं।

अतएव रहस्यवाद को यदि हम धर्म की संज्ञा देते हैं तो वह केवल इसी अर्थ में कि यह मनुष्य के मौलिक और स्वाभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और इसे हम उसके उस रूप में

स्वीकार नहीं कर सकते जो उसे उसके 'मजहब' वा 'सम्प्रदाय' विशेष बन जाने पर मिला करता है। इस दूसरी दशा में उसके अंतर्गत अनेक ऐसी बातों का भी समावेश हो जाया करता है जो इसकी दृष्टि से नितांत गौण कही जा सकती हैं। उदाहरण के लिए ईश्वरीय शास्त्र (Theology), सृष्टिशास्त्र (Cosmology) कर्मकाण्ड (Rituals) आदि उसके अनेक ऐसे अंग हैं जिनको रहस्यवाद की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता, किंतु जिन्हें आवश्यकता से अधिक गौरव प्रदान करके लोग मजहबी झगड़े खड़ा कर दिया करते हैं। इसी प्रकार, यदि हम रहस्यवाद को दर्शन की संज्ञा देना चाहें तो इसे उसके केवल उसी रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिसमें उसका उद्देश्य परम-तत्त्व एवं परम सत्य की सत्ता और स्वरूप का अनुसंधान करना रहा करता है और जिस दशा में वह किसी वाद-विशेष के रूप में सीमित होने योग्य नहीं बन जाता और न वह केवल शुष्क तर्क पर प्रतिष्ठित ही कहा जा सकता है। केवल बौद्धिक ज्ञान को ही सब कुछ स्वीकार करने वाला दर्शन या तो इन्द्रियगम्य जगत् को वस्तु-तत्त्व मान कर निरा भौतिकवादी बन जाता है अथवा तज्जन्य भावनाओं को ही प्रमाण बना कर आदर्शवाद का मार्ग ग्रहण कर लेता है और यदि इनमें से किसी ओर न जा सका तो केवल संशयवादी बना रह जाता है। परंतु बुद्धि की जगह प्रातिभ ज्ञान को विशेष प्रश्रय देने वाले रहस्यवाद को इन तीनों में से किसी भी एक के वर्ग में परिगणित किये जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका संबंध किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष जीवन मात्र से रहा करता है और वह, उसकी आंतरिक अनुभूतियों के ही बल पर अपना पूर्ण विकास पा लेता है। "दार्शनिक जहां अनुमान वा तर्क से काम लेता है, वहां रहस्यवादी उसी बात को अपने प्रत्यक्ष जीवन में उतार कर तथा उसके अनुसार अपने दृष्टिकोण को निर्मित कर जान और समझ लेता है। इसी कारण, यह किसी विशुद्ध भाषा का माध्यम न अपनाकर प्रत्यक्षानुभूति की अस्फुट वाणी द्वारा ही अपना काम ले लिया करता है।"[१] इसी प्रकार, यदि हम रहस्यवाद को आचारशास्त्र की कोटि में रखना चाहें तो, ऐसा उसी दशा में कर सकते हैं जिसमें उसके अंतर्गत उठने वाले विविध तर्काश्रित प्रश्नों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाय, प्रत्युत जब किसी मूल्य का निर्धारण करते समय हम अनुभूति विशेष पर ही आश्रित रह सकें। आचार-शास्त्र जहां अपने आधार के लिए किसी बुद्धिसंगत एवं दार्शनिक सिद्धांत की शरण लेता है। इस प्रकार, कभी कभी, उसके विचित्र वाग्जाल में पड़ कर भ्रांति पूर्ण भी बना रह जा सकता है, वहां रहस्यवाद के लिए कभी किसी ऐसे बाहरी आश्रय की खोज में भटकना नहीं पड़ा करता। इसका काम सदा, वैसी किसी अनुभूति के ही आधार पर चल जाया करता है जो एक ही साथ गंभीर, व्यापक, स्पष्ट और सुनिश्चित होने के कारण, हमें कभी किसी प्रकार का धोखा नहीं देती और जो न केवल हमारी परिस्थिति विशेष को सम्हालकर, अपितु हमारे सारे जीवन में ही कोई अपूर्व सुसंगति लाकर

---

१. "Where the philosopher guesses and argues, the mystic lives and looks, and speaks, consequently, the disconcerting language of first hand experience, not the neat dialect of the schools"—'Mysticism' by Underhill, p. 24.

उसे सुखमय बना दिया करती है तथा इस प्रकार, हमें इसे किसी सच्चे जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करने का यथेष्ट आधार भी मिल जाता है।

तदनुसार हम रहस्यवाद का विवेचन करते समय, यहां इसके केवल उन प्रमुख अंगों पर ही विशेष ध्यान दे सकते हैं जिनका संबंध या तो इसके दार्शनिक पक्ष से हो और वैसी दशा में, हम कोई ऐसा निर्णय कर सकें कि किसी रहस्यवादी के लिए अपनी साध्य वस्तु क्या हो सकती है तथा किस प्रकार वह उसे अपनी अनुभूति का अंग बना लेने में कभी समर्थ हो पाता है अथवा जिनका लगाव इसके किसी व्यावहारिक पक्ष के साथ हो सके और जिनके स्वरूप एवं प्रक्रियाओं के अध्ययन और स्पष्टीकरण द्वारा हम अपने इस विषय का कोई समुचित मूल्यांकन भी कर सकें। इस प्रकार हम रहस्यवाद के ऐसे प्रथम वर्ग वाले अंगों के अनुसार उसके साध्य तत्त्व पर विचार कर सकते हैं, उसके उपयुक्त साधनाओं का स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं तथा उनके परिणाम स्वरूप आस्तित्व में आ जाने वाली अनुभूति वा सिद्धि के विषय में अपना कोई निर्णय दे सकते हैं। इसके ऐसे द्वितीय वर्ग वाले अंगों के अनुसार भी इसी प्रकार, हम किसी रहस्यवादी की सिद्धावस्था का विवेचन करते समय, उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में अपना अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं, उसकी अभिव्यक्ति की शैली की चर्चा कर सकते हैं तथा इसके साथ ही, उसकी यथार्थ विशिष्टता एवं उसके भावी विकसित रूप के संबंध में, कोई अपना मत भी प्रकट कर सकते हैं।

२. साध्य, साधना और सिद्धि

(१) रहस्यवाद का साध्य

रहस्यवाद की परिभाषा निश्चित करते तथा इसका स्वरूप निर्धारित करते समय हमने इसे एक जीवन-दर्शन ठहराया है। परंतु, ऐसा करते समय हमने यह भी देखा है कि इसे केवल ऐसी संज्ञा दे देने मात्र से ही, हम इसे किसी दार्शनिक शास्त्र की कोटि में भी नहीं ला सकते, क्योंकि दर्शनशास्त्र में जहां हमें तर्क-पद्धति से काम लेना पड़ता है, वहां रहस्यवाद की दशा में केवल अनुभूति की ही प्रधानता रहा करती है। तदनुसार, हम इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दार्शनिक मनोवृत्ति जहां प्रायः तटस्थ एवं निरपेक्ष हुआ करती है, वहां रहस्यवाद की मनोवृत्ति में यह बात नहीं पायी जाती। यहां पर हम अपने लक्ष्य के साथ कोई न कोई व्यक्तिगत संपर्क तक भी स्थापित करते प्रतीत होते हैं और शास्त्रीयता यहां अनावश्यक बन जाती है। ठीक यही बात हम धर्म के संबंध में भी कह सकते हैं और इस दृष्टि से उसे इसका समकक्ष भी ठहरा सकते हैं। दर्शन एवं धर्म की तुलना करते समय भी ऐसा कहा जा सकता है कि दार्शनिक विचार-प्रणाली के द्वारा जहां हम अपने अनुसंधान के प्रयास में, किसी तत्त्व के उस रूप तक ही पहुंच सकते हैं जो केवल वस्तुगत बन कर रह जाता है, वहां धर्म की दशा में, हम उसमें एक विचित्र परिवर्तन भी ला दिया करते हैं। "हमारा दार्शनिक विचार ईश्वर को केवल अन्य पुरुष के ही रूप में उपलब्ध कर पाता है, उसे मध्यम पुरुष में भी नहीं स्वीकार कर पाता। उसके प्रति हमारा विचार किसी ऐसे चिंतन के प्रभाव में काम करता जान पड़ता है जहां पर 'तू' का स्वर भंग हो जा सकता है और हमें वह चकित भी कर सकता है, वहां पर कोई एक दूरी की भावना काम करती है और कोई एक पृथकत्व का ऐसा पर्दा भी बीच में आ जाता है जिसका दोष धर्म की दशा में नहीं पाया जाता।"[1]

इस दृष्टि के अनुसार विचार करने पर न केवल रहस्यवाद एवं धर्म के वास्तविक रूप में कोई तात्त्विक अंतर नहीं लक्षित होता, अपितु जैसा हम इसके पहले भी देख चुके हैं, इन दोनों को पृथक्-पृथक् सूचित करने वाले 'धर्म' एवं 'रहस्यवाद' शब्द भी एक दूसरे के पर्याय से लगने लग जाते

---

1. "Our philosophical thought finds God as an object in the third person, not in the second. Thinking comes upon God in a contemplation which the sound of the word 'Thou' would break and startle. There is here some spell of distance, some veil of insulation, from which natural religion does not suffer." 'The Meaning of God in Human Experience' by W. E. Hocking (New Haven 1912), p. 342.

हैं। परंतु इसके साथ ही, इन दोनों के बीच भी एक ऐसा अंतर ठहराया जा सकता है जिसकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रहस्यवाद की दृष्टि से जहां इसके किसी साधन की आंतरिक अनुभूति और तदाश्रित स्वाभाविक आचरण को ही विशेष प्रधानता दी जाती है, वहां धर्म की दशा में, अधिकतर वैसे व्यक्ति की मनोवृत्ति का बहिर्मुखी बन जाना तथा तदनुसार किन्हीं बाह्य विचारों में प्रवृत्त हो जाना भी कभी अस्वाभाविक नहीं समझा जाता। उदाहरण के लिए ऐसा मान लिया जा सकता है कि इसका ध्यान जितना बाह्योपचार, कर्मकाण्ड एवं विहित नियमों के पालन की ओर आकृष्ट होता है उतना अपनी आंतरिक अनुभूति की ओर भी जमा नहीं रह पाता। फलतः न तो इसके आंतरिक संवेदन में वह गंभीरता आ पाती है जो इसके अंतस्तल को भली-भांति छू सके और न उसमें ऐसी तीव्रता ही काम कर पाती है जो इसके संपूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त होकर इसके जीवन को कोई नवीन और चिरस्थायी मोड़ दे सके तथा इसका कायापलट भी कर दे सके। ऐसा धर्म इसी कारण, जीवन से बहुत दूर भी पड़ जा सकता है और वह रहस्यवाद की उस विशेषता से सर्वथा वंचित रह जा सकता है जिसके कारण इसे वास्तविक जीवन-दर्शन ठहराया जाता है। इस प्रकार हम रहस्यवाद को चाहे किसी दर्शन की दृष्टि से देखें अथवा इसे धर्म की संगति में लाना चाहें, इन दोनों ही दशाओं में, हमें इसके लिए आंतरिक अनुभूति को ही विशेष महत्त्व प्रदान करना पड़ेगा, प्रत्युत यह इसके लिए इसकी आधारशिला तक का काम कर सकती है।

परंतु अनुभूति को यहां इस प्रकार महत्त्व देते समय, हमारे सामने यह प्रश्न भी स्वभावतः उठ सकता है कि स्वयं इसका ही स्वरूप क्या है? हमें अपने दैनिक जीवन में ऐसा अनुभव होता है कि जब कभी कोई वस्तु हमारे सामने आ जाती है तो हम अपनी आंखों से उसका रूप-रंग देखते हैं और यदि वैसी वस्तु की ओर से कोई शब्द आता हो तो हम अपने कानों से उसकी ध्वनि भी सुन लेते हैं। इसी प्रकार, यदि वैसी वस्तु हमारे अधिक निकट रही तो हम उसके स्पर्शादि का भी अनुभव करके उसकी एक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। तदनुसार हम इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु के अपने संपर्क में आ जाने पर हम उसके बाह्य रूपादि का अनुभव अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कर लिया करते हैं और उसके आधार पर ही, हम उसके विषय में ऐसी कोई धारणा भी बना लेते हैं जो हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आश्रित कही जाती है। इस प्रत्यक्ष अनुभूति की विशेषता यह है कि इसके लिए हमारे निकट वा समक्ष किसी वस्तु का होना अनिवार्य है जिससे वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों में विशिष्ट चेतना जागृत करने के लिए कोई प्रतिक्रिया कर सके तथा इसके फलस्वरूप हमें अपने भीतर उसके विषय में किसी प्रकार बोध हो जाय। हमारी अनुभूति का यह सबसे साधारण और स्थूलतम रूप है और इसका किसी न किसी रूप में, मानवेतर प्राणियों तक के जीवन में भी घटित होना असंभव नहीं है। परंतु इसके अतिरिक्त, एक और भी अनुभूति है जिसमें अनुभव के अंतर्गत आने वाली वस्तु का हमारे सामने बना रहन[ा] आवश्यक नहीं हुआ करता। वह ऐसी वस्तु वा वस्तुओं के आधार पर हमारे भीतर बनी हुई भाव[-] नाओं पर आश्रित रहा करती है और उनसे हमारे अलग रहने पर भी हो सकती है। यदि हमा[रे] मानस-पटल पर किसी गाय की भावना पहले से अंकित है तो उसके आधार पर हम उस वर्ग के कि[सी] अन्य पशु-विषयक धारणा भी बना सकते हैं। हमारे लिए ऐसे किसी पशु का सामने लाया जा[ना]

आवश्यक नहीं है और यह काम केवल उसे सूचित करने वाले 'गाय' शब्द से भी चल सकता है। परंतु इतना निश्चय है कि ऐसी दशा में भी वस्तुतः किसी प्रत्यक्ष नहीं तो कम से कम परोक्ष पदार्थ का ही, मूर्त रहा करना अनिवार्य होगा। ऐसी अनुभूति को हम पहली से सूक्ष्म कह सकते हैं, क्योंकि इसमें अनुभूत वस्तु प्रत्यक्ष नहीं रहती, प्रत्युत यहां उसकी भावना मात्र से ही काम चला लिया जाता है।

इस प्रकार जो कुछ भी ज्ञान हम अपने साधारण दैनिक जीवन में प्राप्त करते हैं वह किसी न किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व पर ही निर्भर करता है। वह पदार्थ या तो हमारे प्रत्यक्ष रहा करता है अथवा हम उसके कहीं न कहीं वर्तमान रहने वा रह चुकने में, विश्वास कर लिया करते हैं। हमारे जीवन का जो भी अनुभव-परक अंग होगा चाहे वह भौतिक तथ्यों, भाव-विकारों, नैतिक आदर्शों अथवा धार्मिक भावनाओं के भी साथ संबद्ध क्यों न हो, इन सबका मूलाधार किसी न किसी वस्तु वा पदार्थ में ही निहित समझा जा सकता है, चाहे यह प्रत्यक्ष हो, चाहे हमारी भावनाओं के रूप में ही क्यों न हो। उसके प्रत्यक्ष रहने के कारण हम अपनी अनुभूति को साधारण और स्थूल तक कह देते हैं और उसके अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष होने पर इसे सूक्ष्म कहते हैं, किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि दूसरी का प्रभाव हमारे ऊपर पहली की अपेक्षा सदा कम ही पड़ा करता है। "इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों में आने वाले पदार्थ हमारी ओर से किसी प्रतिक्रिया की अपेक्षा करते हैं और प्रायः देखा जाता है कि हमारी भावनाओं पर आश्रित रहने वाली वस्तु भी कभी कभी हमें उतने ही बल के साथ प्रभावित कर देती है जितना प्रत्यक्ष पदार्थों की दशा में दीख पड़ता है। कभी-कभी तो यह अधिक प्रबल भी बन जाती जान पड़ती है। किसी अपमान की स्मृति हमें कभी-कभी उससे अधिक सरोष बना दे सकती है जितना अपमानित होने के समय संभव होगा और बहुधा, हम अपनी भूलों के कारण, उन्हें अनुभव करने के पीछे ही लज्जित होते देखे जाते हैं।"[१] फलतः इस दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों में कोई स्पष्ट अंतर नहीं पाया जाता और ये दोनों हमारे लिए पदार्थनिष्ठ अथवा इन्द्रिय-विषयाश्रित भी कही जा सकती हैं। अतएव जो प्रश्न हमारे सामने पहले आ चुका है उसे अब हम इस रूप में भी दे सकते हैं कि क्या रहस्यवाद वाली अनुभूति का स्वरूप भी ठीक वैसा ही हुआ करता है जैसा हमारी साधारण इन्द्रियजन्य अनुभूति का होता है अथवा क्या हमारी वैसी अनुभूति भी इसी के समान वस्तुनिष्ठ कही जा सकती है? दूसरे शब्दों में हमारी रहस्यवादी अनुभूति का साध्य विषय

---

१. "In either case they elicit from us a reaction, and the reaction due to things of thought is notoriously in many cases as strong as that due to sensible presence. It may be even stronger. The memory of an insult may make us angrier than the insult did when we received it. We are frequently more ashamed of our blunders afterwards than we were at the moment of making them." 'The Varieties of Religious Experience' by Willam James (London 1929) p. 53.

क्या है? तथा क्या उसका साधारण अनुभूति वाले विषय की भांति वस्तुनिष्ठ भी होना अनिवार्य होगा?

परंतु रहस्यवाद के विषय पर विचार करने वाले सभी विद्वान् लेखक इस प्रश्न को इस रूप में उठने देना नहीं चाहते और वे इसे यह कहकर टाल देते हैं कि, वास्तव में रहस्यवादी अनुभूति का किसी वस्तु विशेष की अपेक्षा करना आवश्यक ही नहीं है। अनुभूति के लिए किसी विषय के होने वा न होने का प्रश्न यहां पर तब उठाया जा सकता था, जब रहस्यवाद को हम किसी विज्ञान विशेष के रूप में स्वीकार करते और इसके संबंध में हम यह पता लगाने का यत्न करते कि किस प्रकार यहां पर सत्य का अन्वेषण किया जाता है। किंतु रहस्यवाद कोई विज्ञान नहीं कहला सकता और हम इसके संबंध में केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को सूचित करता है। तदनुसार हम रहस्यवादी अनुभूति को किसी विशुद्ध चेतना, संवेदन अथवा मनोवेग आदि मात्र के रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं जिसके संबंध में सत्यान्वेषण की चर्चा व्यर्थ है। हमने ऐसे विद्वानों में से कुछ के नाम रहस्यवाद की परिभाषा निश्चित करते समय लिये थे और उनके मतों की आलोचना भी की थी। हमने वहां पर यह बतलाया था कि किस प्रकार उन्होंने रहस्यवाद को केवल उसके अधूरे रूप में ही देखने की चेष्टा की है और केवल किसी एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व को इसका समानार्थी बना कर किस प्रकार उन्होंने इसके प्रति अन्याय कर दिया है। परंतु विलियम स्टेस नामक दार्शनिक ने इस संबंध में, बर्ट्रांड रसेल के मत की समीक्षा करते हुए कुछ और अधिक भी बतलाया है। उनका कहना है कि बर्ट्रांड रसेल का रहस्यवाद को केवल किसी संवेदन मात्र के रूप में स्वीकार कर लेना अथवा इसे मनोवेग मात्र मान लेना भी इस बात के लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं हो सकता कि यह वस्तुनिष्ठ न होकर केवल आत्मनिष्ठ ही होगा। इसके विरोध में हम स्वयं उन व्यक्तियों द्वारा कथित अनुभवों को ही प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्हें रहस्यवादी कहा जाता है और जिन्होंने उन्हें प्रकट भी किया है। "वे अपनी ऐसी अनुभूतियों को स्वयं रसेल से कहीं अधिक जानते होंगे और वे एक स्वर से बतलाते हैं कि ये मनोवेगों से अधिक विषयानुभवों के रूप में हुआ करती हैं तथा इनमें मनोवेगपरक रंग भी अन्य वैसे अनुभवों के ही समान हो सकता है,"[1] जिस कारण रसेल का उक्त कथन भी तभी मान्य कहा जा सकता है, जब ऐसे रहस्यवादियों का मत भ्रांत होना भी स्वीकार कर लिया जाय और हम उनके ऊपर किसी प्रकार विश्वास न कर सकें।

परंतु इस प्रकार सहसा समझ लेना कभी उचित नहीं ठहराया जा सकता और वैसी दशा में, हमें रसेल जैसे लोगों के मत को केवल इतने परिमाण तक ही, प्रश्रय देना पड़ सकता है कि साधारण सत्यान्वेषण की दृष्टि से विचार करने पर वह ठीक भी होगा। रसेल ने अपने इस मत को अन्यत्र इस प्रकार भी प्रकट किया है और कहा है, "रहस्यवादी लोग जो कुछ कहते हैं वह

---

१. "But they ought to know what the experiences themselves are like better than Russel does. And they invariably say that they are more like perceptions than emotions; though it is not denied that, like perceptions, they have their own emotional tinge."—Mysticism and Philosophy p. 15.

केवल इस कारण संभव है कि वे अपने मनोवेगपरक भावों के महत्त्व को वैज्ञानिक यथार्थता से कभी पृथक् नहीं कर पाते"[१] जिसे इस रूप में भी स्वीकार कर लिया जा सकता है कि ऐसे लोगों को अपनी अनुभूति के नितांत व्यक्तिगत होने के कारण, प्रायः भ्रांति भी हो जाती होगी। कोई भी रहस्यवादी अपनी बातों को कभी किसी प्रयोगशाला में प्रमाणित नहीं कर लेता और उसे बहुत कुछ अर्द्धसत्यों के ही रूप में प्रकट करना पड़ता है। किंतु क्या केवल इसी के कारण, हम उसकी उपलब्धियों को महत्त्वरहित भी ठहरा सकते हैं और उनका कभी स्वागत नहीं कर सकते? यदि ऐसा हो तब तो हम विज्ञान के विषय में भी कोई असंदिग्ध मत प्रकट नहीं कर सकते, क्योंकि जैसा डॉ० जे० आर्थर टामसन नामक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता ने एक स्थल पर कहा है, "विज्ञान भी सदा किसी आंशिक रूप में ही जान पाता है और दूसरे अंश का परिचय उसे भविष्य-कथन के द्वारा देना पड़ता है। उसकी कार्य-पद्धति केवल सार तत्त्व निकालने मात्र की रहा करती है अर्थात् किसी एक अवसर पर वह किसी वस्तु के पक्ष-विशेष वा गुण-विशेष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर पाता है।"[२] अतएव, यदि विज्ञान जैसे प्रयोगाश्रित विद्या के विषय में इस प्रकार कथन किया जा सकता है तो रहस्यवाद के लिए भी यह कहना कि यह किसी सत्य का पूर्ण परिचय नहीं दे सकता कोई आश्चर्य की बात न होगी, क्योंकि यहां पर किसी प्रकार के प्रमाणीकरण की संभावना नहीं देखी जाती तथा जैसा हमने अभी देखा है, इसकी अनुभूति का रूप वस्तुतः वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ वा व्यक्तिनिष्ठ तक बना रह जाता है।

परंतु इस संबंध में, यहां पर एक अन्य प्रश्न भी उठाया जा सकता है और वह यह कि इस वस्तुनिष्ठ वा आत्मनिष्ठ होने का ही अर्थ क्या होगा? क्या वस्तुनिष्ठ होने का तात्पर्य यह है कि किसी अनुभूति की दशा में, कोई वस्तु उसके भीतर अपने प्रत्यक्ष रूप में चली आया करती है? यह स्पष्ट है कि ऐसा मान लेना निरर्थक है और इसे किसी की साधारण बुद्धि भी स्वीकार नहीं कर सकती। कोई भी वस्तु किसी के अनुभव में कभी इस प्रकार नहीं आ सकती और उसका जो कुछ भी परिचय हमें मिलता है वह केवल उसके किसी ऐसे प्रतिबिंब के रूप में ही मिला करता है, जो उसके साथ हमारी इन्द्रियों के संपर्क में आ जाने पर उसकी किसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हमारे मानस-पटल पर पड़ जाता है और जिसे हम अपने पूर्व उपलब्ध अनुभवों के परिवेश में स्वीकार कर अपने यहां कोई न कोई स्थान विशेष दे दिया करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारी अनुभूति का वस्तुनिष्ठ होना वस्तुतः उसका किसी प्रतिबिंब मात्र का ही ग्रहण करना होगा। ऐसे प्रतिबिंब हमारे मानस-पटल पर बराबर पड़ा करते हैं, उन्हें हम अपने यहां कोई न कोई क्रम देते

---

१. "The fact that mystics do make assertions is owing to their inability to separate emotional importance from scientific validity." Religion and Science (Home University Library, London 1947) p. 187.

२. "Science always knows in part and prophesies in part. Its method is by abstraction; that is to say, it seeks to focus attention on certain aspects or properties at a time." Science and Religion (Methuen, London 1927) p. 10.

रहते हैं और उन्हीं के आधार पर हम सदा उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निर्माण भी करते रहते हैं जिन्हें साधारणतः किसी 'भावना' की संज्ञा दी जाती है। यदि हम ऐसी किसी भावना का न्यूनाधिक मूल्यांकन करते हुए उसके विषय में अपना कोई न कोई साधारण मत भी निर्धारित कर लेते हैं तो वही हमारी 'धारणा' भी बन जाती है। अतएव हमारी अनुभूति का वस्तुनिष्ठ कहा जाना केवल इसी बात पर निर्भर है कि उसका मूल आधार कोई न कोई वस्तु बन चुकी होगी और उसके सीधे संपर्क में आ जाने के कारण, हमने उसका प्रतिबिंब स्वयं प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण किया होगा।

इसके विपरीत हमारी अनुभूति का आत्मनिष्ठ अथवा व्यक्तिनिष्ठ कहा जाना इससे भिन्न प्रक्रियाओं पर निर्भर समझा जाता है। हमारी आत्मनिष्ठ कही जानेवाली अनुभूति के लिए किसी वस्तुविशेष वा पदार्थ वा उसके प्रतिबिंब का हमारे सामने रहा करना आवश्यक नहीं हुआ करता। इस दूसरी दशा में हम या तो अपने चिंतन से काम लेते हैं और अपनी पूर्व-संचित भावनाओं को प्रसंगानुसार उपयुक्त क्रम प्रदान करते हुए उसके आधार पर अपनी कोई नवीन भावना बना लिया करते हैं अथवा कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि हमें किसी चिंतन-प्रणाली वा तर्क-पद्धति का प्रयोग नहीं करना पड़ता, प्रत्युत ऐसी नवीन भावनाएं हमारे भीतर प्रायः पूर्व संस्कारानुसार आपसे आप निर्मित हो जाया करती हैं। यहां पर पूर्व-संचित भावनाओं तथा पूर्व-संस्कारों से तात्पर्य उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का है जो हमारे पूर्वकालीन अनुभवों के आधार पर घटित हुए रहते हैं तथा जिन्हें उनके इसी कारण, अपनी दृष्टि में पूर्व-परिचित बने रहने से हम अपने निजी अंग के रूप में स्वीकार भी किये रहते हैं। इसके सिवाय मनोविज्ञान द्वारा हमें पता चलता है कि हमारे भीतर कम से कम तीन ऐसे मानसिक तत्त्व हैं जिन्हें हम दूसरों का मूलस्रोत वा आधार समझा करते हैं। इन्हें साधारणतः चेतना (Consciousness), संवेदन (Feeling) तथा संकल्प (Will) के नाम दिये जाते हैं तथा जिनका काम हमारे भीतर क्रमशः ज्ञान, भाव तथा आकांक्षा को जागृत कर उन्हें अपना अपना विशिष्ट रूप देना है और वे तीनों ही स्वभावतः हमारे निजी अंग माने जा सकते हैं। इनके अस्तित्व की कल्पना सदा हमारे जीवन के परिवेश में ही की जाती है और ये हमसे पृथक् किसी भी दशा में नहीं समझे जा सकते। ये तीनों हमारी उस प्राण-शक्ति के तीन रूप हैं जो हमारे जीवन का आधार है और इनका उपयोग हम बराबर जाने वा अनजाने तक में भी किया करते हैं। अतएव, यदि इनमें से किसी भी एक वा उससे अधिक के ऊपर हमारी अनुभूति का निर्भर होना समझा जाय तो यह स्पष्ट है कि वह वस्तुनिष्ठ नहीं कहला सकती। वह यथार्थ में आत्मनिष्ठ वा व्यक्तिनिष्ठ समझी जायगी और उसके लिए हमारी 'आंतरिक अनुभूति' का नाम दिया जा सकता है। इसे हम, दूसरे शब्दों में, 'अध्यांतरित' भी कह सकते हैं, क्योंकि वैसी दशा में इसका किसी बाह्य वस्तु पर अनिवार्यतः आधारित न रह कर अंतर्निष्ठ रहना समझा जायगा।

वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ के संबंध में इस प्रकार विचार करते समय हमारा ध्यान एक अन्य ऐसी बात की ओर भी स्वभावतः आकृष्ट हो जा सकता है जो रहस्यवाद के प्रसंग में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। 'व्यक्तिनिष्ठ' शब्द से यह सूचित होता है कि किसी अनुभूति को हम केवल ऐसा विशेषण प्रदान कर सकते हैं जब वह किसी व्यक्ति विशेष के निजी संवेदनों तक ही सीमित होगी, जब उसके साथ इसी कारण, कतिपय व्यक्तिगत विशेषताएं लगी रहेंगी और वे दूसरों के

लिए नितांत अपरिचित अथवा अज्ञात तक भी कही जा सकेगी। परंतु, वस्तुनिष्ठ अनुभूति के विषय में भी हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसका किसी न किसी प्रकार वैसी वस्तु पर निर्भर रहना कहा जा सकता है। वह किसी व्यक्ति विशेष के भीतर की बात नहीं रहा करती, प्रत्युत जो अन्य व्यक्तियों के लिए भी लगभग एक ही ढंग से सुलभ होकर उन्हें प्रभावित कर सकती है। इस प्रकार, यदि हम व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति को 'विशेष अनुभूति' का नाम दे सकें तो वस्तुनिष्ठ अनुभूति को इसी प्रकार, 'सामान्य अनुभूति' भी कहा जा सकता है। अतएव रहस्यवाद की अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ कहने का तात्पर्य यह हो सकता है कि यह किसी व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहा करती है अथवा यदि यह अनेक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तक में पायी जाती है तो इसी कारण, इसका रूप भी स्वभावतः भिन्न-भिन्न हो सकता है। इसी प्रकार इसे वस्तुनिष्ठ कहने का अर्थ भी यही हो सकता है कि यह किसी विशिष्ट वस्तु का आश्रय लेकर अस्तित्व में आती होगी तथा वह इसी कारण, कभी प्रमाणित भी की जा सकती है। परंतु तथ्य यह है कि इस रहस्यवाद वाली विचित्र अनुभूति को हम इन दोनों में से किसी भी एक अकेली की कोटि में नहीं रख सकते। यदि हम इसे व्यक्तिनिष्ठ कहना चाहते हैं तो हमारे सामने यह कठिनाई आ जाती है कि वैसी दशा में हम उन स्पष्ट समानताओं का समाधान कैसे कर पायेंगे जो न केवल विभिन्न देशों, प्रत्युत विभिन्न कालों तक के रहस्यवादी साधकों की अनुभूतियों के अंतर्गत प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। यदि हम इसे वस्तुनिष्ठ कहना चाहें तो उस दशा में हमारे सामने यह प्रश्न उठ सकता है कि तब उस वस्तु विशेष का ही स्वरूप किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अनुभूतियों का उनकी परिस्थिति एवं वातावरण के अनुसार, भिन्न-भिन्न होना स्वभाव-सिद्ध है। इसी प्रकार, हम इस बात को भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि व्यक्ति अगणित हों और वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी क्यों न हों, केवल इसी के कारण, किसी वस्तु का अपना निजी स्वरूप का परित्याग कर तदनुसार भिन्न बन जाना कभी संभव नहीं है। निष्कर्ष यह कि व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ में से किसी भी एक की कोटि में इसे लाना हमें कठिनाई में डाल सकता है। इसलिए हमें इस विषय पर किसी दूसरे ढंग से भी विचार करना होगा।

रहस्यवाद का कोई सामान्य परिचय देने के पहले हमने इसे एक विलक्षण विषय कहा था और उसके अनंतर भी, समय-समय पर हमने इसकी विलक्षणता की ओर संकेत करते जाने का यत्न किया है तथा कभी-कभी इसके लिए कुछ समाधान भी दिये हैं। तदनुसार यदि हम रहस्यवादात्मक अनुभूति के स्वरूप का पता लगाने के लिए कुछ और भी सूक्ष्मता के साथ विचार करना चाहें तो कदाचित् अनुचित नहीं कहा जा सकता। किसी साधारण से अनुभव में भी हम देखा करते हैं कि हमारे भीतर वह किन्हीं मानसिक चेतनाओं के संचित रूप में पाया जाता है और उनके क्रम विशेष वा विशिष्ट व्यवस्था के ही अनुसार, हम अपने उस अनुभव के स्वरूप का परिचय दे सकते हैं। ऐसी चेतनाएं हमारे भीतर अपने सर्वप्रथम बोध होने लगने के समय से ही जागृत होती आई रहा करती हैं। उनका आधार हम में से प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति अथवा वातावरण के अनुसार एक दूसरे से भिन्न रहने के कारण, वैसे क्रम का व्यवस्था में भी बहुत कुछ भिन्नता आ गई रहा करती है। अतएव, यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इस प्रकार पायी जाने वाली भिन्नता के ही कारण, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके एक दूसरे से भिन्न होने का समाधान भी किया जा

सकता है तथा किसी एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न भी ठहराया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि वैसी विशेषता को हम किसी प्रकार दूर कर दे सकें और इस प्रकार हमारी मूल चेतना का केवल विशुद्ध रूप ही रह सके तो संभव है, उक्त अंतर वा भेद की संभावना भी दूर हो जाय। इसलिए अपनी मूल चेतना का निर्विषयीकरण वा शुद्धीकरण इस दृष्टि के अनुसार, बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। इसी कारण, हमारे यहां योगाभ्यास द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों के निरोध की चेष्टा की जाती आई है और बौद्ध सिद्धों की साधना में मनोमारण के द्वारा अपने चित्त को उसकी विशुद्ध स्थिति में लाकर निर्वाण प्राप्त करने का यत्न करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया समझा जाता रहा है। सर्वथा विशुद्ध चित्त अर्थात् हमारी मूल चेतना का वास्तविक रूप किसी व्यक्ति विशेष के भीतर एक दूसरे से तत्त्वतः भिन्न नहीं हो सकता जिसका एक परिणाम यह भी निकाला जा सकता है कि यदि वैसी चेतना के विषय में सामूहिक रूप से विचार करने लगें तो वह अंततोगत्वा हमें मूलतः एकमात्र भी दीख पड़ेगी। उस दशा में हम उसे व्यक्तिगत चेतना न कहकर केवल 'विश्वगत चेतना' का भी नाम दे सकेंगे।

इस प्रकार, यदि हम किसी ऐसी विश्वचेतना की कल्पना करते हैं तो हमें यह भी प्रतीत होने लगता है कि वैसी दशा में हमारे जीवन के अंतर्गत लक्षित होने वाली सारी विभिन्नताएं वस्तुतः कृत्रिम एवं क्षणस्थायी हैं तथा यदि यत्न किया जाय तो उनका दूर हो जाना भी संभव है। इसके सिवाय, यदि हमें इस बात का भी सम्यक् बोध हो जा सके कि अपने भीतर पायी जानेवाली व्यक्तिगत चेतना मूलतः वैसी समष्टिगत चेतना का ही अंश है और इस कारण, इसे उसके साथ एक और अभिन्न मानकर हम उससे यदि संयुक्त कर दे सकते हैं तो उन विभिन्नताओं के प्रति उपेक्षा भी की जा सकती है। फलतः, इस प्रकार जान लेने पर हमारे दैनिक जीवन-संबंधी सारी चेष्टाओं में आमूल परिवर्तन लाया जा सकता है और हम स्वयं और का और भी बन जा सकते हैं। विश्वचेतना के एक और अद्वितीय होने तथा उसके साथ अपनी चेतना की आत्मीयता के सिद्ध हो जाने पर किसी व्यक्तिगत अनुभूति का व्यक्तिगत कहा जाना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसी दशा में, वह अत्यंत व्यापक बन जा सकती है और हम उसके लिए यहां तक भी कह सकते हैं कि वह इस प्रकार एक ही साथ व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ भी हो जाती है। अपने व्यक्तिगत जीवन के अंतर्गत, भीतर ही भीतर, अस्तित्व में आने के कारण, उसे 'व्यक्तिनिष्ठ' कहा जा सकता है तथा जब हम उसे इस रूप में भी देखने लगते हैं कि वह यथार्थतः किसी ऐसी चेतना पर आधारित है जो विश्वचेतना के साथ एक और अभिन्न भी कहला सकती है तो उसका 'वस्तुनिष्ठ' होना भी सर्वथा संभव बन जाता है। क्योंकि वैसी दशा में, किसी प्रकार के बाहर वा भीतर का कोई प्रश्न ही नहीं उठ पाता और सभी कुछ किसी एकमात्र वस्तु के अंग से लगने लग जाते हैं। इस प्रकार विचार करते समय केवल एक ही शंका उठायी जा सकती है और वह यह कि "फिर उन दृश्यमान पदार्थों का क्या हो जा सकता है जिनका अनुभव हमारे अपने साधारण जीवन के अंतर्गत बराबर दिन-रात हुआ करता है? तथा क्या वे हमारे बाहर की वस्तु नहीं कहे जा सकते?" यह प्रश्न हमारे साधारण अनुभवों की दशा के अनुसार बराबर उठाया जा सकता है और यह उस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी कहला सकता है। परंतु जैसा हम रहस्यपरक अनूभूति का अधिक विश्लेषण एवं विस्तृत विवेचन करते समय, कुछ आगे चलकर देखेंगे, ऐसी शंका का करना यहां पर आपसे आप व्यर्थ हो जाता है। इस

बात के लिए, हमें अनेक रहस्यवादी साधकों की अनुभूतियों का स्पष्ट आधार भी मिल सकता है।

रहस्यवादियों की दृष्टि में यह विश्वचेतना ही वास्तव में, वह विश्वात्मक सत्ता है जिसकी एकता को निर्विशेष अथवा किसी भी प्रकार की विशेषताओं से रहित वा निरपेक्ष कहा जा सकता है तथा जिसे इसी कारण, 'अनिर्दिष्ट' का विशेषण देना भी उपयुक्त माना जा सकता है। वह केवल एकमात्र एवं अद्वितीय है, इसलिए उसे बतलाने के लिए किसी अन्य की परिचित विशेषताओं की सहायता लेने का कोई प्रश्न नहीं रह जाता। उसके स्वरूप का वर्णन करने के लिए किसी अन्य का प्रसंग छेड़ने की किसी आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ करता तथा इसी प्रकार, उसकी ओर स्पष्ट संकेत करने के लिए हमें किसी प्रकार का अन्य साधन ही उपलब्ध नहीं हो पाता है। परंतु ऐसी किसी चेतना वा सत्ता के विषय में कोई धारणा बना पाना, केवल विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से ही संभव कहा जा सकता है। यह हमारे लिए अधिक से अधिक तर्क-संगत वा युक्ति-संगत मात्र ही कहा जा सकता है और इसका उपयोग हम अपनी किसी दैनिक अनुभूति में भी नहीं कर सकते। अपनी दैनिक अनुभूति के अंतर्गत हमें बराबर ऐसी वस्तुओं से ही काम रहा करता है जो हमारी इन्द्रियों के संपर्क में भी आ पाती हैं अथवा इन्द्रियगोचर कहला सकती हैं। इस कारण, यदि हम रहस्यवाद की अनुभूति को व्यवहार-प्रधान सिद्ध करने की भी चेष्टा करें तो ऐसी सत्ता को उसके लिए निरर्थक तक भी कहा जा सकता है। इसके सिवाय रहस्यवाद को किसी जीवन-दर्शन की कोटि में रखते समय तथा इसीलिए उसे वास्तविक धर्म का पर्यायवत मान लेते समय भी, यह आवश्यक हो जाता है कि हमें किसी ऐसे आदर्श का बोध हो सके जो हमारे लिए क्लिष्ट कल्पित न रहकर व्यवहार-सुलभ भी बन जाय। अतएव रहस्यवादियों ने उसे अधिकतर किसी भावात्मक रूप में ही रहने न देकर, मूर्त्तत्व एवं व्यक्तित्व तक भी प्रदान कर दिया है। उसे उन्होंने न केवल किसी निरपेक्ष सत्तामात्र की संज्ञा दी है, 'निर्वाण' कहा है अथवा 'ताओ' जैसे शब्दों द्वारा ही प्रकट करके छोड़ दिया है, अपितु उसे ईश्वर God (गॉड) अथवा 'जेहोवा' जैसे विभिन्न नाम प्रदान करते हुए उसे किसी विलक्षण व्यक्ति के रूप तक में भी स्वीकार कर लिया है। ऐसा करते समय वे साधारणतः अपने मूल समाज की धार्मिक भावनाओं वा संस्कारों द्वारा अनुप्राणित होते आये हैं। किंतु इसके मूल में बराबर उनकी यह मनोवृत्ति ही काम करती आई है कि उसका समुचित उपयोग केवल तभी किया जा सकता है जब उसका कोरा भावात्मक रूप न रह जाय, प्रत्युत वह कोई व्यक्ति तक भी बन जाय।

यह विश्वचेतना अथवा विश्वात्मक सत्ता ही वह तत्त्व है जिसकी चर्चा हमने अपनी रहस्यवाद की परिभाषा देते समय की थी तथा जिसे हमने किसी रहस्यवादी व्यक्ति के लिए उसकी अनिर्वचनीय अनुभूति का आधार होना बतलाया था। यही उसकी रहस्यवादात्मक साधना का 'साध्य' अथवा चरम लक्ष्य है तथा इसी की उपलब्धि का हो जाना उसके जीवन को उसके अनुसार, आदर्श-रूप प्रदान कर दिया करता है। परंतु बड़े आश्चर्य की बात है कि इसके सभी कुछ होते हुए भी तथा इसकी उसे वस्तुतः प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाने की दशा में भी, वह इसके स्वरूप का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं कर पाता और न इसका वैसा कोई संकेत ही दे पाता है जिसके आधार पर हम इसके विषय में कोई धारणा बना सकें। जब कभी, ऐसा करते समय वह किसी दार्शनिक विचार-पद्धति की शरण

लेना चाहता है तो इसे कोई भावात्मक रूप देकर अस्पष्ट और भ्रमात्मक तक बना डालता है और जब इसका परिचय किसी धार्मिक शब्दावली के सहारे देने लगता है तो वह इसे कोई न कोई ऐसा स्वरूप दे डालता है जो सदा सभी ऐसे साधकों द्वारा स्वीकार्य नहीं हो पाता और जो इसी कारण, कभी-कभी विरोधात्मक तक भी लगने लगता है। इसके सिवाय जब कभी वह इसे कोई मूर्त्तत्व अथवा व्यक्तित्व प्रदान करके इसके गुणादि का वर्णन करने लगता है और वह यह भी कहने लगता है कि किस प्रकार यह उसे प्रभावित करता अथवा उसके प्रति कोई व्यवहार करता है तो उस दशा में भी, वह हमारी दृष्टि में बहुधा बहुत सी काल्पनिक बातें करता हुआ ही जान पड़ता है। हमें प्रायः ऐसा भी लगता है कि वह केवल किसी प्रचलित वर्णन-शैली द्वारा काम ले लेना चाहता है जिसका एक परिणाम कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि हम उसे केवल किसी धार्मिक वर्गविशेष का सदस्य मात्र भी मान बैठते हैं। उसके प्रति हमारी धारणा वैसी नहीं हो पाती जो किसी विशिष्ट अनुभवी व्यक्ति के विषय में हो सकती थी तथा जिसके अनुसार हमें उसके लिए कोई सर्वथा नवीन ध्येय प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति का श्रेय देने का कोई सुअवसर मिल सकता था। यदि हमारे सामने वह इसे किसी सर्वशक्तिमान शासनकर्त्ता के रूप में उपस्थित करता है तथा उसके भय अथवा आतंक द्वारा अपने को प्रभावित बतलाने लगता है तो हम उसके वर्णनों के सहारे इसे एक परम शक्तिशाली शासक सम्राट जैसा मान लिया करते हैं। इसी प्रकार जब कभी वह इसे किसी परम कारुणीक एवं सहृदय अथवा स्नेहपूर्ण व्यक्ति के रूप में चित्रित करता है तो हम इसे बहुधा एक अत्यंत उदार एवं अपने आत्मीय की भांति स्निग्ध व्यवहार करने वाला श्रद्धेय पुरुष जैसा समझ लिया करते हैं और ऐसा ही वैसी अन्य दशाओं में भी अनुमान कर लेते हैं। अतएव ऐसे रहस्यवादी साधकों के द्वारा दिये गए परिचय, उनके वैसे साध्य के संबंध में प्रायः कोई नवीन प्रकाश डालते नहीं प्रतीत होते। हमें तो इसके विषय में केवल तभी कुछ न कुछ संकेत मिल पाता है, जब वह इसे केवल 'अगम', 'अगोचर' वा 'अनिर्वचनीय' जैसे विशेषण देने लगता है और जब हमें ऐसा भी जान पड़ने लगता है कि यह 'सत्ता' वास्तव में, बड़ी अनुपम तथा अत्यंत विलक्षण होगी। इसी कारण, न केवल इसके लिए हमारी ओर से कुछ कहना अपर्याप्त होगा, अपितु वह कभी-कभी असंगत सा भी सिद्ध किया जा सकेगा। ऐसी सत्ता के लिए तो कदाचित् केवल इतना ही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह 'अवाङ् मनस गोचर' है और इसके विषय में केवल 'नेति नेति' कह देना मात्र भी अलम् हो सकता है।

(२) रहस्यवादी साधना

परंतु, यदि हम रहस्यवाद की साध्य वस्तु को केवल 'अवाङ् मनस गोचर' कहते हैं अथवा उसके संबंध में 'नेति नेति' जैसे शब्दों का प्रयोग करके बैठ जाते हैं तो हमारे सामने एक बहुत बड़ी समस्या इस रूप में आ जाती है कि तब हमारे लिए किसी ऐसी सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति का होना अथवा कम से कम उसकी किसी अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता के अनुभव का हो जाना भी कौन सा अर्थ रख सकता है ? जब हम उसके विषय में अपनी कोई धारणा ही नहीं बना पाते और न उसको किसी प्रकार पूर्ण रूप से हृदयंगम ही कर पाते हैं तब हमें वह किस प्रकार प्रभावित कर सकती है तथा किस प्रकार हम ऐसा कहने में ही समर्थ हो सकते हैं कि उसका हमें कोई स्पष्ट वा सीधा अनु-

भँव हो सका है। यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है और यदि देखा जाय तो इसका पूरा समाधान हो जाने पर हम रहस्यवाद-संबंधी प्रायः सभी गुत्थियों को सुलझा सकते हैं तथा केवल इसी एक अड़चन के दूर हो जाने पर हमारे सामने उसकी एक रूपरेखा भी उपस्थित हो जा सकती है। जब हम यह जान लेंगे कि रहस्यात्मक अनुभूति किस प्रकार हुआ करती है तो हमें संभवतः इस बात का भी ज्ञान हो जा सकता है कि वह किस बात की होती है। परंतु इस रहस्यात्मक अनुभूति के आरंभ, उसके विकास अथवा उसकी परिणति आदि-संबंधी सारी बातें स्वभावतः केवल मनोवैज्ञानिक तथ्यों के रूप में ही घटित हो सकती हैं और वे इसी कारण, किसी साधक वा व्यक्ति-विशेष की दृष्टि से उसके लिए केवल अभ्यांतरिक वा व्यक्तिगत ही कहला सकती हैं। उनकी वास्तविक प्रक्रिया का हमें कोई प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता और न उन पर विचार करते समय हम उन्हें कोई वस्तुनिष्ठ रूप ही दे सकते हैं। ऐसी दशा में या तो हमें वैसे साधकों द्वारा किये गए अपने वर्णनों पर विश्वास करके तथा उनके उचित विश्लेषण के सहारे पाये जाने वाले किसी क्रम-विशेष का निर्धारण करके उसके विषय में कोई अपना मत बना लेना पड़ सकता है। यह भी संभव है कि हम केवल उनके कथनों पर ही आश्रित न रहकर इनके साथ उनके बाह्याचरण की असंगति भी बिठाने का यत्न करें तथा इस प्रकार उपलब्ध हो सकने वाले तथ्यों के आधार पर हम ऐसी सारी बातों का विवेचन, अपने उस ज्ञान के आलोक में भी कर लें जो हमें मनोविज्ञान शास्त्र की मान्यताओं के अनुसार प्राप्त हो।

इसके सिवाय यहां पर एक अन्य आवश्यक विषय पर भी विचार कर लिया जा सकता है। हम इस बात को भी पहले जान ले सकते हैं कि कौन-कौन ऐसे साधन वा मार्ग हो सकते हैं जिनका प्रयोग, रहस्यवाद की अनुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जा सकता है। किन-किन साधनों को अभी तक पूर्वी अथवा पश्चिमी देशों के प्रसिद्ध रहस्यवादी साधक अपने काम में अधिकतर लाते आये हैं तथा उनमें से कौन-कौन अधिक उपयुक्त भी कहे जा सकते हैं। इस संबंध में यहां पर यह भी विचारणीय है कि रहस्यात्मक अनुभूति को साधारणतः किसी 'योग' अथवा 'यूनियन' (Union) की संज्ञा दी गयी है और कहा गया है कि यह वस्तुतः उस मिलन वा संयोग का ही परिणाम है जो किसी साधक एवं उसके साध्य के बीच घटित हुआ करता है। इसलिए हमें यहां पर कम से कम इस बात से परिचित हो लेना चाहिए कि उस मिलन वा संयोग का वास्तविक रूप किस प्रकार का होता है तथा किस प्रकार, उसकी स्थिति उत्पन्न करने के लिए हमें कायिक, मानसिक वा व्यावहारिक यत्न करने पड़ सकते हैं। ऐसे यत्नों के नाम तथा परिचय हमें अनेक धार्मिक ग्रंथों में मिलते हैं और उनकी विशिष्ट क्रियापद्धति के विषयमें हमें बहुत विस्तार के साथ लिखा गया उनका विवरण उपलब्ध होता है जो हमारे प्रकृत प्रश्न की दृष्टि से अनावश्यक भी समझा जा सकता है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि जिन रहस्यवादी साधकों को इनकी आवश्यकता पड़ी है, उन्होंने इनमें से एक वा अधिक को अपनाकर कार्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने बहुधा वैसी पद्धति को ही विशेष महत्त्व दिया है जो उनके धार्मिक समाज में बराबर प्रचलित रहती आई हैं तथा कभी-कभी उनका ध्यान वैसी साधनाओं की ओर भी आकृष्ट होता आया है जिन्हें उन्होंने अपने किसी मार्ग-प्रदर्शक के निर्देशन अथवा स्वयं अपने विचार से ही अधिक उपयुक्त समझा है और जो इसी कारण, उनके लिए अधिक सुलभ एवं लाभदायक तक भी सिद्ध हुई है। हम यहां पर इनमें से केवल कुछ

की ही चर्चा करेंगे और उसके द्वारा यह दिखलाने का यत्न करेंगे कि किस प्रकार वैसी साधना की उपयुक्तता को, रहस्यवाद के प्रसंग में स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे अनेक रहस्यवादी साधकों के अनुसार, ऐसी प्रक्रियाओं को हम यहां पर अनिवार्य भी नहीं ठहरा सकते।

जिस 'योग' शब्द का प्रयोग हमने रहस्यवादात्मक संयोग अथवा मिलन की दशा को घटित करने वाली साधना विशेष की ओर ध्यान दिलाने के लिए किया है उसकी व्युत्पत्ति प्रायः दो प्रकार से बतलायी जाती है। इनमें से एक के अनुसार यह शब्द, 'युज् समाधौ' के आधार पर उस 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ समाधि की अवस्था में आ जाने से संबद्ध है। इसी प्रकार, दूसरी के अनुसार यह 'युजिर् योगे' के आधार पर उस 'युजिर्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अभिप्राय किसी सामान्य संयोगावस्था का भी हो सकता है। तदनुसार 'पातंजल योगसूत्र' की व्याख्या करने वालों अथवा उनके द्वारा वर्णित योग का परिचय देने वालों ने इस शब्द को इसके प्रथम अर्थ में स्वीकार किया है, किंतु अन्य प्रकार की योग-पद्धतियों का परिचय देने वालों ने इसे इसके अधिकतर दूसरे अर्थ में ही अपनाया है। जहां तक रहस्यवाद के प्रसंग में योग की चर्चा करने का प्रश्न है हमें यह अधिक उचित जान पड़ता है कि हम भी इसे इसके दूसरे अर्थ में ही लें जो कदाचित् अधिक व्यापक भी कहला सकता है। इस अर्थ में इसका प्रयोग करने पर ही हम उन अनेक साधनाओं पर भी विचार कर सकेंगे जिनमें मानसिक स्थिति को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता। यों तो, यदि रहस्यवाद का संबंध किसी जीवन-दर्शन विशेष के साथ ठहराया जा सकता है और इसे उस रूप में स्वीकार भी किया जा सकता है तो हमारे लिए यह आवश्यक होगा कि हम इसे इसकी उस व्युत्पत्ति को ही स्वीकार करें जो इसे किसी मनःस्थिति वा मनोदशा का परिचायक सिद्ध करती है। 'योग' शब्द यहां पर किसी साधना एवं उसकी सिद्धि इन दोनों की ओर निर्देश करता हुआ दीख पड़ता है जिसे स्मरण रखना भी आवश्यक होगा।

विभिन्न योग-साधनाओं पर विचार करते समय हमें पता चलता है कि इन्हें कम से कम तीन स्थूल वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इन तीनों को क्रमशः कायिक, मानसिक एवं व्यावहारिक जैसे तीन विभिन्न नाम भी दे सकते हैं जिनकी ओर हम इसके पहले ही संकेत कर चुके हैं। तदनुसार इनमें से प्रथम अर्थात् कायिक वाले वर्ग के अंतर्गत उन योग-पद्धतियों की चर्चा की जा सकती है जिनमें शारीरिक अथवा शरीर, प्राण एवं शब्दादि जैसे साधनों के उपयोग की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है और जिनके अनुसार ऐसा करना अनिवार्य तक समझ लिया जाता है जिस कारण, साध्य मनःस्थिति का प्रश्न जहां पर कुछ गौण तक सा भी लगने लगता है। इस वर्ग में सर्वप्रथम 'हठयोग' का नाम लिया जा सकता है जिसमें विविध आसनों के द्वारा 'कायासाधन' किया जाता है। इसी प्रकार इसके अंतर्गत उन 'मंत्रयोग' एवं शब्दयोग वा 'प्रणवयोग' नामक प्रक्रियाओं का भी समावेश किया जा सकता है जिनमें विशिष्ट मंत्रों अथवा ॐकार के सुविहित उच्चारण और अनुष्ठान के आधार पर यह विश्वास कर लिया जाता है कि हम अपनी अभीष्ट सिद्धि को अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। इसके सिवाय इस प्रथम वर्ग में ही, हम उन योगों की भी गणना कर सकते हैं जो 'कुंडलिनी योग' एवं 'लययोग' के नामों से प्रसिद्ध हैं और जिन्हें कभी-कभी एक को दूसरे का पर्याय तक भी समझ लिया जाता है। इनके अनुसार साधना करने के फलस्वरूप

शक्ति एवं शिव का परस्पर मिल कर एक रूप बन जाना और इस प्रकार उस स्थिति को भी प्राप्त कर लेना संभव कहा जा सकता है जिसे हमने अपने शब्दों में 'रहस्यानुभूति' का नाम दिया है। इन दोनों के अनुसार यह प्रायः आवश्यक माना जाता है कि हम इनके लिए किन्हीं विशिष्ट आसनों का प्रयोग करें, प्राणायाम का अभ्यास करें। इस प्रकार अपनी अधोनिहित शक्ति को जागृत करके उसे उन्मुख करें और अंत में, उसे सुषुम्ना के सहारे ऊपर चढ़ाकर शीर्षस्थ शिवरूप में अवस्थित कर दें। साधारण हठयोग अथवा मंत्रयोग की दशा में ऐसे किसी परिणाम का सिद्ध होना शब्दों में बतलाया गया नहीं पाया जाता तथा उसका उद्देश्य केवल वैसी सिद्धियों को उपलब्ध कर लेना भी हो सकता है जिनके द्वारा शारीरिक शक्ति, सौंदर्य अथवा अलौकिक बल के आ जाने में भी विश्वास किया जाता है।

द्वितीय 'मानसिक' वर्ग के अंतर्गत गिने जाने वाले योगों में प्रथम नाम उस 'राजयोग' का लिया जा सकता है जिसे कभी-कभी 'पातंजलयोग' अथवा 'समाधियोग' भी कहते हैं तथा जिसकी विशिष्ट समाधिपरक मनःस्थिति की चर्चा, 'योग' शब्द के 'युज् समाधौ' के आधार पर व्युत्पत्ति होने के प्रसंग में की जा चुकी है तथा जिसके महत्त्व को योग-संबंधी अन्य दो वर्गों का वर्णन करने वालों ने भी स्वीकार किया है। राजयोग को 'अष्टांगयोग' का भी नाम दिया जाता है और इसके उन आठ अंगों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना की जाती है जो इसके किसी साधक के लिए साधारण उपक्रमों से लेकर अंतिम स्थिति तक की रूप-रेखा बनाने में सहायता पहुंचाते हैं। पातंजल योग सूत्रों में से प्रथम अर्थात् 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' द्वारा 'योग' की परिभाषा उस प्रक्रिया के माध्यम से दी गई है जिसमें न केवल हमारी साधारण मानसिक वृत्तियों को संयत रखने की ओर संकेत किया गया मिलता है, प्रत्युत जिसके परिणाम-स्वरूप अंत में, हमारे चित्त के किसी स्थिति विशेष में अवस्थित होकर उसके द्वारा 'कैवल्य' को उपलब्ध कर लेने का भाव भी आपसे आप आ जाता है। यह 'कैवल्य', 'स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्ति'[1] नाम से अभिहित किया गया है जो वस्तुतः चित्त का, विषयादि के बंधनों से रहित या मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में अवस्थित हो जाना कहा जा सकता है और यही वह साध्य भी जान पड़ता है जिसका विवेचन रहस्यवाद की साधना के प्रसंग में किया जा चुका है। इसी प्रकार, इस राजयोग के ही साथ, उस 'ध्यानयोग' की भी गणना की जा सकती है जो मूलतः इसके पहले बतलाये गए सातवें 'अंग' के ही रूप में घटित होता है, किंतु जिसके स्वरूप का अपने विशिष्ट ढंग से वर्णन करते हुए बौद्ध साधकों ने उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया है। इस 'ध्यानयोग' का एक विलक्षण रूप 'ज़ेन' नामक चीनी बौद्ध संप्रदाय की उस साधना में भी मिलता है जिसका उद्देश्य 'सतोरी' की स्थिति का प्राप्त कर लेना कहा जाता है। ऐसे योगों की विशेषता, इनके द्वारा किसी ऐसी मानसिक दशा के उपलब्ध करने में दीख पड़ती है जो हमारे लिए अपने जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विशेष निर्मित कर लेने में सहायक हो सकती है और इनकी ही कोटि में हम उन योगों को भी रख सकते हैं जो 'सुरति शब्दयोग' वा 'अद्भुतयोग' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

---

१. "पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" —'पातंजल योगसूत्र' (४-३४)।

इस द्वितीय वर्ग वाले मानसिक योगों के साथ रहस्यवादात्मक साधना का बहुत साम्य है, किंतु इसकी और भी अधिक समानता उन तीसरे वर्ग वाले योगों के साथ लक्षित होती है जिन्हें 'व्यावहारिक' का नाम दे आये हैं। इन व्यावहारिक योगों की विशेषता इस बात में देखी जा सकती है कि इनका क्षेत्र केवल मानसिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित न रहकर, प्रत्यक्ष व्यवहारों तक भी व्यापक बन जाता है। इस प्रकार ये न्यूनाधिक रूप में, हमारे संपूर्ण जीवन को ही प्रभावित करने लगते हैं तथा प्रायः उसके आमूल परिवर्त्तन भी ला दिया करते हैं। ऐसे योगों में हम उनकी गणना कर सकते हैं जो 'ज्ञानयोग', 'कर्मयोग', 'भक्तियोग' एवं 'प्रेमयोग' जैसे नामों द्वारा अभिहित होते हैं और जिनका उद्देश्य, क्रमशः ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा प्रेमपरक वृत्तियों के निर्माण द्वारा किसी ऐसी मनोदशा का प्राप्त कर लेना रहा करता है जो मानसिक वर्ग वाले योगों की भांति, केवल अपनी-अपनी सिद्धियों की प्राप्ति मात्र से ही संतुष्ट नहीं रह जाते, प्रत्युत जो साधारण जीवन के स्तर तक भी पहुंच जाते हैं। 'राजयोग' के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उसका लक्ष्य, वस्तुतः 'सम्प्रज्ञात' अथवा 'असम्प्रज्ञात' समाधियों के द्वारा किसी ऐसी कैवल्यपरक मनोदशा का प्राप्त कर लेना है जो हमें मोक्ष की स्थिति प्रदान करने में सहायक होती है और जिस कारण, वह बहुत कुछ व्यक्तिगत भी कहला सकती है। इसी प्रकार, यद्यपि हम ध्यान योग के परिणामस्वरूप 'निर्वाण' की दशा उपलब्ध करने का लक्ष्य सभी प्राणियों के दुःखों का क्षय हो जाना समझा करते हैं, तथापि इसमें संदेह नहीं कि वहां पर भी अपना मूल उद्देश्य आवागमन के चक्करों से अपनी मुक्ति का पा लेना ही रहा करता है। बौद्धों के 'ध्यानयोग' की सिद्धि का उपयोग समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ किया जा सकता है, इस कारण उसे हम कोरा व्यक्तिपरक ही नहीं कह सकते। परंतु वैसे उपयोगों का परिणाम वस्तुतः, किसी केवल एक ही प्रकार के आदर्शानुसार प्रतिफलित होना भी जान पड़ता है जिसका कारण वह एकांगी बन जा सकता है, किंतु जहां तक ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं प्रेमयोग जैसे योगों के स्वरूप का प्रश्न है, इनके साथ जुड़े हुए क्रमशः ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा प्रेम की साधनाएं अधिकतर हमारे संपूर्ण जीवन को ही एक विशिष्ट प्रकार का मोड़ प्रदान करने के काम आती हैं। इस प्रकार, ये किसी साधक के लिए कोई व्यक्तिपरक आदर्शमात्र उपस्थित न करके उसके साधारण एवं व्यापक रूप के निर्माण का व्यावहारिक साधन भी बन जा सकती हैं।

व्यावहारिक वर्ग वाले इन योगों के अंतर्गत हम वैसी कतिपय साधनाओं की भी गणना कर सकते हैं जिन्हें 'पूर्ण योग' वा 'पूर्णाङ्ग-साधना' जैसे नामों द्वारा अभिहित किया जाता है और जिनका उद्देश्य हमारे जीवन के प्रायः प्रत्येक पक्ष का पूर्ण विकास भी कहा जा सकता है। ऐसे योगों वाली साधनाएं न केवल शारीरिक अभ्यासों तक सीमित रहती हैं और न अधिक से अधिक मानसिक समाधि तक ही पहुंच कर ठहर जाती हैं। इनका लक्ष्य केवल किसी आध्यात्मिक वा ईश्वरीय सत्ता का किसी न किसी रूप में साक्षात् कर लेना मात्र भी नहीं कहा जा सकता। इनके लिए किसी प्रक्रिया-विशेष तक ही अपने यत्नों को संबद्ध रखकर उनसे काम निकालने का कोई बंधन भी नहीं रहा करता। इनमें सभी साधनों का उपयोग किया जा सकता है और समुचित मात्रा एवं समुचित अनुपात के साथ उन्हें अपने काम में लाकर वैसी किसी सत्ता का अनुभव भी किया जा सकता है। परंतु अपने मूल उद्देश्य की सिद्धि का केवल यहीं तक इतिश्री होकर नहीं रह जाता। ऐसे साधक

को इस प्रकार की दशा उपलब्ध कर लेने पर, अपनी किसी वैसी स्थिति का भी बोध होने लगता है कि हम अपनी जीवन-यात्रा के लिए किन्हीं नवीन संबलों से संपन्न हो चुके हैं। हमारी अपनी समग्र सत्ता पूर्णतः परिवर्द्धित हो चुकी है और इसका नवीन रूप उस विश्वात्मक सत्ता का रंग पकड़ चुका है जिसे हृदयंगम करने के यत्न में हम पहले अग्रसर होकर चले थे। अतएव, यदि वह अपने पूर्वागत जीवन के प्रवाह में फिर एक बार पड़ता है तो उसके अपने पूर्व परिचित व्यक्तिगत रंग का लोप हो गया रहा करता है और उसका अपना दैनिक व्यवहार तक भी इस प्रकार होने लगता है जैसे वह उस आदर्श सत्ता का वास्तविक माध्यम बनकर काम कर रहा हो। फलतः हमारी अपनी व्यक्तिगत सिद्धि का लक्ष्य न केवल विश्व-मानव की सिद्धि का हो जाता है, प्रत्युत यथार्थतः वह केवल 'व्यक्ति' मात्र कहलाने योग्य भी नहीं रह जाता।

रहस्यवाद की साधना, इस प्रकार अभ्यास में लाये जाने वाले अंतिम वर्ग के योगों में ही गिनी जा सकती है और यह 'सर्वाङ्ग साधना' भी कही जा सकती है। पश्चिमी देशों के रहस्यवादियों की अनुभूति का विश्लेषण करते हुए उधर के कई लेखकों ने ऐसी साधना का परिचय दूसरे प्रकार से दिया है। उनका मुख्य उद्देश्य, उधर के ईसाई रहस्यवादी संतों द्वारा प्रकट की गई मनोदशा के आधार पर, वस्तुतः उनकी ही विशिष्ट अनुभूति का परिचय देना रहता आया है। किंतु ऐसा करते समय उन्होंने अनेक उन बातों की भी चर्चा कर दी है जिन्हें हमने अभी भारतीय योगसाधनाओं के प्रसंग में बतलाया है। कुमारी अंडरहिल का कहना है कि "आदर्श वा प्रतिरूपक रहस्यवादी, अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते समय, कोई ऐसा मार्ग ग्रहण करता जान पड़ता है जो विभिन्न प्रकार की दोलायमान प्रवृत्तियों का परिचय देता है और इनमें क्रमशः हर्ष एवं वेदना इन दोनों के स्पष्ट लक्षण पाये जाते हैं।"[१] इस लेखिका ने ऐसे विचित्र मार्ग की विभिन्न पांच क्रमिक दशाओं का भी उल्लेख किया है और उन्हें क्रमशः १. परिवर्तन (Conversion), २. आत्मज्ञान (Self-knowledge), ३. उद्भासन (Illumination), ४. आत्मसमर्पण (Surrender) तथा ५. संयोग (Union) जैसे पांच नाम दिये हैं। इनमें से प्रथम को उसने किसी ऐसी अनुभूति के रूप में चित्रित किया है जो साधारणतः आप से आप हो जाया करती है और जिसमें हर्ष की दशा भी आ जाती है। किंतु दूसरी का परिचय देते समय, उसने कहा है कि इसमें कुछ ऐसे प्रयास भी किये जाते हैं जिनका उद्देश्य अपने मार्ग में आनेवाली बाधाओं का उच्छेदन रहा करता है और जिसे इसी कारण, अपने आपका अनुशासन, अभिभावन अथवा शुद्धीकरण (Purgation) भी कहा जा सकता है। उसके अनुसार ऐसे यत्नों का ही परिणाम अगली उस दशा में दीख पड़ता है जिसे 'उद्भासन' अथवा 'ईश्वरीय सत्ता के सान्निध्य का सूचक प्रकाश' कहा जा सकता है। परंतु, फिर इसके आगे की दशा में किसी साधक को एक बार अपनी उस विविक्तता (desolation) का भी अनुभव होने लगता है जिसमें उसे ऐसा लगता है कि मैं उस ईश्वरीय सत्ता द्वारा परित्यक्त कर दिया गया हूं जिस कारण, वह अधीर बनकर अपने आपको समर्पित कर दिया करता है। इस प्रकार, अंत में

---

१. "The typical mystic seems to move towards his goal through a series of marked oscillations between states of pleasure and states of pain." Mysticism, p. 168.

उसे अपनी वैसी स्थिति का भी बोध होने लगता है जिसे 'संयोग' वा 'मिलन' की दशा का नाम दिया गया है। इस अंतिम दशा का परिचय देते हुए कुमारी अंडरहिल ने इसका वर्णन किसी ऐसी दशा के रूप में किया है जो संतुलन की दशा कही जा सकती है और जिसे उसके शब्दों में Purely spiritual life अर्थात् विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन कहा जा सकता है तथा जिसमें एक ही साथ शांतिजन्य आनन्द, प्रवृद्ध आत्मशक्ति एवं असंदिग्ध निश्चय की विशेषताएं आ गई जान पड़ती हैं।[१]

इससे स्पष्ट है कि इस लेखिका द्वारा किया गया वर्णन उन कतिपय योग-साधनाओं के परिचय से भिन्न ठहरता है जिनकी चर्चा हमने इसके पहले की है तथा जिनके कई भिन्न-भिन्न रूपों की ओर हमने न्यूनाधिक संकेत भी कर दिया है। उन साधनाओं में से अंतिम अर्थात् व्यावहारिक वर्ग के योगों को हमने रहस्यवाद की साधना से सर्वाधिक मिलता-जुलता माना है और इसे हमने किसी पूर्ण साधना के वर्ग में भी रख दिया है। परंतु कुमारी अंडरहिल के वर्णन में हमें किसी इस प्रकार की विशेषता का भी कोई स्पष्ट परिचय मिलता नहीं प्रतीत होता। इसका कारण, संभवतः यह कभी नहीं बतलाया जा सकता कि पूर्व देशों के रहस्यवादियों के अनुभव वैसे पश्चिमी साधकों की अनुभूतियों से अधिक भिन्न होंगे और न उन्हें हमें यही कहने का कोई समुचित आधार मिल सकता है कि इन दोनों में से किसी एक को उच्चकोटि का तथा इसी प्रकार, दूसरे को निम्न-कोटि का होना चाहिए। इसका एक प्रमुख कारण इस बात में पाया जा सकता है कि पश्चिमी लेखकों के वर्णनों का आधार प्रधानतः वैसे उद्‌गारों में निहित हैं जो उधर के ईसाई रहस्यवादियों द्वारा समय समय पर प्रकट किये गए हैं तथा जो इसीलिए, बहुत कुछ आनुमानिक भी ठहराये जा सकते हैं, जहां भारतीय योगसाधनाओं के परिचय अधिकतर उन तात्विक सिद्धांतों पर आश्रित कहे जा सकते हैं जो इधर के लोगों द्वारा सदा मान्य रहते आये हैं। इसके सिवाय, हमें यहां पर ऐसा भी लगता है कि पश्चिमी लेखकों का उक्त विवेचन उनके उस विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अध्ययन का भी परिणाम हो सकता है जिसके अनुसार आंतरिक मानवीय भावों की पारस्परिक प्रतियोगिता के ऊपर अधिक बल दिया जाता है। मनोविज्ञान के प्रसिद्ध पंडित विलियम जेम्स ने ऐसी द्वन्द्वात्मक प्रवृतियों के ही कारण, किसी व्यक्ति के भीतर एक विचित्र Heterogeneous Personality अर्थात् पृथग्विध व्यक्तित्व का होना भी बतलाया है और कहा है, "मनुष्य का अंतस्तल उन दो प्राणांतक विरोध रखने वाली निजी सत्ताओं का युद्धस्थल है जिनका उसे सदा अनुभव होता रहता है और जिनमें से एक वास्तविक तथा दूसरा आदर्श रूपी कहा जा सकता है।"[२] इन दोनों का संघर्ष बराबर चलता रहा करता है जिस कारण, रहस्यवादी को भी इसके अनुसार क्रमशः भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव करने पड़ सकते हैं और वह केवल अपनी साधनाओं के ही बल पर इससे कभी मुक्त भी हो सकते हैं।

---

१. Do. p. 170.

२. "The man's interior is a battleground for what he feels to be two deadly hostile selves, one actual, the other ideal."—Varieties of Religious Experience p. 171.

कुमारी अंडरहिल ने इस द्वंद्वात्मक संघर्ष के बंद हो जाने तथा इस प्रकार पूर्ण, शांति का भाव आ जाने को ही संतुलन (Equilibrium) की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि पूर्वी देशों में पाये जाने वाले रहस्यवाद के अंतर्गत, इसके आगे आने वाली किसी अन्य दशा विशेष की भी कल्पना की जाती है और उसे उन्होंने Annihilation अर्थात् उच्छेद वा अवसाद कहना उचित समझा है। उसके द्वारा उन्होंने कदाचित्, सूफ़ी रहस्यवादियों के 'फ़ना' एवं बौद्ध साधकों के 'निर्वाण' संबंधी मान्यताओं की ओर संकेत किया है और इनमें से प्रथम का यूरोपीय रहस्यवादियों द्वारा स्पष्ट रूपमें निराकृत किया जाना भी लिखा है। इसी प्रकार इस लेखिका ने आगे चलकर, इसका एक स्पष्ट परिणाम भी निकाला है और यहां तक कह डाला है" "पश्चिम के रहस्यवादी साधकों के ईश्वरीय मिलन वाले सर्वश्रेष्ठ रूप किसी न किसी सक्रिय जीवन की ओर प्रेरणा प्रदान करते दीख पड़ते हैं और वे किसी ऐसे निश्चेष्ट जीवन की ओर नहीं ले जाते जिस बात को बड़े से बड़े विशेषज्ञों ने भी, ईसाई तथा उनसे भिन्न वर्ग वाले रहस्यवादियों के बीच वास्तविक अंतर ठहराते हुए स्वीकार किया है।"[1] परंतु उसका यह कथन सत्य के उतना निकट जाता नहीं जान पड़ता जितने का उसने अनुमान किया है और उसकी ऐसी भ्रांति का निराकरण आगे अन्य प्रसंग में किया जायगा। यहां पर केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि उक्त 'फ़ना' एवं 'निर्वाण' के यथार्थ अभिप्राय को समझने में अनेक अन्य यूरोपीय लेखकों ने भी भूल की है और अपनी भ्रांत धारणाओं के आधार पर उन्होंने कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी कर दिया है।

सूफ़ी रहस्यवादियों के यहां ऐसी साधना को ईश्वर के उन्मुख होकर की जाने वाली किसी सफ़र (यात्रा) की संज्ञा दी गई है और इसीलिए, उसके मार्ग में क्रमशः पड़ते जाने वाले विभिन्न स्थलों को 'मुक़ामात' अथवा 'पड़ावों' के रूप में बतलाया गया है। इन पड़ावों की संख्या निश्चित करते समय लेखकों ने कभी-कभी मतभेद प्रदर्शित किया है, किंतु अधिकतर उन्हें सात कहने की परंपरा पायी जाती है। उनके नाम इस प्रकार दिये गए मिलते हैं: (१) 'उबूदिय्यत' अथवा 'अनुताप की दशा' जिसमें साधक अपने को, आगे के लिए तैयार हो जाने के उद्देश्य से, हृदय से शुद्ध करने की चेष्टा करता है, (२) 'इश्क़' (प्रेम) की दशा जिसमें यह ईश्वर के प्रति अनुरक्ति का भाव ग्रहण करता है, (३) 'जुहद' वा 'त्याग' की दशा जिसमें वह सांसारिक विषयों की ओर से पूर्ण विरक्त बन जाना चाहता है, (४) 'मारिफ़त' अर्थात् 'ज्ञान की दशा' जिसे प्राप्त कर लेने पर वह परमात्मा के अलौकिक गुणों की भावना करने लग जाता है, (५) 'वज्द' अथवा 'भावावेश की दशा' जिसमें आकर वह ईश्वर वा परमात्मा के साथ प्रायः एकत्व का बोध करने लगता है, (६) 'हक़ीक़त' वा 'वास्तविकता की दशा' जिसमें उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान हो जाता जान पड़ता है और (७) 'वस्ल' अर्थात 'मिलन' की वह दशा जिसमें आकर उसे उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लग जाती है। इस प्रकार, इन सातों के विषय में कुछ और विचार करने पर पता चलता है कि इनमें से प्रथम एवं अंतिम अर्थात् क्रमशः

१. "In the mystics of the west, the highest forms of divine union impel the self to some sort of active rather than passive life; and this is now recognized by the best authorities as the true distinction between Christian and non-Christian mystics." 'Mysticism', p. 172.

'उबूदिय्यत' और 'वस्ल' ईसाई रहस्यवादियों वाले Conversion एवं Union जैसे लगते हैं। इनमें से चतुर्थ एवं पंचम अर्थात् क्रमशः 'मारिफ़त' और वज्द' तथा ईसाइयों के Self-knowledge एवं Illumination में भी उतना अंतर नहीं लक्षित होता। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो इनमें से द्वितीय अर्थात् 'इश्क़' भी उनके Surrender की कोटि में रखा जा सकता है जिसके अंतर इनमें से केवल तृतीय 'ज़ुहद' और षष्ठ 'हक़ीक़त' ही शेष रह जाते हैं। अतएव, यदि 'ज़ुहद' को विषय त्याग के रूपमें केवल किसी तैयारी की एक चेष्टा-मात्र स्वीकार कर लिया जाय तथा उसी प्रकार 'हक़ीक़त' को भी इसके चतुर्थ सोपान 'मारिफ़त' का ही एक अंग मान लिया जाय तो इन दोनों सूचियों में कोई वैसा प्रत्यक्ष अंतर नहीं जान पड़ता। जो कुछ मतभेद हो सकता है वह इन दोनों में आये हुए विभिन्न शब्दों की अर्थ व्याप्ति के संबंध में ही हो सकता है। तथ्य यह है कि ऐसे प्रत्येक शब्द के साथ उसे प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों की अपनी-अपनी भावनाएं बंध गई रहा करती हैं और उन भावनाओं के पीछे विभिन्न सामाजिक परंपराएं भी काम करती रहती हैं जिनके प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करना कभी, किसी वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करते समय उचित नहीं कहला सकता।

मुख्य प्रश्न तो यहां पर यह है कि ऐसी किसी भी साधना-पद्धति की अंतिम उपलब्धि का स्वरूप क्या हो सकता है ? क्या, ईसाई रहस्यवादियों की मान्यता के अनुसार प्राप्त की गई Union अर्थात् मिलन की दशा का अभिप्राय ठीक वही हो सकता है जो सूफ़ी रहस्यवादियों के 'वस्ल' शब्द द्वारा सूचित होता है ? तथा क्या इन दोनों के किसी प्रकार एकसमान सिद्ध किये जाने पर भी, हम इन्हें उस 'कैवल्य' अथवा 'स्वानुभूति' की दशा का समानार्थी भी स्वीकार कर ले सकते हैं जिसकी चर्चा भारतीय रहस्यवादियों की योगपरक साधनाओं के प्रसंग में की जा चुकी है ? इसके सिवाय इस संबंध में, एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न भी विचारणीय है कि ईसाई रहस्यवादियों के उक्त Path वा साधना-मार्ग अथवा सूफ़ी साधकों के उक्त 'सफ़र' वा यात्रा के प्रसंग में बतलाये गए क्रमिक स्थल अथवा दशाओं को हम वस्तुतः किसी साधना का नाम कहां तक दे सकते हैं और कहां तक हम उन्हें उन आध्यात्मिक यत्नों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिनका परिचय उस समय दिया गया है। यदि हम इस पर किसी स्थूल रूप में भी विचार करने लगें तो ऐसा करना कभी युक्तिसंगत नहीं कहला सकता। यौगिक साधनाएं, जहां किन्हीं प्रयासों अथवा अभ्यासों के रूप में की जाती हैं, वहां 'साधना-मार्ग' केवल उनके लिए किसी पद्धति-विशेष की ओर संकेत कर सकता है और इसी प्रकार, उक्त 'यात्रा' का अर्थ भी केवल इतना ही हो सकता है कि वह उन्हें किसी सामूहिक रूप में प्रकट करे। ये तीनों कभी समानार्थक नहीं हो सकते, परंतु जैसा हमने अभी तक देखा है, ऐसी सूचियों में आये हुए शब्दों के अर्थ का सभी दशाओं में, सीमित रहना अनिवार्य नहीं है। स्वयं 'योग' शब्द जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ किसी मिलन-दशा का परिचय देता है, वैसी साधना के लिए भी व्यवहृत होता आ रहा है जिससे वैसा 'मिलन' संभव हो सके। इसी प्रकार, यद्यपि ईसाई एवं सूफ़ी रहस्यवादियों से संबद्ध सूचियों के अंतर्गत अधिकतर विभिन्न 'दशाओं' के ही नाम आये हैं, किंतु इनके शीर्षक क्रमशः 'साधना-मार्ग' एवं 'यात्रा' के रूपों में ही दिये गए मिलते हैं। अतएव जिस प्रकार कायिक एवं मानसिक योग-साधनाओं के साथ यमनियमादि के अभ्यास का रहना तथा उसके मूलस्वरूप किसी अनुकूल दशा का पाया जाना भी आवश्यक होता है

और जिस प्रकार व्यावहारिक वर्ग के योगों के लिए सदा कायिक एवं मानसिक वर्ग के अभ्यास अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं समझे जा सकते, उसी प्रकार उक्त साधना-मार्ग एवं यात्रा के प्रसंगों में भी हम किन्हीं विशिष्ट साधनाओं के समावेश की चर्चा नहीं किया करते, प्रत्युत वहां उनका अनुमान-मात्र ही कर लिया करते हैं। यौगिक साधनाओं के कुछ अभ्यास ईसाई संतों तथा सूफ़ी साधकों वाली उक्त दशाओं के साथ प्रायः वर्णित भी दीख पड़ते हैं।

इसी प्रकार जहां तक ऐसी साधनाओं के अंतिम परिणाम-संबंधी स्वरूप निर्णय का प्रश्न है, हम इसका निपटारा भी, कुछ अंशों तक उन सूचियों में पाये जाने वाले अनेक शब्दों के आधार पर ही कर सकते हैं जिन्हें ईसाई एवं सूफ़ी रहस्यवादी साधकों की चर्चा करते समय प्रस्तुत की जा चुकी हैं। उनमें आये हुए प्रत्येक शब्द के आशय अथवा उसकी अर्थ-व्याप्ति के सहारे हम कम से कम, इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि वे कहां तक हमें किसी प्रक्रिया वा स्थिति विशेष का बोध कराते हैं। इसी प्रकार, वे कहां तक हमें उस लक्ष्य वा साध्य के स्पष्ट परिचय की ओर भी संकेत करते हैं जिसकी अथवा जिसके सान्निध्य की अनुभूति को उक्त Union एवं 'वस्ल' शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया गया दीख पड़ता है। रहस्यवादी साधना का प्रसंग छेड़ने के पहले हमने इसके साध्य का रूप ऐसा बतलाया था जिसे वस्तुतः न केवल अस्पष्ट, प्रत्युत अनिश्चित भी कहा जा सकता है तथा जिसकी कल्पना करने लगने पर हम उसे कोई आकार-प्रकार प्रदान नहीं कर सकते। परंतु जब हम उसके लिए की जानेवाली साधनाओं की चर्चा करते हैं और उनके साथ उसके संबंध का निर्णय करते समय उनके अंतर्गत 'संयोग' एवं 'मिलन' तथा Union एवं 'वस्ल' जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया देखते हैं तो हमें स्वभावतः उसकी साकारता तथा उसके किसी न किसी स्पष्ट व्यक्तित्व तक का भी बोध होने लग जाता है और हमारी पूर्वगत समस्या एक अन्य रूप ग्रहण कर लेती है। अब हमारे प्रश्न का रूप यह हो जाता है: 'यदि वह साध्य वास्तव में निराकार है अथवा यदि कम से कम उसके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता तो उसके साथ किसी के 'मिलन' का तात्पर्य क्या हो सकता है? अथवा यदि हम चाहें तो इसे यह रूप भी दे सकते हैं कि 'किसी अस्पष्ट सत्ता के साथ मिलन का क्या अर्थ ही हो सकेगा?' इस प्रकार जिस 'विलक्षण' शब्द का प्रयोग हमने रहस्यवादी साधना के साध्य का स्वरूप-निर्णय करते समय किया था उसका व्यवहार हमें अब स्वयं ऐसी साधना का रूप निर्धारित करते समय भी करना पड़ सकता है। अतएव ऐसी दशा में, हम इन साधनाओं की कोटि में गिनी जानेवाली अथवा तदनुकूल मनःस्थितियों को सूचित करनेवाली सारी बातों का विस्तृत विवेचन करना उतना आवश्यक नहीं समझते, प्रत्युत अपने समक्ष खड़ी हुई केवल उसी एक समस्या के समाधान की चेष्टा करना यहां पर्याप्त समझ लेते हैं।

(३) रहस्यानुभूति का स्वरूप

रहस्यवाद के साध्य का परिचय देते समय हमने उसे 'अवाङ्‌ मनस गोचर' कह डाला था तथा उसके विषय में 'नेति नेति' कहकर इसे 'अलम्' समझ लेना तक उपयुक्त मान लिया था, जिससे स्पष्ट है कि हम उसका कोई आकार-प्रकार बतला सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसके सिवाय हमने अभी यह भी बतलाया है कि सूफ़ी रहस्यवादी उसके साथ 'मिलन' की अवस्था

को 'फ़ना' का नाम देते हैं। इसी प्रकार, बौद्ध सिद्धों की दृष्टि में उस दशा को 'निर्वाण' की संज्ञा दी जाती है जिसे यूरोपीय लेखकों ने साधारणतः Annihilation वा 'उच्छेद' का होना माना है। अतएव, इनमें से किसी भी दशा में हमें रहस्यानुभूति के स्वरूप का कोई स्पष्ट बोध होता नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत हमें कभी-कभी ऐसा भी समझ पड़ने लगता है कि रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य किसी ऐसी विचित्र स्थिति का प्राप्त कर लेना होगा जो सर्वथा नष्ट हो जाने-मात्र की ही होगी तथा जिसके अनुसार विचार करने पर उसका हमारे मानव-जीवन की दृष्टि से किसी प्रकार उपयोगी हो पाना सिद्ध नहीं है। परंतु जब हम देखते हैं कि रहस्यवाद का महत्व न केवल संसार के किसी एक भाग में, प्रत्युत इसके अनेक भागों वाले समाज में भलीभांति स्वीकार किया जा चुका है तथा प्रायः सभी प्रमुख धर्मों के अंतर्गत इसके किसी न किसी रूप का अस्तित्व पाया जाता है और इसकी स्थिति का सोल्लास वर्णन किया जाना तक हमें उपलब्ध होता है, उस दशा में हमें अपनी उक्त धारणा में संदेह होने लगता है। इसलिए हम यहां पर पहले यह समझ लेना चाहते हैं कि रहस्यवाद की अनुभूति में आ जाने वाले उसके साध्य के 'अवाङ्‌ मनस गोचर' कहे जाने अथवा उसके विषय में 'नेति नेति' जैसे वाक्यों का प्रयोग करने का वास्तविक अभिप्राय क्या है ? तथा इसी प्रकार, उक्त 'फ़ना' अथवा 'निर्वाण' की स्थितियों के वास्तविक स्वरूप से हमारा क्या अभिप्राय है ? और उस दशा में हमारा 'मिलन' शब्द भी क्या अर्थ रखता है ? इस प्रश्न का हल किये बिना न तो हम रहस्यवाद के 'साध्य' का ठीक-ठीक परिचय पा सकते हैं और न हमें इस बात का ही कोई ठीक पता लग सकता है कि जिस साधना के विषय में हम अभी तक इतनी लंबी चर्चा करते आये हैं उसके परिणाम 'रहस्यानुभूति' का स्वरूप क्या है।

सूफ़ियों द्वारा प्रयुक्त होने वाला 'फ़ना' शब्द संभवतः सूफ़ी संत अबू यज़ीद विस्तामी के समय से प्रसिद्ध है जिसे वायाज़ीद अल् विस्तामी भी कहा जाता है और जिसकी मृत्यु का होना सन् ८७४ वा ८७५ ई० में बतलाया जाता है तथा जिसके पितामह शर्वसान का जरथुस्त्री होना और भारतवर्ष तक आना भी कहा गया है जिसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वह भारतीय विचारधारा द्वारा मूलतः प्रभावित भी हो सकता है। वायाज़ीद अल् विस्तामी के लिए यह भी कहा जाता है कि दार्शनिक दृष्टि से वह एक सर्वात्मवादी अथवा Pantheist रहा, क्योंकि उसकी कुछ उक्तियां इस प्रकार की भी मिलती हैं कि "मेरे इस वस्त्र वा पर्दे के नीचे सिवाय ईश्वर के और कुछ भी नहीं है", "अहा, मेरा क्या ही ऐश्वर्य है और मेरी राजश्री कितनी उच्चकोटि की है।" तथा "वास्तव में मैं स्वयं परमेश्वर स्वरूप हूं और मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा परमेश्वर नहीं है, मेरी ही उपासना करो"[1] आदि। सूफ़ी संत अत्तार की पुस्तक 'तज़किरातुल औलिया' से पता चलता है कि वायाज़ीद भारतीय योग साधनाओं से परिचित था, वह भारतवर्ष में आकर कुछ दिनों तक रह चुका था और प्राणायाम की साधना का अभ्यास भी कर चुका था। उसका गुरु सिंध निवासी अबू अली था। इस प्रकार उसका बौद्धों के 'निर्वाण' शब्द से परिचित होना तथा उसके रहस्य का जान पाना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वयं सूफ़ी अत्तार की ही एक अन्य पुस्तक 'मंतिकुत्तैर'

---

१. Dr. J. A. Subhan : Sufism : Its Saints and Shrines (Lucknow 1960) p. 21.

से पता चलता है कि 'फ़ना' से वह क्या समझता रहा होगा। इस पुस्तक के अंतर्गत सूफ़ियों की उक्त यात्रा का एक वर्णन किसी काल्पनिक ढंग से किया हुआ पाया जाता है। इसमें कहा गया है कि एक बार सभी पक्षियों ने मिलकर अपने में से किसी पक्षी विशेष को अपना नेता स्वीकार किया और उसके पथ-प्रदर्शन में वे सभी अपने 'रहस्यमय राजा' से भेंट करने चल पड़े। उन्हें अपने उस मार्ग में 'अनुसंधान', 'प्रेम', 'रहस्यानुभूति', 'अनासक्ति', 'एकत्व', आश्चर्य' एवं 'फ़ना' जैसे नामों वाली सात घाटियां मिलीं तथा अपने लक्ष्य 'सी-मुर्ग' के सान्निध्य तक पहुंचते-पहुंचते, उनमें से केवल तीस मात्र ही बच रहे। यहां पर 'सी मुर्ग' का शाब्दिक अर्थ भी 'तीस पक्षी' ही होता है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस लक्ष्य तक पहुंचने में यात्री कृतकार्य हुआ वह स्वयं अपने स्वरूप मात्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।[१] 'सी मुर्ग' शब्द एक पक्षी विशेष का भी नाम है जिसके संबंध में कई कथाएं प्रचलित हैं तथा जिसकी चर्चा फ़िरदौसी कवि के महाकाव्य 'शाहनामा' में भी की गई मिलती है।

परंतु यहां पर हमें वैसे किसी पक्षी का अस्तित्व होने अथवा न होने के साथ कोई संबंध नहीं है। हमें इस कहानी के आधार पर, केवल इतना ही समझ लेना है कि 'फ़ना' शब्द जिसकी व्याख्या के प्रसंग में इसका उपयोग किया जाता है उससे यहां पर क्या अभिप्राय हो सकता है। इस कहानी के अंत में कहा गया है कि "पक्षियों का समूह जब अपने लक्ष्य तक पहुंच गया तो उसे विदित हुआ कि जिस 'सी मुर्ग' की प्राप्ति के लिए उसने इतना घोर प्रयास किया था वह स्वयं उसके ही अस्तित्व तक सीमित कहा जा सकता है अर्थात् अपनी यात्रा का परिणाम उसे इस रूप में ही दीख पड़ा कि वह 'सी मुर्ग' वस्तुतः वही है अर्थात् उसकी वस्तुस्थिति का ही परिचायक है और इस प्रकार उसमें सम्मिलित पक्षियों का अपना पूर्व विचार बदल देना पड़ा। यहां पर सूफ़ी अत्तार का कथन है कि जब वे पक्षी 'सी मुर्ग' के राजमंदिर वाले द्वार तक पहुंचे और वहां राजा के सम्मुख उनके अपने किये कर्मों का सुरक्षित लेखा-जोखा सुनाया गया तो अपने कर्मों का वैसा परिचय पाकर वे अत्यंत लज्जित हो गए और उनके शरीरादि सभी का लय हो गया। किंतु इस प्रकार अपना शुद्धीकरण वा पवित्रीकरण हो जाने पर उन्हें अपना पूर्वरूप ही परिवर्तित कर देना पड़ा और उन्हें एक 'नया जीवन' मिल गया जो उनके ईश्वरीय ज्योति के समक्ष आ जाने का परिणाम रहा। उन्हें इस बात में आश्चर्य हुआ कि जो कुछ वे तब तक कर चुके थे अथवा जो कुछ उन्हें करना शेष रह गया था वह संपूर्ण नष्ट हो गया और उन्होंने अपने लिए एक सर्वथा नवीन जीवन पा लिया। ईश्वर के सान्निध्य का सूर्य उनके ऊपर प्रकाशित होगया और उनका जीवन उद्दीप्त हो गया तथा वस्तुतः अपने ही प्रकाश में उन्होंने 'सी मुर्ग' को इस रूप में देखा कि उसका वैसा (अर्थात् 'सी मुर्ग' शब्द का अर्थात् 'तीस पक्षी') होना केवल इस बात का द्योतक है कि जो हम हैं वही वह है और जो वह है वही हम भी हैं। आश्चर्य द्वारा पूर्णतः अभिभूत हो जाने के कारण उन्हें यह न विदित हो सका कि वे वास्तव में, यह है वा वह है। उन्होंने तब 'सी मुर्ग' से इस रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए निवेदन किया जिस पर उसने बतलाया कि उनकी प्रकृति किसी दर्पण के समान है और वे स्वयं अपनी ओर ही देखकर इस बात का भी ठीक पता लगा सकते हैं कि उनका वास्तविक रूप क्या है" अर्थात् वे सभी तीसों पक्षी

---

१. Do. pp. 33-4.

अंत में, 'सी मुर्ग' में जाकर विलीन हो गए और उनके व्यावहारिक अस्तित्व की छाया उस सूर्य के वास्तविक अस्तित्व में आकर सर्वथा म्लान पड़ गई[1] तथा अंतर्हित हो गई।

इस प्रकार यदि बायाज़ीद बिस्तामी एवं अत्तार की फ़ना विषयक धारणाएं एक समान हों उस दशा में वह कदाचित् निषेधात्मक ही कही जा सकती हैं। अल् हुज्विरी के अनुसार सय्यद खर्राज भी 'फ़ना' संबंधी मत का प्रचार करने वालों में से प्रमुख था और उसका कहना था कि "फ़ना से अभिप्राय 'उबूदिय्यत' अथवा अपने मनुष्यत्व के ज्ञान का अभाव हो जाकर 'इलाहियत' अर्थात् ईश्वरत्व विषयक ध्यान में मग्न हो जाना है" जिसकी व्याख्या करते हुए 'कश्फल महजूब' के अंतर्गत बतलाया गया है कि फ़ना की दशा के आ जाने पर साधक को अपनी मानवीय अपूर्णताओं का पूरा बोध हो जाया करता है और इस प्रकार वह अपनी सारी चेष्टाओं को ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा अनुप्राणित समझने लगा करता है। उसके सभी कार्य ईश्वरीय कार्य जैसे बन जाते हैं और वह ईश्वरीय सौंदर्य के द्वारा परमात्म तत्व में स्वयं अधिष्ठित सा बन जाया करता है।[2] इसी प्रकार 'फ़ना' के विषय में अनेक अन्य लेखकों ने भी अपने-अपने मत प्रकट किये हैं। किसी-किसी का कहना है कि यह केवल 'किसी सूफ़ी साधक द्वारा अपने गुणों का अपना होने से अस्वीकार किया जाना मात्र है' जहां दूसरे ने इसे केवल 'अपनी अहंता का लोप हो जाना' कहा है तथा तीसरे ने इस बात को यों भी कहा है कि 'फ़ना की दशा में किसी ऐसे साधक का अपनापन, अपने गुण तथा अपने कार्य इन सभी का लोप होकर ईश्वर का अपनापन, गुण एवं कार्य बन जाया करता है"[3] जिस मत को अनेक अन्य सूफ़ी लेखकों ने भी स्वीकार किया है। ऐसे सूफ़ियों के मतों का गंभीर अध्ययन करनेवाले अंग्रेज लेखक निकोल्सन ने एक स्थल पर कहा है कि "फ़ना की दशा में अपनी आत्मा ईश्वरोन्मुख हो जाया करती है और वैसे साधक की सारी आकांक्षाएं, उसके स्वार्थ एवं मोहादि आपसे आप नष्ट हो जाया करते हैं। इस प्रकार वह आत्मचिंतन से विरत हो जाया करता है तथा इसका परिणाम यह होता है कि वह स्वयं अपने प्रियतम परमात्मा के ही चिंतन का विषय बन जाता है और प्रेमी तथा प्रेमपात्र दोनों के बीच 'एकमेक' की स्थिति आ जाती है।"[4] अतएव इस प्रकार विचार करने पर 'फ़ना' की दशा को केवल निषेधात्मक मात्र ठहरा देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत भ्रमात्मक तक भी कहा जा सकता है।

'फ़ना' शब्द के अभिप्राय को पूर्णतः हृदयंगम करने के लिए उसके साथ व्यवहृत होने वाले 'बक़ा' शब्द के अर्थ का समझ लेना भी नितांत आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जब कोई लेखक उसका वर्णन करने लगता है उस दशा में, उसके सामने यह प्रश्न भी आ जाता है कि यदि हम 'फ़ना' से तात्पर्य किसी प्रकार 'क्षय का हो जाना' मानें तो, फिर इसका अंतिम परिणाम क्या होगा? अतएव ऐसे लोग स्वभावतः इन दोनों शब्दों का व्यवहार एक साथ किया करते हैं और एक के द्वारा किसी अभावात्मक स्थिति की कल्पना करा कर दूसरे के द्वारा उसी क्षण, सर्वथा भावात्मक स्थिति का बोध हो जाना

---

१. Dr. J. A. Subhan : Sufism : Its Saints and Shrines, pp. 34-5.

२. Do. pp. 83-4.

३. Khafi Khan : Studies in Tasawwuf, p. 73.

४. R. A. Nicholson : The Idea of Personality in Islam, p. 18.

भी बतला दिया करते हैं। सूफ़ी लोग, अपने इस्लामी संस्करों के कारण, प्रायः सनातन-पंथी बना रहना ही अधिक पसंद करते हैं और वे यह नहीं चाहते कि 'फ़ना' की स्थिति का नितांत अभावात्मक अथवा निषेधात्मक अर्थ लगाकर अपना परमात्मतत्व के साथ मिलकर एकमेक हो जाना स्वीकार कर लें। फिर भी इस प्रश्न को लेकर उनमें बहुत कुछ मतभेद खड़ा हो गया दीख पड़ता है और संभवतः यही कारण इस संबंध में भ्रम उत्पन्न हो जाने तथा उनके मतों का सम्यक् समीक्षा न करके 'फ़ना' को केवल किसी निषेधात्मक अर्थ में स्वीकार करने का भी हो सकता है। 'फ़ना' एवं 'वक़ा' की स्थितियों का वेदांत मतानुसार मुक्ति विषयक मतों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए डॉ० रमा चौधुरी नामक एक बंगाली विदुषी लेखिका ने बतलाया है कि "संक्षेपमें, ईश्वर एवं जीव-जगत् के संबंध में सूफ़ियों के चार प्रधान मत देखने में आते हैं जिनमें से प्रथम के अनुसार ईश्वर एवं जीव जगत् स्वरूपतः एवं गुणतः संपूर्ण रूप से भिन्न-भिन्न हैं, दूसरे के अनुसार दोनों एक दूसरे से स्वरूपतः एवं गुणतः संपूर्ण रूप से अभिन्न हैं, और जीव-जगत् सत्य है, तीसरे के अनुसार, दोनों स्वरूपतः एवं गुणतः संपूर्ण रूप से अभिन्न है, किंतु जीवजगत् मिथ्या है और इसी प्रकार, चौथे के अनुसार दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं, किंतु गुणतः अभिन्न है।[१]" अतएव डॉ० चौधुरी का कहना है कि इनमें से प्रथम को हम कुछ अंशों में मध्व मत के समान और उसी प्रकार, द्वितीय को वल्लभमत के अनुरूप ठहरा सकते हैं तथा तृतीय को कुछ न कुछ शांकराद्वैत मत के निकट पहुंचता एवं चतुर्थ को रामानुज एवं निंबार्क तक के मतों के समान प्रतीत होता बतला सकते हैं। इस कारण सूफ़ियों की 'फ़ना' विषयक धारणा को हम इस प्रकार भी सहसा निषेधात्मक ही नहीं मान ले सकते।

इसी प्रकार, हम यदि 'निर्वाण' शब्द का वास्तविक अभिप्राय समझने की चेष्टा करें तो उस दशा में भी हमें यही पता चलेगा कि इसके विषय में भी अनेक लेखकों की धारणा ठीक एक सी नहीं रहती आई है और यहां पर भी उन्होंने इसे केवल निषेधात्मक रूप देकर बहुत बड़ी भूल कर दी है। इस 'निर्वाण' शब्द के संबंध में विचार कर लेना, इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि इसे प्रायः 'फ़ना' शब्द का मूलाधार मानने की परंपरा है। 'निर्वाण' शब्द की व्याख्या में अब तक बहुत अधिक लिखा जा चुका है और इसी कारण, इस विषय में बहुत मतभेद भी दीख पड़ता है। परंतु हम यहां पर केवल कुछ ही प्रमुख मतों की चर्चा करेंगे और उसके आधार पर कुछ न कुछ परिणाम निकालने की चेष्टा भी कर लेंगे। इस शब्द का ठेठ उत्पत्तिमूलक अर्थ 'किसी दीपक का बुझ जाना' समझा जाता है जिसका तात्पर्य किसी ज्योति का नष्ट हो जाना भी कहा जा सकता है। यदि केवल इसी अर्थ पर आश्रित रहा जाय तो हम कदाचित्', उस भाव को कभी हृदयंगम नहीं कर पा सकते जो इसके साथ जुड़ गया जान पड़ता है। डॉ० एडवर्ड ने टामस के अनुसार "इस शब्द का अर्थ 'निर्' एवं 'वृ' अथवा 'नि' एवं 'वृ' अर्थात् शांत, आनंदित और विच्छिन्न की दशा सूचित कर सकता है। इसी कारण, निर्वाण प्राप्त कर लेने के लिए 'परिनिर्वृत्त' जैसे परिनिष्ठित शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। अतएव, किसी भी दशा में यह किसी व्यक्ति के नष्ट हो जाने का अर्थ नहीं रखता"[२]

---

१. डॉ० रमा चौधुरी : 'वेदांत ओ सूफ़ी दर्शन' (कलिकाता, १९४४), पृ० ९८-११३।

२. Dr. Edward J. Thomas : The History of Buddhist Thought (London 1951) pp. 123-4.

जिसके कारण इसके विषय में इतना भ्रम फैल गया दीख पड़ता है। डॉ० टामस ने ऐसे अनेक मतों की आलोचना की है और उसके परिणामस्वरूप अपना यह मत निर्धारित करने की चेष्टा की है। इस 'निर्वाण' का ऐसा अर्थ उन दो प्रसिद्ध श्लोकों द्वारा भी सूचित होता है जो अश्वघोष की रचना बतलाये गए हैं और जिन्हें इस रूप में उद्धृत किया जा सकता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिंगच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिंगच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

अर्थात् जिस प्रकार कोई दीपक निवृत्त होकर न तो पृथ्वी की ओर आता है और न आकाश की ओर अथवा वह दिशा-विदिशा की ओर नहीं प्रयाण करता है, प्रत्युत तैल का क्षय हो जाते ही, वह केवल शांत हो जाया करता है, उसी प्रकार कोई कृती भी निर्वृत होकर न तो पृथ्वी की ओर आता है और न आकाश की ओर अथवा वह दिशा-विदिशा की ओर प्रयाण नहीं करता है, प्रत्युत वह भी क्लेशों का क्षय हो जाने पर, केवल शांत बन जाया करता है।

'निर्वाण' शब्द का वास्तविक अर्थ समझने के लिए हमें उन परिस्थितियों का भी अध्ययन करना पड़ सकता है जिनके कारण, इसकी अर्थ व्याप्ति के संबंध में गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण हो जाने के अनंतर बहुत पीछे तक भी, न्यूनाधिक मत-परिवर्त्तन होता चला आया और बौद्ध धर्म के चीन, जापान जैसे विभिन्न देशों तक प्रचलित हो जाने पर इसके विषय में पर्याप्त मतभेद लक्षित होने लगा। डॉ० टाकाकुसू ने अपनी एक पुस्तक में ऐसे मतों की ओर भी संकेत करते हुए उनमें अंतर दिखलाने का यत्न किया है और एक स्थल पर इस प्रकार कहा है, "बौद्ध धर्म की प्रमुख समस्या चाहे वह उसके उपचारवादी संप्रदायों के समक्ष हो अथवा आदर्शवादी वर्गों के ही सामने क्यों न खड़ी हुई हो, केवल मानवीय मनोविकार के क्षय हो जाने से संबद्ध थी, क्योंकि चित्त का विकृत बना रहना ही मानव-जीवन के सभी दोषों का मूल स्रोत समझा जाता था। ये मानवीय मनोविकार किसी व्यक्ति के जीवनकाल की अवधि में ही दूर कर दिये जा सकते थे जिस कारण, मन की इस दुरवस्था से मुक्ति पा जाना बौद्ध संस्कृति का चरम लक्ष्य बन गया। अतएव, मनोविकार, आकांक्षा, इन्द्रिय, मन और यहां तक कि व्यक्तिगत चेतना तक के निर्वाण की चर्चा बहुधा की जाने लगी।"[१] उन्होंने अन्यत्र यह भी कथन किया है कि 'निर्वाण' का अर्थ उसके एक परिनिष्ठित रूप में, यह प्रकट करता है कि मानवीय विकारों के नष्ट हो जाने पर भी उसकी सत्ता की उपाधि का अस्तित्व बना रह जाना सिद्ध है। अतएव हम इस बात को स्पष्ट रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि इसका अभिप्राय किसी व्यक्ति का जीवित रहते हुए भी, मनोविकारों से रहित हो हो जाना है[२] जिससे 'निर्वाण' शब्द का भी केवल निषेधात्मक अर्थ के ही साथ प्रयुक्त न होना प्रमा-

---

१. Dr. Junjioo Takakusu : 'The Essentials of Buddhist Philosophy' (Bombay 1956) p. 49.

२. p. 53.

णित हो जाता है। डॉ० दास गुप्त ने तो इस प्रकार भी लिखा है, "बौद्ध मत की दृष्टि से ऐसी समस्या का रूप यह नहीं हो सकता कि हम किसी रूप में शाश्वत काल तक वर्त्तमान रहते हैं अथवा नहीं रहा करते, क्योंकि ऐसा समझना उसके अनुसार धर्म-विरुद्ध ठहराया जा सकता है। भला यह कैसे माना जा सकता है कि जो तथागत है वह शाश्वत काल तक रहता है अथवा अशाश्वत हुआ करता है, वह विद्यमान है और नहीं भी विद्यमान है तथा न तो वह विद्यमान है और न नहीं विद्यमान है। जो कोई इस बात का प्रश्न उठाता है कि 'निब्बाण' (निर्वाण) या तो भावात्मक और शाश्वत दशा को सूचित करता है अथवा केवल अभावात्मक एवं क्षयात्मक रूप की ओर संकेत करता है वह एक ऐसा मत प्रकट करना चाहता है जिसे बौद्ध धर्म के अंतर्गत धर्म-विरुद्ध मानकर सर्वत्र हेय ठहराया जाता है"[१] और इसके द्वारा 'निर्वाण' के वास्तविक रूप के ऊपर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

अतएव, 'फ़ना' अथवा 'निर्वाण' इन दोनों में से किसी को भी हमारा 'अभावात्मक स्थिति' मात्र ठहरा देना उचित नहीं कहा जा सकता। इन दोनों के ही लिए हम केवल किसी ऐसी दशा में आ जाने का ही अनुमान कर सकते हैं जिसे न तो हम भावात्मक कह सकते हैं और न अभावात्मक ही बतला सकते हैं, अपितु जो इन दोनों से परे की कोई ऐसी चरमावस्था हो सकती है जिसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह स्थिति, वस्तुतः उस दशा का भी परिचय दिला सकती है जिसे औपनिषदिक साहित्य में 'मोक्ष' वा 'मुक्ति' शब्द द्वारा प्रकट किया गया मिलता है। 'मुण्डकोपनिषद्' में एक स्थल पर कहा गया है कि "जिस प्रकार प्रवाहित होती हुई नदियां समुद्र तक पहुंच कर उसमें, अपना नाम-रूप त्यागकर विलीन हो जाया करती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी भी अपने नाम-रूप से विमुक्त होकर परात्पर पुरुष को प्राप्त कर लेता है"[२] जिसके आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि यह 'फ़ना' से अधिक भिन्न नहीं है। 'वृहदारण्यक उपनिषद' के अंतर्गत हम इसी बात को इस प्रकार भी कही गई देखते हैं "व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या का आलिंगन करनेवाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहा करता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष, प्राज्ञात्मा से आलिंगित हो जाने पर, न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का, यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है"[३] जिसका तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा को प्राप्त करके वह भी किसी अनिर्वचनीय अवस्था में ही आ जाया करता है। नदी के समुद्र में जाकर विलीन हो जाने की दशा को जहां, ऐसे मिलन के स्वरूप की दृष्टि से बतलाया गया है, वहां किसी पुरुष के अपनी प्रिया के साथ उक्त प्रकार मिलने की दशा का वर्णन, उसके परिणाम के अनुसार किया गया है। नदी जब समुद्र में जाकर विलीन हो जाती है तो वह अपने नाम-रूप को सर्वथा खो दिया करती है, जहां अपनी प्रिया भार्या द्वारा आलिंगित आत्मकाम पुरुष सर्वथा

---

१. Prof. Dasgupta : 'A History of Indian Philosophy' vol. I, p. 109.

२. "यथानद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष मुपैति दिव्यम्" (३-२-८)।

३. "तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किंचनवेदनान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकामं आत्मकामं, अकामं रूपं शोकान्तरम्" (४-३-२१)।

आत्म-विस्मृत हो जाया करता है और उसे न तो अपने बाहर का ज्ञान रहा करता है और न वह अपने भीतर जागृत आनंद का ही कोई यथेष्ट परिचय दे पाता है। अपने चरम लक्ष्य ब्रह्म को पाकर उसमें लीन हो जाने वाले ब्रह्मवेत्ता के विषय में 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में भी इस प्रकार कहा गया मिलता है—"इसमें प्रवेश द्वार पाकर ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म में लीन होकर समाधि-निष्ठा में स्थित हो जाया करते हैं और इस प्रकार वे जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त भी हो जाते हैं"[1] जो हमें निर्वाण की दशा का भी स्मरण दिला सकता है।

अतएव, यदि हम उसी बात को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो उसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'फ़ना', 'निर्वाण' अथवा 'मुक्ति' की दशाएं वस्तुतः एक ही बात को अपने-अपने ढंग से प्रकट करती हुई जान पड़ती हैं और इन तीनों में कोई तात्विक अंतर नहीं है। इन सभी की स्थितियों का रूप किसी ऐसी अवस्था तक पहुंच जाने का रहा करता है, जहां किसी न किसी प्रकार की 'एक-मेकता' की दशा आ जाती है और ऐसी अनुभूति का स्वरूप अत्यंत गूढ़ हो जाने के कारण, हम उसकी इयत्ता का कोई पता नहीं दे पाते। ऐसी विचित्र अनुभूति का अस्तित्व में आ जाना किस प्रकार संभव होता है और क्योंकर हम उसे प्रकट करने में असमर्थ बन जाते हैं यह स्वयं एक पहेली है। इस अनुभूति का साधन हमारी कोई ज्ञानेन्द्रिय नहीं बन सकती और न ऐसी किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा अर्जित अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत किया गया कोई माध्यम हमें इस विलक्षण अनुभूति को यथावत् प्रकट करने में, कभी कोई सहायता ही दे सकता है। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे इसका वर्णन करने के लिए हमें प्रायः विभिन्न युक्तियों से काम लेना पड़ जाता है और तब भी हमें इस बात में संतोष नहीं हो पाता कि हम सफल हो रहे हैं। जहां तक हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति की सीमा का प्रश्न है वह भलीभांति निर्धारित किया जा सकता है। हमें यह भलीभांति विदित है कि हम कहां तक देख सकते हैं, कहां तक सुन सकते हैं, कहां तक स्पर्श एवं घ्राण अथवा रसन की इन्द्रियों द्वारा काम ले सकते हैं। हमें इस बात का भी पता है कि किस प्रकार हमारे दैनिक अनुभव का काम केवल इन्हीं इन्द्रियों के सहारे चला करता है। यदि हमारा काम इनकी साधारण शक्ति से नहीं चला करता तो हम कभी-कभी उसे बढ़ाने के लिए विविध कृत्रिम यंत्रों का उपयोग करते हैं। परंतु हम यह जानते हैं कि हमारी यह चेष्टा भी किसी सीमा विशेष तक ही सफल हो सकती है और उसके आगे अभी कोई ऐसा क्षेत्र भी हो सकता है, जहां तक पहुंचना कठिन है। इसके सिवाय, यदि हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव के बाहर की बातों में विश्वास करते दीखते हैं तो उस दशा में भी हमारा ज्ञान अधिकतर उसी रूप का हुआ करता है जिससे हम परिचित रहा करते हैं और इस कारण जिसकी संभावना की मात्रा के ही अनुसार उसमें हमें न्यूनाधिक प्रतीति भी हुआ करती है।

इस प्रकार हमारी इन्द्रिय-जन्य अनुभूति का आधार हमारे आगे का नाम-रूपात्मक जगत् कहला सकता है जो स्वयं भी, वस्तुतः वैसी इन्द्रियों की शक्तियों पर ही अपने स्वरूप का निर्माण कराता सिद्ध किया जा सकता है। जिस रूप में हम इस जगत् को जानते हैं वह न केवल हमारी इन्द्रियों के कारण संभव रहता है, अपितु वह ठीक इन्हीं के निर्देशानुसार तथा इनके बनाये ढांचे पर

---

१. **"अत्रान्तरं ब्रह्मविदोविदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनि मुक्ताः" (१-७)।**

ही निर्भर भी रहा करता है। इस कारण यदि किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहें, जिनकी अनुभूति हमारी इन इन्द्रियों की पहुंच के बाहर हो तो उस दशा में हमें इस बात का कोई निश्चय स्वभावतः नहीं हो सकता कि उसे कौन सा रूप अथवा नाम दिया जाय। इसके सिवाय यहां पर एक अन्य ऐसी बात का भी प्रसंग आ सकता है जो बहुत महत्वपूर्ण है तथा जिसकी ओर कुछ ध्यान देने पर हमें अपनी समस्या के समाधान में सहायता मिल सकती है। हम अपने दैनिक जीवन की अनुभूति को प्रकट करते समय केवल तभी सफल हो पाते हैं, जब उसकी मात्रा बहुत अधिक नहीं रहा करती। जब वैसी अनुभूति साधारण मात्रा से अधिक गंभीर एवं निविड़ बन जाती है तो हमें उसकी इयत्ता का पता लगाने में विवश हो जाना पड़ता है और यह दशा विशेषकर तब आती है जब हम वैसी अनुभूति में अपने को क्रमशः लीन हो जाते हुए से पाने लगते हैं। उदाहरण के लिए जब कभी हम किसी अपने अनुकूल स्वाद का अनुभव करते हैं तथा जब कभी हम अपने लिए सुखद वस्तु को देखते अथवा उसकी ओर से उत्पन्न होने वाले किसी मधुर स्वर का अनुभव करते हैं और उसकी ओर अधिक आकृष्ट हो जाने के कारण, उसके प्रति अपनी आत्मीयता का विशेष अनुभव करने लग जाते हैं तो वैसी अनुभूति हमारे लिए किसी प्रकार वर्णनीय नहीं हो पाती। वह जितनी ही गहराई तक पहुंची हुई और जितनी ही प्रत्यक्ष रहती है, उतना ही अधिक हम उसके द्वारा प्रभावित एवं अभिभूत तक हो जाया करते हैं। हम उसका वर्णन करने के लिए अपने विभिन्न शब्दों का मेल बिठाना चाहते हैं और उसके लिए विभिन्न शैलियों को काम में लाने का यत्न करते हैं, किंतु हमें बराबर ऐसा लगता है कि हम अपने उस व्यक्तीकरण की चेष्टा में किसी प्रकार सफल नहीं हो पा रहे हैं। हमारी इन्द्रियानुभूति के आधार पर निर्मित शब्दावली उस समय हमारे किसी काम नहीं आती और हमें कभी-कभी मूक तक बन जाना पड़ जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि ऐसी अनुभूति का साधन हमारी साधारण इन्द्रियां नहीं हो सकतीं और वह संभवतः कोई ऐसी ही शक्ति हो सकती है जो इनसे कहीं अधिक गूढ़ और गंभीर हो तथा यदि संभव हो तो वह इन सभी का मूल स्रोत भी कहला सकती हो। वैसी शक्ति की एक विशेषता यह हो सकती है कि उसका क्षेत्र किसी रूप, रस, गंध, स्वर अथवा स्पर्श तक ही सीमित न हो, प्रत्युत न केवल इन सभी के किसी सम्मिलित रूप का हो, अपितु किसी वैसे अनुभवनीय गुण वा सत्ता की ओर भी संकेत करता हो जो हमारे साधारण दैनिक जीवन की बात नहीं है।

अतएव इस प्रकार की स्थिति के रहने पर हमारे सामने दो अन्य ऐसे प्रश्न भी आ जाते हैं जिनका समाधान कर लेना यहां पर आवश्यक होगा। इनमें से प्रथम यह है कि वह शक्ति जिसे हम ऐसी अनुभूति का साधन समझ रहे हैं, क्या हो सकती है तथा उसका स्वरूप क्या है? और इसी प्रकार, इनमें से द्वितीय का रूप यह हो सकता है कि यदि हमारा उक्त अनुमान ठीक है तो हम, रहस्यवादियों द्वारा किये गए अपने वर्णनों के अंतर्गत, जिन दृष्टिगत आभासों (Visions) अथवा स्वरभंगियों (Voices) की चर्चा की गई पाते हैं, उनका रहस्य क्या है? अर्थात् क्या कारण है कि रहस्यवादी साधक, अपनी अनुभूतियों का वर्णन करते समय, उन्हें ऐसे रूप दे डालते हैं जैसे वे किन्हीं नाम-रूपात्मक वस्तुओं पर आधारित हों तथा यदि उनके ऐसे वर्णन यथातथ्य कहलाने योग्य नहीं हों तो उन्हें कहां तक विश्वसनीय माना जा सकता है? ये दोनों प्रश्न हमें रहस्यानुभूति का स्वरूप निर्धारित करने में सहायता पहुंचा सकते हैं, क्योंकि प्रथम के समाधान द्वारा

जहां हमें उसके मूल स्रोत का पता चल सकता है, वहां दूसरे का हल हो जाने पर हमें इस प्रकार के अनुभवों का उचित मूल्यांकन करने का भी अवसर मिल सकता है। अभी तक इस विषय में जितना कहा गया है उसके अनुसार हम केवल इतना ही अनुमान कर पाये हैं कि रहस्यानुभूति का विषय कोई ऐसी सत्ता है जिसके संबंध में स्पष्ट चर्चा नहीं की जा सकती और इसके अतिरिक्त हम इतना और भी समझ पाये हैं कि स्वयं इस अनुभूति को जागृत करने वाली प्रक्रियाओं की कार्य-पद्धति से भी अवगत हो पाना हमारे लिए सरल नहीं है। वह किसी ऐसी व्यापार वा चेष्टा-प्रणाली की ओर इंगित करती है जिससे कभी हम अपने साधारण दैनिक जीवन में काम नहीं लिया करते। इसीलिए यह हमारे लिए अत्यंत गूढ़ बन जाती है तथा यही कारण है कि हमें यहां पर इसे भी यथासंभव समझ लेने का यत्न करना चाहिए। परंतु उक्त द्वितीय प्रश्न का समाधान, रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की चर्चा छेड़ने पर भी किया जा सकता है तथा उसी समय इसे कुछ आवश्यक विस्तार देकर इसका कोई विश्लेषण भी किया जा सकता है। इस कारण इसे आगे के लिए छोड़कर हम सर्वप्रथम उस विचित्र साधन के ही संबंध में कुछ कहना चाहते हैं जिससे वैसे अनुभव का अस्तित्व में आना संभव कहा जा सकता है।

वस्तु-तत्व अथवा वास्तविक सत्ता का अपना एक ऐसा रूप है जिसे हम अपने समक्ष वर्त्तमान वा दृश्यमान जगत् से सर्वथा भिन्न कह सकते हैं। इस कारण उसकी अनुभूति हमें किसी साधारण ऐन्द्रिय साधन द्वारा न होकर उनके सम्मिलित प्रयास का अपने पूरे व्यक्तित्व द्वारा हुआ करती है। ऐसा वस्तुतः हमें अपने बाहर से प्रभावित न करके, कहीं भीतर से आकृष्ट करता हुआ प्रतीत होता है, जिस कारण हमें उसकी अनुभूति प्राप्त करते समय, अपनी ओर से कोई यत्न विशेष भी नहीं करना पड़ता और इसकी पद्धति किसी 'निष्क्रिय प्रयास' जैसी तक हो जाया करती है। यह वाह्य दर्शन न होकर अंतर्दर्शन और श्रवण न होकर, अंतःश्रवण है। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि यह वाह्य स्पर्श, वाह्य रसन एवं वाह्य गंधग्रहण न होकर क्रमशः अंतःस्पर्श, अंतः रसन एवं किसी गंध का अंतर्ग्रहण भी है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा ज्ञान हमें किसी सहज ज्ञान (Instinct) की भांति अथवा ठीक उसी रूप में होता है जो साधारण प्राणियों तक में पाया जाता है और जिसके लिए किसी विकसित बुद्धि वा (Intellect) की कोई आवश्यकता नहीं है। दार्शनिक बर्गसां के अनुसार "यह प्रातिभ ज्ञान एक प्रकार की बौद्धिक सहानुभूति है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु के अंतस्तल तक प्रवेश कर जाते हैं और इस प्रकार, उसकी विशिष्टता के साथ किसी अनिवर्चनीय आनुगुण्य की दशा का अनुभव भी करने लगते हैं"[१] अर्थात् इस प्रकार की अनुभूति उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न कहला सकती है जो किसी वस्तु के विश्लेषण द्वारा उपलब्ध होता है और जो हमारे साधारण दैनिक जीवन में पाया जाता है। यह वस्तु-तत्व के प्रति उसके साथ सहज संबंध के कारण, आपसे आप हो जाया करती है और इसकी दशा में हमें ऐसा लगने लगता है कि हम न केवल

---

१. "By intuition is meant the kind of intellectual sympathy by which one places oneself within an object in order to coincide what is unique in it and consequently inexpressible." 'An Introduction to Metaphysics' (London 1915) p. 6.

उसमें प्रविष्ट हो चुके हैं, अपितु उसके साथ एक हो गए हैं अथवा उसे आत्मसात् तक भी कर चुके हैं। इस प्रकार ऐसे प्रातिभ ज्ञान की दशा में हम साधारण ज्ञान में जैसा, किसी पदार्थ का पर्यवेक्षण वा उसका विश्लेषण करते नहीं जान पड़ते और न इसी कारण, हमें उसके लिए अपनी साधारण बुद्धि का कोई प्रयोग ही करना पड़ता है, प्रत्युत इसमें हमारे मस्तिष्क एवं हृदय दोनों एक साथ और अपने अपने ढंग से काम करते पाये जाते हैं और इस प्रकार, इसमें हमारा अपना पूर्ण व्यक्तित्व सा भी लग जाया करता है।

श्री अरविन्द के अनुसार ऐसे प्रातिभ ज्ञान के एक से अधिक स्तर हो सकते हैं और उनमें से किन्हीं दो के बीच पर्याप्त अंतर भी हो सकता है। हम इनमें से सभी को इन्द्रिय-जन्य अनुभव ठहरा सकते हैं और इन सबको हम प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं, किंतु, यदि इन पर कुछ और भी सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इनमें से निम्नतम स्तर वाले ज्ञान को इस प्रसंग में, उतना अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। श्री अरविन्द द्वारा बतलाये गए ऐसे पांच स्तरों के नाम उच्चतर मानस, (Higher mind) प्रदीप्त मानस, (Illumined mind), प्रातिभमानस (Intuitions), उर्ध्व मानस (Overmind) और अतिमानस (Supermind) दिये गए मिलते हैं जिनमें से प्रथम अर्थात् उच्चतर मानस निम्नतम स्तर का है। इसी प्रकार, पंचम अर्थात् अतिमानस उच्चतम श्रेणी का है और इनमें से तृतीय अर्थात् प्रातिभ मानस को ही हम उक्त प्रातिभ ज्ञान का आधार कह सकते हैं। यह मानस हमें संभवतः उस चित्त के 'समापत्ति' नामक रूप का भी स्मरण दिला सकता है जिसके लिए योगसूत्रों पर भाष्य लिखने वाले व्यास द्वारा कहा गया है कि "वह किसी स्वच्छ स्फटिक मणि जैसा हुआ करता है और वह उस किसी भी पदार्थ का, चाहे वह ज्ञाता, ज्ञेय अथवा ज्ञान ही क्यों न हो उसका ठीक यथावत् रूप ग्रहण कर लिया करता है" अर्थात् उसके साथ वस्तुतः तदाकार सा बन जाता है। परंतु ऐसी 'समापत्ति' को हम कभी पूर्ण ज्ञान का परिचायक नहीं माना करते और योगसूत्रों के अध्ययन से भी पता चल सकता है कि यह उसकी किसी 'सम्प्रज्ञात समाधि' कही जानेवाली निम्नतर कोटि को ही सूचित करता है तथा इसे उस अनुपम ज्ञान शक्ति का भी पर्याय नहीं समझा जा सकता जिसे 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के नाम से अभिहित किया गया है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा, सम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णावस्था की ओर संकेत करती है जिसके आगे की दशा का भी परिचय 'असम्प्रज्ञात समाधि' के नाम से कराया जाता है और उसके पहले 'निर्बीज' शब्द जोड़कर, उसकी स्थिति-विशेष में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी का नष्ट हो जाना भी समझा जाता है।

परंतु इस अंतिम कोटि की समाधि के अनुभव का स्वरूप निर्धारित करना, यदि असंभव नहीं तो कम से कम अत्यंत कठिन अवश्य कहा जा सकता है और किसी ऐसी स्थिति की धारणा हमें तब तक नहीं हो सकती, जब तक इसे स्पष्ट भावात्मक रूप प्रदान करने के उद्देश्य से इसकी भी कोई

---

१. "तदेवमभिजातमणि कल्पस्य चेतसो ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु पुरुषेन्द्रिय भूतेषु या तत्स्थ तदञ्जनतातेषु स्थितस्य तदा कारापत्तिः सा समापत्ति रि त्युच्यते।" (योगसूत्रं समाधिपाद, सूत्र ४१ पर व्यासभाष्य) See Dr. S. K. Maitra's : Studies in Sri Aurbindo's Philosophy (B. H. U. 1945) p. 5. भी।

वैसी ही व्याख्या न की जा सके जैसी 'फ़ना' एवं 'निर्वाण' की की गई है और इस प्रकार जब तक इसके इस निषेधात्मक वा अभावात्मक रूप का पूर्ण समाधान न हो जाय। इसके सिवाय ऐसी किसी निर्बीज 'असम्प्रज्ञात' समाधि की दशा को हम रहस्यानुभूति की स्थिति के ठीक एक समान तब तक नहीं ठहरा सकते जब तक हमें स्वभावतः, उसका स्वल्प मात्रा तक में भी आभास न हो सके तथा जब तक हम उसके अनुसार अपनी मनःस्थिति का निर्माण भी न कर सकें। रहस्यानुभूति को हमने अपनी रहस्यवाद वाली परिभाषा के अनुसार किसी एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का आधार माना है जिसका अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि ऐसे अनुभव के द्वारा हमारी मनोवृत्ति में कोई विशेषता भी आ जाय और यह तब तक संभव नहीं हो सकती, जब तक हमें अपनी वैसी विशिष्ट अनुभूति का सदा ज्ञान भी न बना रह जाय। इस कारण, रहस्यवाद की दृष्टि से हमें इस प्रकार की अनुभूति के लिए निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा, केवल 'सम्प्रज्ञात समाधि' शब्द का भी व्यवहार करना अधिक उपयुक्त हो सकता है। यदि हम कहना चाहें तो इसका परिचय उस 'प्रत्यभिज्ञा' के रूप में भी दे सकते हैं जिसे कश्मीर शैव धर्म के मतानुसार स्वीकार किया जाता है और जिसका अभिप्राय किसी ज्ञात वस्तु को फिर से जानना वा पहचान लेना समझा जाता है। शैव लेखकों ने ऐसे ज्ञान को 'प्रातिभ ज्ञान' भी कहा है।[१]

ऐसी रहस्यानुभूति का विवरण किस प्रकार दिया जाता है तथा उसके लिए कैसे साधनों वा माध्यमों का प्रयोग किया जाता है इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस प्रकार, उस समय हम यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि इसे 'अनिर्वचनीय' क्यों कहा जा सकता है।

---

१. Dr. K. C. Pandey : Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study (Benares 1935) p. 179.

३. अनुभूति की अनिर्वचनीयता, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम तथा व्यक्तीकरण की भाषा और शैली

(१) रहस्यात्मक अनुभूति की अनिर्वचनीयता

'रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य अथवा उसका परम साध्य वस्तुत: 'अवाङ्‌ मनस गोचर' ही कहला सकता है यह हमने उसका परिचय देते समय कहा था। हमने उस समय इस बात की ओर भी संकेत कर दिया था कि ऐसी अनुभूति का मूलाधार भी इसी कारण, कोई वैसी शक्ति ही हो सकती है जिसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों से सर्वथा पृथक् स्वीकार कर लिया जाय। हमने ऐसे किसी उपकरण का परिचय तब तक 'अंतर्दृष्टि' के नाम से करा दिया था और तज्जन्य ज्ञान वा अनुभूति को 'सहजज्ञान' वा 'सहजावबोध' की संज्ञा दे दी थी। इसके सिवाय हमने इस प्रसंग में, इतना और भी कह दिया था कि वह किसी ऐसी गूढ़ शक्ति के रूप में हो सकता है जो संभवतः हमारी सारी ज्ञानेन्द्रियों का ही मूल स्रोत हो। जहां तक पता हैऐसी किसी अनुभवेन्द्रिय के लिए कोई विशिष्ट संज्ञा अभी तक दी गई नहीं जान पड़ती। हमारे यहां अभी तक इसके लिए सदा अंतर्दृष्टि, अंतश्चक्षु अथवा प्रातिभज्ञान की मूलाधार स्वरूप शक्ति विशेष जैसे नामों के ही प्रयोग होते आये हैं और अंग्रेजी भाषा में इसे Intuition अर्थात् सहजावबोधक शक्ति कहते हैं तथा इसे विशेष महत्त्व देने वाले दार्शनिकों ने इसका विस्तृत परिचय देने की भी चेष्टा की है। फ्रांस के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसां ने जो इसकी व्याख्या की है तथा श्री अरविन्द ने जो इसके स्तरभेद बतलाये हैं उनकी एक संक्षिप्त चर्चा हम, इसके पहले ही कर आये हैं और इसके साथ ही, हमने रहस्यात्मक अनुभूति के वास्तविक स्वरूप की एक साधारण झांकी तक भी दे दी है। यहां पर हमें इतना और भी कह देना है कि ऐसी अंतर्दृष्टि पर आधारित अनुभूति का अत्यंत स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष तक होना समझा जाता है। इस बात में कदाचित् सभी रहस्यवादी एकसमान सहमत पाये जाते हैं कि उसके द्वारा उद्‌भूत ज्ञान में किसी प्रकार के संदेह को स्थान नहीं मिला करता है। तदनुसार ऐसी अनुभूति की स्वीकृति न तो किसी आप्त-वचन पर आश्रित रहती है और न उसके लिए किसी तर्क वा अनुमान के झमेलों में पड़ना पड़ता है अथवा किन्हीं अन्य ऐसे आधारों की ही सहायता लेनी पड़ती है जिनका अनुभवकर्त्ता से पृथक् रहना अपेक्षित हो। यह प्रत्येक व्यक्ति की दशा में उसके लिए सर्वथा सहज और स्वाभाविक है। इसी कारण ऐसे अनुभवेन्द्रिय द्वारा उपलब्ध ज्ञान में यथेष्ट विश्रम्भणीयता एवं दृढ़ता का आपसे आप आ जाना भी अनिवार्य माना जा सकता है।

परंतु, फिर यह प्रश्न भी स्वभावतः उठ सकता है कि ऐसी सुदृढ़ एवं सुनिश्चित अनुभूति अवर्णनीय क्यों हो जाती है? क्या इस अवर्णनीयता अथवा अनिवचनीयता का अर्थ यह है कि हम ऐसी अनुभूति के विषय को भली प्रकार समझ नहीं पाते और उसके सहसा प्रत्यक्ष हो जाने पर, उससे चकित होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ से बन जाते हैं, जिस कारण हमें उसकी ईदृकता वा इयत्ता तक का

कोई भान ही नहीं हो पाता ? यदि केवल यही कारण है तो इस संबंध में, ऐसा कोई दोष भी निकाला जा सकता है जिसके आधार पर यह कहा जाय कि रहस्यवादात्मक अनभूति की सत्यता, उसके अनुभवकर्त्ता के किसी चमत्कार द्वारा केवल अभिभूत हो जाने मात्र पर ही निर्भर रहा करती है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में, अपने अनुभव के अंतर्गत आ जानेवाली वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाता, प्रत्युत उसमें यों ही विश्वास कर लिया करता है। उसे भलीभांति न समझ पाने के ही कारण वह उसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद एवं गौरव प्रदान कर दिया करता है और उसमें काल्पनिक एवं संभवनीय गुणों का अपनी ओर से आरोप करके उसे सभी कुछ मान बैठता है जो कदाचित्, उसकी अपनी अल्पज्ञता का परिणाम भी हो सकता है। हम अपने साधारण दैनिक जीवन में भी देखते हैं कि जब तक हमें किसी वस्तु का पूरा ज्ञान नहीं रहा करता अथवा जब तक हमें उसका कोई सुनिश्चित परिचय नहीं रहता और उसके विषय में अपने सीमित ज्ञान के कारण, हम उसकी कोई सम्यक् धारणा नहीं बना पाते, उस दशा में वह वस्तु हमारे लिए बहुधा अगम्य सी प्रतीत होने लगती है और हम उसे अनावश्यक महत्ता प्रदान कर दिया करते हैं। परंतु, अपनी समझ में आते ही वह बात हमारे लिए साधारण सी बन जाती है और हमारे लिए वह उतना अपरिचित नहीं रह जाती। इसके सिवाय, कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि जो बातें हमारे अनुभव में पहले से आयी नहीं रहा करतीं और जो इसी कारण, हमारे लिए अभूतपूर्व एवं अनुपम जान पड़ती हैं उनके प्रति भी हमारी ओर से कम से कम, उच्चभाव ही प्रकट किये जाते हैं। अतएव, हो सकता है कि ऐसी रहस्यात्मक अनुभूति का विषय भी, उसके साधकों की दृष्टि में कोई वैसा ही स्वरूप धारण कर लिया करता हो।

परंतु इस प्रकार की अनुभूतियों का परिचय देने वाले अनेक साधकों के कथन हमें किसी ऐसी शंका को प्रश्रय नहीं देने देते। ऐसे विवरण जो चाहे ईसाई रहस्यवादी संतों द्वारा दिये गए हों अथवा उन सूफ़ी साधकों वा वैष्णव भक्तों की ओर से प्रस्तुत किये गए हों जिन्हें हम आध्यात्मिक अनुभव-संपन्न समझते हैं, वे हमें इस बात के लिए स्पष्ट प्रमाण देते हैं कि ऐसी अनुभूतियों का स्वरूप कुछ और ही हुआ करता है। इनका परिचय हमें कभी उस अधूरे रूप में मिलता नहीं जान पड़ता जिसे अन्य साधारण विषयों के संबंध में केवल 'आंशिक' कहा जा सकता है। जब कभी हम किसी महान और विशाल वस्तु की उदात्तता द्वारा प्रभावित होते हैं तो हम अपने दैनिक जीवन में, साधारणतः उसके किसी प्रमुख प्रभावशाली पक्ष द्वारा ही अभिभूत हो जाया करते हैं और उसके शेषांश के प्रति अपना अज्ञान रहने के कारण , हम उसे सहसा गौरव प्रदान कर देते हैं। किंतु जहां तक रहस्यवादी साधकों की अनुभूतियों द्वारा प्रकट होता है, वे किसी ऐसे आंशिक रूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती नहीं प्रतीत होतीं। उन्हें इनके विषय का प्रायः पूरा परिचय सा मिल गया जान पड़ता है और वे इसे इतने निकट से देखने लग जाते हैं जैसे यह उनसे अभिन्न तक हों। इसे एक बार केवल भावात्मक रूप देकर एकमात्र सत्ता ठहराना और इसे उसी प्रकार अनादि, अनंत और अगम्य जैसी उपाधियों का विशेषण देना तथा फिर उसी स्वर में इसे कोई अलौकिक व्यक्तित्व भी प्रदान करके इसके साथ अपने आत्मीय का नाता जोड़ लेना इसके लिए ज्वलंत प्रमाण है। इसी कारण, रहस्यात्मक अनुभूति का विषय कहलाने वाली विश्वात्मक सत्ता कभी अपने अनुभवकर्त्ता के हृदय में किसी भय का संचार भी नहीं करती। वह यदि इसके समक्ष,किसी शक्तिमान् शासक और नियंता का रूप धारण करके आती है, उस दशा में भी उसके अंतर्गत ऐसे कोमल भावों का आरोप कर दिया जाता है, जिनके

कारण दोनों के बीच पड़ने वाला अंतर कभी अधिक न प्रतीत हो सके। तदनुसार उसकी कठोरता इसके प्रति न्यायप्रियता में परिणत कर दी जाती है, उसकी शक्तिमत्ता, यहां वत्सलता का रूप धारण कर लेती है और इस प्रकार, जिस किसी भी कारण दोनों के बीच किसी खाई के बन जाने की आशंका की जा सकती थी उसे दूर करने की संभावना हो जाया करती है। ऐसी दशा में यह संभव नहीं कि इन दोनों का संबंध कभी किन्हीं दो अपरिचितों सा समझा जा सके अथवा ऐसे किसी साधक के ज्ञान को अधूरा ठहराया जाय।

रहस्यात्मक अनुभूति की अनिर्वचनीयता का एक प्रधान कारण प्रायः यह भी बतलाया जाता है कि जिस किसी व्यक्ति के प्रति उसे प्रकट किया जाता है उसे वैसे अनुभव का पहले से कोई पता नहीं रहा करता, जिस कारण वह इसकी कोई धारणा नहीं बना पाता। ऐसे श्रोता की दशा स्वभावतः उस किसी अंधे मनुष्य की जैसी रहा करती है जिसे किसी रंग का कभी ज्ञान नहीं रहा हो, किंतु जिसके प्रति किसी सुंदर अथवा असुंदर रंगीन वस्तु का वर्णन करके, उसकी विशिष्टता का परिचय दिया जाता हो। परंतु इस प्रकार का कारण देना यहां पर उतना उचित नहीं जान पड़ता और न इसके द्वारा उक्त प्रश्न का कोई समाधान ही हो पाता है। इस बात में कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि रहस्यानुभूति की विशिष्ट दशा सब किसी के अनुभव की अवस्था नहीं कही जा सकती और इस कारण रंग के गुणों से नितांत अपरिचित अंधे मनुष्य को उसका कोई परिचय कराने की भांति यहां पर भी कठिनाई पड़ सकती है। परंतु इन दोनों उदाहरणों की समानता कदाचित्, केवल इसी एक बात तक लक्षित होती जान पड़ती है। श्रोता के अंधा न रहने पर उसे किसी रंग विशेष का परिचय कराना उतना कठिन नहीं हुआ करता, परंतु रहस्यानुभूति के विषय का ठीक-ठीक परिचय उस व्यक्ति को भी नहीं कराया जा सकता जिसे उसकी कभी पूर्व अनुभूति हो चुकी हो। इन दोनों में से कोई भी एक व्यक्ति दूसरे को उस अपने अनुभव का ठीक-ठीक विवरण नहीं दे सकता और न अपने उस आनंद की मात्रा से परिचित करा सकता है जो उसके लिए व्यक्तिगत ही हो सकती है। रहस्यवादी साधकों का तो यहां तक भी कहना है कि वे अपनी इस अनुभूति को स्वयं अपने प्रति भी व्यक्त नहीं कर पाते और न किसी समय उसे किसी प्रकार अपने लिए बोधगम्य शब्दों द्वारा प्रकट ही कर सकते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ऐसी अनिर्वचनीयता का कारण कभी उस व्यक्ति की त्रुटियों पर निर्भर नहीं रहा करती जिसके प्रति उक्त अनुभूति प्रकट की जाती है, प्रत्युत इसका कारण स्वयं उस मूल में ही ढूंढ़ा जा सकता है, जहां यह उत्पन्न होती है अथवा जिसे हम इसका उद्‌गम स्थान भी ठहरा सकते हैं।

इस रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता पर विचार करते समय हमारे सामने एक अन्य प्रश्न भी उठाया जा सकता है और हमारा ध्यान एक ऐसे मत की ओर भी जा सकता है जिसके अनसार इन अनुभवों को मानवीय मनोवेगों (Emotions) की कोटि में रखना चाहिए। ऐसी धारणा वालों का कहना है कि रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति केवल इसलिए नहीं हो पाती कि उसका स्वरूप किसी मनोवेग जैसा हुआ करता है जो जितना ही गंभीर होता है उतना ही उसका यथातथ्य रूप में प्रकट करना कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसा भी हो जा सकता है कि ऐसे मनोवेगों द्वारा अभिभूत व्यक्ति अपने को स्तब्ध पावे और अपने भीतर वाले भावों को किसी अंश में भी प्रकट न कर सके। परंतु, ऐसा समझ लेने में एक बहुत बड़ी कठिनाई इस रूप में आ सकती है कि जिस वास्तविक रह-

स्यानुभूति को हम किसी मनोवेग जैसा मान बैठते हैं वह वैसी सिद्ध ही न की जा सके और उसे केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के ही रूप में स्वीकार कर लिया जाय, क्योंकि ऐसे किसी अनुभव को जिसके द्वारा हमें अपने भीतर किसी प्रकार की तृप्ति अथवा आनंदमयी शांति का भी जैसा बोध हो सके, उसे हम कोई 'मनोवेग' ठहरा ही कैसे सकते हैं ? अतएव, उक्त प्रकार का कथन चाहे उन रहस्यवादियों के विषय में कुछ उपयुक्त भी जंचे जिनका भीतरी आह्लाद सहसा फूट निकलता है और जो इसी कारण, प्रायः उन्माद के शिकार तक बन जाया करते हैं, किंतु यह उन दूसरे लोगों की दशा में कदाचित् कभी भी उचित नहीं समझा जा सकता जो अपनी उपलब्धियों के परिणामस्वरूप, प्रशांतचित्त बन जाया करते हैं और जिन्हें अधिक से अधिक आनंदविभोर तक का विशेषण दिया जाता है।

इसी प्रकार ऐसी अनिर्वचनीयता के कारणों में एक यह बात भी कही जाती है कि रहस्यानुभूति की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के लिए वस्तुतः कोई उपयुक्त माध्यम ही नहीं पाया जाता, क्योंकि जिस भाषा के द्वारा हम सदा ऐसी बातों में काम लिया करते हैं उसमें कभी ऐसे अनुभवों के उपयुक्त शब्द नहीं मिला करते और इसीलिए, ऐसे अनुभवकर्त्ता को लाख यत्न करने पर भी, सदा मूकवत् रह जाना पड़ता है। हमारी भाषाओं की उत्पत्ति एवं विकास का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि उनका निर्माण मानव समाज के अंतर्गत, एक दूसरे के भावों का आदान-प्रदान करने के यत्नों में ही होता चला आया है। इसी प्रकार, ये हमारे लिए भावसंप्रेषण का काम भी करती आयी हैं। परंतु ऐसे भाव प्रायः उन दशाओं में ही उठते रहे हैं जो हमारी साधारण दैनिक चर्या से संबंध रखती है तथा जिनके लिए हम यह भी कह सकते हैं कि उन्हें अस्तित्व में लाते समय, हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा काम लेना पड़ता रहा है। फलतः उन्हें व्यक्त करने वाली भाषा का रूप भी स्वभावतः उनकी ही प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित अथवा उनके अनुरूप मात्र हो सकता है। वह ठीक उसी प्रकार, वैसी बातों के व्यक्तीकरण में भी काम नहीं दे सकती जो इन्द्रियातीत अनुभवों पर आश्रित कही जाती हैं। अपने साधारण अनुभवों में हम सदा अपनी इन्द्रियों से काम लेकर उसका परिणाम किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रकट करते रहते हैं जिसका भी अनुभव ठीक उसी प्रकार का होता समझा जा सकता है और जो इसी कारण, हमारी ऐसी अभिव्यक्ति के माध्यमों द्वारा परिचित भी हो सकता है। इस प्रकार किए गये पारस्परिक व्यवहार के फलस्वरूप वैसे माध्यम का रूप-रंग प्रायः सर्व-स्वीकृत भी रहा करता है। परंतु जब हम, अपनी रहस्यानुभूति को प्रकट करते समय, वैसे माध्यम का सहारा लेना चाहते हैं तो उसे हम कभी उपयुक्त नहीं पाया करते और बराबर असफल रह जाया करते हैं उस समय हमारी दशा बहुधा उस गूंगे की जैसी हो जाया करती है जो किसी स्वादिष्ट वस्तु को खाकर उससे आनंद तो उठा लेता है, किंतु उसकी अभिव्यक्ति के लिए अपने पास कोई साधन न रहने के कारण, वह या तो अपना सिर हिलाने लगता है अथवा हाथ ही चमका दिया करता है। रहस्यानुभूति की अनिवर्चनीयता-संबंधी इस समाधान के विषय में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अपनी साधारण अनुभूतियों की दशा में हम अधिकतर अपनी बुद्धि से काम लिया करते हैं और उसी के अनुसार हमारी भाषा का निर्माण भी हो गया रहता है, किंतु इस अनुभव की विचित्र दशा कभी उसकी अपेक्षा नहीं किया करती, प्रत्युत वह प्रधानतः प्रातिभ ज्ञान का रूप धारण कर लिया करती है।

विलियम टी० स्टेस (William T. Stace) नामक दार्शनिक ने इस रहस्यानुभूति-

विषयक अनिर्वचनीयता को एक और ही प्रकार से समझने का यत्न किया है और इस प्रश्न के विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण, हम उसकी भी चर्चा कर देना यहां पर उचित समझते हैं। इस लेखक ने इस समस्या का समाधान करते हुए बतलाया है कि यह रहस्यानुभूति स्वभावतः ऐसी होती है जिसकी कोई सम्यक् अवधारणा नहीं की जा सकती और न जिसके लिए इसी कारण, किसी विभावना (Concept) का स्पष्ट बिंब ही उभर पाता है। इसका मूल कारण यह है कि जैसा हम इसके पहले अपनी रहस्यवाद की परिभाषा देते समय भी बतला आये हैं, इस अनुभूति का संबंध उस विश्वात्मक सत्ता की अपूर्व एकता के साथ जुड़ा रहता है जो तत्वतः अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष हुआ करती है और जिसमें इसीलिए, किसी प्रकार के पार्थक्य की कोई गुंजायश ही नहीं रहती। 'विभावना' (Concept) का निर्माण केवल तभी हो पाता है जब किसी बहुत्व वा कमसे कम किसी द्वित्व तक का भी अस्तित्व हो। ऐसी विविधता की दशा में ही किन्हीं एक समान विषयों के वर्गीकरण किये जा सकते हैं और उन्हें एक दूसरे से विशिष्ट भी ठहराया जा सकता है। फलतः उसी दशा में कोई विभावना भी बन सकती है और उसके लिए कोई शब्द भी निर्मित किया जा सकता है। अनिर्दिष्ट एकता के अंतर्गत ऐसा कोई बहुत्व नहीं रह सकता और न इसीलिए, यहां कोई वर्ग बन सकता है, कोई विभावना अपना रूप ग्रहण कर सकती है अथवा किसी शब्दविशेष के निर्माण की ही संभावना हो सकती है"[१] तथा वैसी दशा में, फिर इसे हम किसी वास्तविक एकता का उचित नाम भी नहीं दे सकते। "विभिन्न विशेषों अथवा पृथक्-पृथक् सत्ताओं के बहुत्व का अभाव रहने के ही कारण उक्त दशा को किसी 'एकता' का नाम दिया जाता है और उसके अंतर्गत किसी एक विशेष से दूसरे से भिन्न न पाये जाने के कारण, उसे अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष भी ठहराया जाता है।"[२] कहना न होगा कि इस प्रकार के समाधान द्वारा उस भाषा-विषयक मत की भी पुष्टि हो जाती जान पड़ती है जिसकी चर्चा हम इसके पहले कर आये हैं। यह अनिर्वचनीयता रहस्यानुभूति की सर्वप्रधान विशेषता कही जा सकती है और यही उसमें जुड़े हुए 'रहस्य' शब्द की सार्थकता भी सिद्ध करती है।

(२) रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम

अभिव्यक्ति की 'अनिर्वचनीयता' की चर्चा करते समय हमने रहस्यानुभूति की प्रेषणीयता

---

१. "Concepts are only possible where there is a multiplicity or at least a duality. Within a multiplicity, group of similar items can be formed into classes and distinguished from other groups. We then have concepts and, therefore, words. Within the undifferentiated unity there is no multiplicity, and, therefore there can be no classes, no concepts and no words." Mysticism and Philosophy, p. 297.

२. "Since the multiplicity of particulars has been obliterated, it is a unity. And since there are no distinctions of one particular from another it is undifferentiated.' Do. p. 300.

में पायी जानेवाली कठिनाइयों की ओर कुछ संकेत किया है और ऐसा करते समय, हमने कतिपय उन शब्दों के प्रयोग कर डाले हैं जिनके कारण यहां कुछ भ्रांति उत्पन्न हो सकती है। हमारा 'अनिर्वचनीयता' शब्द का व्यवहार में लाना स्वयं हमें इस भ्रम में डाल सकता है कि जिस माध्यम द्वारा रहस्यात्मक अनुभव का व्यक्तीकरण होता है वह केवल किसी भाषा मात्र की ही अपेक्षा करता होगा अथवा वह केवल किसी वाणी तक ही सीमित कहला सकता है। हमने इस प्रसंग में अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की ओर अवश्य ध्यान दिलाने की चेष्टा की है और इस प्रकार, उसके कारण ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि हम किसी न किसी व्यापक अनुभव क्षेत्र की बातें करना चाहते हैं। किंतु उसकी विस्तृत व्याख्या न की जा सकने से इस विषय में, ऐसे संदेह को भी स्थान मिल सकता है कि हमारा उद्देश्य कहीं किसी एकांगी वर्णन तक ही सीमित न हो। अतएव, यहां पर कुछ और भी अधिक विचार कर लेने की आवश्यकता जान पड़ती है और हमारे लिए यह उचित प्रतीत होता है कि हम अपने जीवन के अंतर्गत उपलब्ध होने वाले अधिक से अधिक प्रकार के अनुभवों की चर्चा छेड़कर उसके द्वारा अपने प्रकृत विषय का स्पष्टीकरण कर दें। हम इस संबंध में, न केवल भाषा अथवा वाणी पर आश्रित रहनेवाले माध्यम की अक्षमता पर अपना विचार प्रकट करें, प्रत्युत उन अन्य अनेक माध्यमों की भी चर्चा कर लेने का यत्न करें जो हमारे नित्यप्रति के जीवन में सर्वदा प्रयुक्त होते आये हैं तथा जिनका प्रयोग यदि ठेठ व्यावहारिक जीवन में उतना अधिक न भी हुआ हो तो भी हमारे उन क्षणों में तो अवश्य ही जाया करता है, जहां किसी कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न आता है और जहां इसी कारण, रहस्यानुभूति के जैसे प्रसंग का भी आ जाना कभी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कला हमारी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन कहला सकती है और उसका महत्व उस दशा में और भी अधिक बढ़ जाया करता है, जब हमारे समक्ष किसी ऐसी अनुभूति का प्रश्न आ जाय जिसका लगाव किसी व्यापक भाव उत्पन्न करने वाली वस्तु के साथ हो और यदि ऐसी वस्तु वह विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता ही हो सके जिसकी चर्चा अभी तक की जाती आई है तो उसका मूल्य और भी बढ़ जा सकता है। रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति और कलात्मक अभिव्यक्ति का स्तर वहां पर केवल एक-सा प्रतीत होने लगता है, जहां कला का सच्चा मूलतत्व वैसी एकता के मूलतत्व का पर्याय बन जाया करता है और जहां हमारे लिए यह कहना कठिन हो जाता है कि इन दोनों में अमुक प्रकार का अंतर होगा।

इसी प्रकार इन दोनों अभिव्यक्तियों की मूलभूत ज्ञान शक्ति को भी हम यदि चाहें तो ठीक एक समान महत्त्व प्रदान कर सकते हैं। इसके पहले हम देख आये हैं कि रहस्यानुभूति के लिए कभी केवल किसी आंख, कान वा नाक जैसी इन्द्रिय विशेष की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। यदि इनमें से कोई एक कभी उसमें प्रमुख भाग लेती हुई जान पड़ती है, उस दशा में भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह बराबर किसी गूढ़ रूप में काम कर रही है और वह इतनी गहराई तक प्रवेश कर गई है, जहां पर शेष इन्द्रियों का भी मूल स्रोत अवस्थित हो सकता है। यदि हम इस बात को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि जब कभी कोई ज्ञानेन्द्रिय उस रहस्यानुभूति में काम करती पायी जाती है तो उसकी प्रक्रिया सदा विशुद्ध और अनिश्चित नहीं रहा करती, प्रत्युत उसमें दूसरों का सहयोग भी मिलता जान पड़ता है और इसी कारण, हमें स्वभावतः ऐसा भी लगता है जैसे हमारा पूरा व्यक्तित्व

ही उसके लिए सक्रिय बन गया हो। हमने इन इन्द्रियों के इस सामान्य मूलस्रोत अथवा मूलभूत अनुभवेन्द्रिय को अंतर्दृष्टि का नाम दिया है अथवा इसे अंग्रेजी के Intuition शब्द द्वारा अभिहित किया है। रहस्यानुभूति की दशा में इस ज्ञान-शक्ति विशेष द्वारा ही काम लिया जाता है और इसी कारण, इसकी अभिव्यक्ति में कठिनाई भी आ जाती है। इसी प्रकार यदि हम किसी कलात्मक अभिव्यक्ति पर विचार करें और उसके मूल स्रोत तक पहुंचने का प्रयास करें तो हमें वहां पर भी विदित होगा कि उसके मूलाधार सौंदर्य तत्व का बोध भी, लगभग ठीक उस अनुभूति की ही भांति जागृत हुआ करता है। सौंदर्य-तत्व को विद्वान लेखकों ने अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा की है और उन्होंने इसकी विभिन्न परिभाषाएं भी प्रस्तुत की हैं। परंतु जिस एक बात में वे सभी सहमत जान पड़ते हैं वह यह है कि ऐसा बोध अथवा अनुभव सदा किसी न किसी ध्यानपरक स्तर पर ही हुआ करता है। वह किसी साधारण इन्द्रियजन्य अनुभव के जैसा केवल संचरणशील वा क्षणिकमात्र ही नहीं हुआ करता। वह अनुभवकर्त्ता की प्रायः सारी ज्ञानशक्तियों को एक साथ, उनके मूल रूप में समेट कर उन्हें किसी बटी हुई रस्सी की सी दृढ़ एवं चिरस्थायी बना दिया करता है, जिस कारण उनमें से किसी को भी अपने लक्ष्य से पृथक् होने का कभी कोई अवसर नहीं मिल पाता और ये उसमें लीन सी हो जाया करती हैं। यदि ऐसे सौंदर्यतत्व का लगाव, सर्वप्रथम, हमारी आंखों द्वारा आरंभ हुआ हो तो वह न केवल उससे कभी पृथक् होना नहीं चाहती, प्रत्युत उसके साथ हमारी अन्य ज्ञानेन्द्रियां तक भी तदनुकूल व्यवहार करने लग जाती हैं और उनका सारा व्यापार अत्यंत सुखद बन जाता है। अतएव, हमें यहां पर भी बराबर ऐसा ही प्रतीत होता है कि हमारा पूरा व्यक्तित्व काम कर रहा है और हम किसी केन्द्र में पूर्णतः रम से गए हैं। हमारी कलात्मक अभिव्यक्ति का उद्देश्य प्रधानतः ऐसे सौन्दर्य का ही व्यक्तीकरण रहा करता है और वैसी दशा में यह रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के समान स्वभावतः काम करती हुई पायी जा सकती है और इन दोनों में पूर्ण साम्य तक ठहराया जा सकता है। उच्चकोटि के कला-पारखी तो यहां तक भी कहते सुने जाते हैं कि प्रत्येक सफल कलाकार का किसी न किसी अंश में, रहस्यवादी होना भी अनिवार्य कहला सकता है। इसी प्रकार, कभी-कभी बहुत से रहस्यवाद के पंडितों ने भी कहा है कि रहस्यानुभूति की सफल अभिव्यक्ति बराबर कला के स्तर तक पहुंच जाया करती है।

तदनुसार यदि रहस्यवाद को हम किसी जीवन-दर्शन का पद प्रदान करते हैं और इस प्रकार, यदि मानवीय जीवन की व्यापकता के अनुसार हम इसके क्षेत्र का भी व्यापक होना स्वीकार करके इसकी अनुभूति पर विचार करने लगते हैं तो हमें यह पता चलते विलंब नहीं होता कि इसकी अभिव्यक्ति का रूप केवल एकमात्र सा न होकर विविध रंग पकड़ सकता है। इसी कारण, उन अभिव्यक्तियों के लिए तदनुसार माध्यमों अथवा विभिन्न साधनों का भी आयोजन किया जा सकता है। परंतु उन अनुभूतियों के वैविध्य से हमारा यह अभिप्राय नहीं कि उन सभी के मूल स्रोत वा मूल आधार में कोई वास्तविक विभिन्नता हो सकती है अथवा इस विषय में हम यह कह सकते हैं कि उसके विषय अर्थात् अनुभूत सत्ता की एकता का स्वरूप एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो सकता है। जहां तक जान पड़ता है उन सभी को हम एक तत्त्वतः एक और अभिन्न ठहरा सकते हैं और इस संबंध में इतना और भी कह सकते हैं कि ऐसी अनुभूतियों का प्रभाव न्यूनाधिक चिरस्थायी तथा अनुभवकर्त्ता के जीवन में आमूल परिवर्तन लाने योग्य भी हो सकता है। अतएव

उनमें किसी प्रकार का अंतर आने का कारण भी कदाचित् केवल स्तरभेद ही हो सकता है और उसे हम स्वरूपभेद का भी कोई महत्त्व नहीं दे सकते। भिन्न-भिन्न माध्यमों वा साधनों के कारण हमें उनके अंतःसाम्य की पूरी प्रतीति नहीं हो पाती और हम उन्हें कभी-कभी उपेक्षित कर दिया करते हैं। उदाहरण के लिए रहस्यानुभूति का विषय अभी मध्ययुग के बहुत पीछे तक भी केवल कोई ईश्वरीय सत्ता अथवा परमात्म तत्त्व ही समझ लिया जाता रहा है। इसी कारण, रहस्यवादियों के संबंध में, सर्वसाधारण की सदा यही धारणा रहती आई है कि उनका धार्मिक पुरुष अथवा आध्यात्मिक पुरुष कहलाना केवल इसी रूप में सार्थक होगा, जब हम उन्हें किसी प्रचलित संप्रदाय से संबद्ध भी कर लें। इसलिए ऐसे साधकों की अनुभूति में उपलब्ध सत्ता का स्वरूप भी बराबर कोई न कोई साम्प्रदायिक रंग ही पकड़ लिया करता था और उनकी साधानाएं तक भी प्रायः ऐसा रूप ही ग्रहण कर लेती थीं जिससे उक्त धारणा की पुष्टि हो जाया करती थी। यही कारण है कि आज भी वैसे लोगों का वर्गीकरण हम, हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, यहूदी वा ईसाई जैसे मजहबों के ही अनुसार करते दीख पड़ते हैं। इस बात को भलीभांति समझते हुए भी कि वास्तविक रहस्यवाद की दृष्टि से ऐसा भेदभाव सर्वथा अनावश्यक होगा, हम ऐसी प्रचलित परंपरा का त्याग नहीं करते, प्रत्युत इसके कारण अनेक प्रकार के भ्रमों का शिकार तक बन जाया करते हैं।

इसी प्रकार की भ्रांति का एक अन्य स्पष्ट परिणाम हमें इस रूप में दीख पड़ता है कि रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति का हम केवल मानवीय वाणी अथवा किसी भाषा तक ही सीमित होना स्वीकार कर लेते हैं और इस बात की प्रायः कोई कल्पना भी नहीं कर पाते कि वैसे अनुभव को किसी अन्य माध्यम द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। परंतु जैसा हमने अभी कहा है, यदि रहस्यवाद को हम किसी जीवन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण पद प्रदान करना चाहते हैं और यदि वास्तव में, यह सत्य है कि यह उसके लिए सर्वथा योग्य है तथा इस दृष्टि से इसका उपयुक्त मूल्यांकन भी किया जा सकता है तो यह आवश्यक है कि हम इसकी परीक्षा इसे उक्त धार्मिक क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक परिवेश में भी लाकर करें और इस प्रकार, इसके मौलिक रहस्य का पूर्ण उद्घाटन भी किया जा सके। जैसा हमने अभी देखा है, रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति का कलात्मक भी होना कभी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यदि इस प्रश्न के ऊपर पूरी गंभीरता के साथ विचार किया जाय तो हम इतना और भी कह सकते हैं कि इसे अधिक से अधिक उसकी एक शैली-विशेष का ही नाम दिया जा सकता है, उससे इसका तत्त्वतः भिन्न होना तो कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु जहां तक पता चलता है रहस्यवाद के विषय में विशेषज्ञ वा पंडित समझे जाने वाले लोगों तक ने भी इस बात की ओर समुचित ध्यान का देना आवश्यक नहीं समझा है। उन्होंने इसका परिचय देते समय केवल इसके 'धार्मिक' रूप को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया है। यदि कभी इससे संबद्ध अभिव्यक्ति की भी चर्चा की है, उस दशा में भी, उन्होंने केवल उसके उस रूप को ही हमारे सामने रखा है जिसके उदाहरण काव्यग्रन्थों अथवा रहस्यवादी कवियों की विभिन्न रचनाओं के अंतर्गत मिल सकते हैं। ऐसे गद्यात्मक साहित्य को भी उन्होंने केवल तभी कोई महत्त्व दिया है, जब या तो वह किसी वैसे पहुंचे संत की ओर से प्रकट किये गए आत्मोद्गार के रूप में रहा है अथवा किसी ऐसे कवि वा लेखक के निबंध का कोई अंश रहा है जिसे किसी न किसी रूप में रहस्यानुभूति का अधिकारी भी समझ लिया जा सकता है। यह बात उन्हें कदाचित्, कभी

आकृष्ट नहीं कर सकी कि जिस प्रकार हम काव्य-कला के माध्यम को किसी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझ ले सकते हैं, उसी प्रकार हम यह भी कर सकते हैं कि उसके साथ ही, कतिपय अन्य कलाओं की ऐसी क्षमता की भी जांच-पड़ताल करें।

रहस्यवाद का स्वरूप निर्धारित करते समय हमने देखा था कि अपने जीवन-दर्शन का पद ग्रहण करने की दृष्टि से यह कभी केवल प्रचलित धर्मों अथवा संप्रदायों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, प्रत्युत इसे उस धर्म की संज्ञा दी जा सकती है जो वास्तव में, हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। जो इसी कारण विशुद्ध मौलिक एवं व्यापक अर्थ रखता है तथा जिसके वैसे वास्तविक रूप को अपनाकर चलने में कभी किसी प्रकार के भेदभाव अथवा संघर्ष की कोई आशंका नहीं की जा सकती। अतएव इस दृष्टि से विचार करने पर हम इसके साधकों के अंतर्गत ऐसे लोगों की भी गणना कर सकते हैं जिन्हें उक्त सम्प्रदायों के अनुयायी सहसा 'नास्तिक' ठहरा सकते हैं अथवा जिनके विषय में कम से कम, किसी अधार्मिकता का ही आरोप कर सकते हैं। परंतु, यदि हम इसके वास्तविक स्वरूप का कुछ भी परिचय दिला सके हैं तो उनकी ऐसी धारणा को कभी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, यदि कला का मूल-तत्त्व वस्तुतः किसी विश्वात्मक एकता के मूल-तत्त्व जैसा ही हो सकता है तथा यदि हम किसी कलात्मक अभिव्यक्ति को मानव-जीवन की अभिव्यक्ति का भी नाम दे सकते हैं, उस दशा में यह कदाचित् कभी उचित नहीं कहा जा सकता कि इसके लिए हम केवल उस कला को ही महत्त्व दें जिसका प्रत्यक्ष संबंध वाणी अथवा भाषा के साथ है और उन कलाओं की ओर कुछ भी ध्यान न दें जिनके अन्य माध्यम कहे जाते हैं। यह बात हमें अधूरी-सी लगती है कि इस संबंध में हम संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला वा स्थापत्य आदि के प्रति न्यूनाधिक उपेक्षा प्रदर्शित करें। इन विभिन्न कलाओं का एक ऐसा रूप भी हो सकता है जिसे उनकी व्यावहारिक उपयोगिता के अनुसार महत्त्व दिया जाता है और जिसके साथ रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के किसी प्रत्यक्ष संबंध की कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त बहुत सी अन्य ऐसी कलाएं भी हो सकती हैं जिनकी दृष्टि से ऐसे व्यक्तीकरण के साथ कोई बादरायण संबंध तक भी स्थापित नहीं किया जा सकता। परंतु, यदि कला के वास्तविक रूप की ओर ध्यान दिया जाय, उस दशा में इन्हें उसके अंतर्गत कभी गिना ही नहीं जा सकता। जहां तक उक्त ललित कलाओं के द्विरूपात्मक होने की बात है यह उनके व्यावहारिक उपयोग में आने मात्र पर निर्भर है और यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो हम काव्य-कला को भी इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं ठहरा सकते और न उसे उसके दुरुपयोगों से कभी बचा ही ले सकते हैं। अतएव ऐसी बातों की ओर ध्यान रखते हुए हम केवल उन्हीं कलात्मक अभिव्यक्तियों की ओर संकेत करेंगे जो वस्तुतः मौलिक और विशुद्ध कही जा सकती हैं और जिनके विषय में यह स्पष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता कि उनका कोई ठेठ व्यावहारिक वा उपयोगपरक मूल्य हो सकता है। इन कलाओं की चर्चा हम केवल इनके रहस्यानुभूति का माध्यम बनने की क्षमता की दृष्टि से ही करेंगे और इस बात पर भी विचार करेंगे कि किस प्रकार ये क्रमशः स्वर, रंगरेखा, मृतिका एवं प्रस्तर जैसी बातों का आधार लेकर भी, उसकी अभिव्यक्ति में सहायता प्रदान कर सकती है। इसके अनंतर फिर हम काव्य-कला के प्रश्न को भी लेना चाहेंगे और उसके साथ उन कतिपय विशिष्ट शैलियों की भी चर्चा करेंगे जिनका उसे अपनी कठिनाइयों को दूर करने में किसी न किसी प्रकार सहायता लेनी पड़ती है।

यदि हम उक्त ललित कलाओं में से सर्वप्रथम, संगीत कला को लेते हैं और उस पर विचार करने लगते हैं तो हमें पता चलता है कि उसके माध्यम 'स्वर' का मूल स्रोत 'शब्द' में निहित है जिसे प्रायः सभी देशों के प्राचीन ग्रंथों में किसी न किसी प्रकार अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता आया है और जिसे वस्तुतः सारी सृष्टि का आदि मूल तक भी ठहराया गया है। भारतीय दर्शन का 'शब्द ब्रह्म' जो साधारणतः ॐकार के रूप में अभिहित होता है उस 'नाद' से भिन्न नहीं समझा जा सकता जिसकी ध्वनि का शाश्वत रूप में जागृत रहा करना और मूलतः आदि सृष्टि का अस्तित्व में लाना भी स्वीकार किया जाता आया है, जिस कारण वह उस विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता के साथ एक और अभिन्न भी मान लिया जा सकता है जिसे हमने रहस्यवाद का मूलाधार कहा है। ग्रीस देश के प्राचीन दार्शनिक हिराक्लिटस (Heracleitus) ने भी संभवतः ऐसी ही किसी सत्ता को लोगस (Logos) का नाम दिया था और उसके संबंध में कहा था "मुझसे नहीं प्रत्युत 'लोगस' की ध्वनिश्रवण करके ही यह मान लेने में भलाई है कि सभी कुछ एक और अद्वैत रूप है।"[१] उसके अनुसार भी वही इस प्रवहमान जगत् वा (Becoming) का मूल समझा जा सकता है और ईसाइयों के यहां उसे ही 'स्रष्टा शब्द' अर्थात् (Creative Word) तक की संज्ञा दी गई दीख पड़ती है तथा उसके द्वारा उद्भूत सामूहिक गायकचक्र अर्थात् (Choir) में शाश्वत गान में ईसाई संतों का सम्मिलित होना और इस प्रकार उसके परमानंद का भागी होना भी बतलाया गया है। कहते हैं कि जब किसी ईसाई रहस्यवादी संत का दीक्षाकाल समाप्त हो जाता था और वह इस प्रकार, "भीतरी गायक चक्र अर्थात् Inner Choir में सम्मिलित हो जाया करता था तो उसकी जीवात्मा वहां पर स्वयं ज्ञान देवी अर्थात् Sophia के साथ हाथ में हाथ मिलाकर नृत्य करने लग जाती थी तथा इस प्रकार, यह आध्यात्मिक विश्व के भी ताल में ताल मिलाने लगती थी और उसे ऐसा अनुभव होने लगता था कि मुझे अपना पद प्राप्त हो गया।"[२] अतएव संगीतकला का संबंध मूलतः उस तत्त्व के साथ भी जोड़ा जा सकता है जिसे सभी धर्मों ने परमात्मा के रूप में स्वीकार किया है और इस प्रकार विचार करने पर इसका मूल्य केवल इसके साधारण आनंद प्रदान करने तक ही सीमित नहीं समझा जा सकता।

संगीत कला के आधार पर सांसारिक प्रपंचों से विलग होकर ध्यानस्थ बनने की साधना का भी अनुमान सरलतापूर्वक किया जा सकता है और इस बात को भलीभांति उदाहृत भी किया जा सकता है कि किस प्रकार महान् संगीतज्ञों ने इसका उपयोग किया होगा। कहा जाता है कि गूढ़ वैदिक मंत्रों का संगीतात्मक उच्चारण करते-करते प्राचीन ऋषि समाधिस्थ बन जाया करते थे और अभी आधुनिक युगों तक के संतों के संबंध में कहा जाता है कि उनमें से कई एक अनाहतनाद के श्रवण में ही तल्लीन बन जाते रहे हैं। वीणा के नाद को श्रवण कर मृग का अपनी चौकड़ी भूल जाना और अपने को इस प्रकार व्याध के हाथ में समर्पित कर देना भी इस बात की ही पुष्टि करता है

---

१. "Having hearkened not unto me, but unto the Logos it is wise to confess that all things are one." Quoted in Underhill's Mysticism p. 38.

२. Underhill's Mysticism p. 233.

और हमें इसे समझने में पूरी सहायता देता है कि संगीतकला के द्वारा किस प्रकार अपनी वृत्तियों को समाहित किया जा सकता है तथा फिर कैसे उसके माध्यम द्वारा प्रकृतस्थ होकर हम अपने उस चरमलक्ष्य को भी उपलब्ध कर सकते हैं जो रहस्यवाद का ध्येय है। महान् संतों एवं भक्तों का सदा से संगीत-प्रेमी होते आना तथा न केवल गुरु नानक एवं स्वामी हरिदास के समान संगीत में लीन रहा करना, अपितु महाप्रभु चैतन्य जैसे कीर्तन करते-करते बेसुध तक बन जाना भी संगीतकला का ही एक परिणाम कहा जा सकता है। इसके द्वारा इस प्रकार का एक मत भी निर्धारित किया जा सकता है कि जिस आनंद के रसास्वादन में ऐसे लोग आत्मविभोर बन जाते आये हैं उसे भी हम उस रहस्यानुभूति का ही एक पर्याय मान सकते हैं जिसकी अनिर्वचनीयता के कारण हमने इसे उसका एक माध्यम स्वीकार किया है। परंतु जैसा हम इसके पहले भी कह आये हैं, हम ऐसे संगीतात्मक आनंद को केवल किसी मनोवेगात्मक दशा के रूप में ही मानकर अपना निर्णय देना नहीं चाहते और न हमारा उद्देश्य यही हो सकता है कि हम संगीत के किसी भी रूप विशेष को यहां पर प्रश्रय दे दें। हमारा अभिप्राय केवल यहीं तक सीमित समझा जा सकता है कि विशुद्ध संगीत को रहस्यानुभूति का एक सुंदर माध्यम ठहराया जा सकता है। इस कला के अंतर्गत हमें ध्यान की साधना अथवा Comtemplation की स्थिति उत्पन्न करने की अपार शक्ति पायी जाती है जो रहस्यवाद की अनुभूति के लिएं परमावश्यक साधन समझी जाती है। इसके मूल में सदा एक ऐसी भावना भी काम करती आयी है कि इसके आदि आधार का संबंध उस नादात्मक ब्रह्म की शाश्वत सत्ता के साथ जोड़ा जा सकता है जिसे हमने निर्विशेष का नाम दिया है।

संगीतकला के अनंतर हम चित्रकला की चर्चा कर सकते हैं जो मूर्तिकला एवं स्थापत्यकला की अपेक्षा इसके अधिक निकट जान पड़ती है और जो अपने क्षेत्र की व्यापकता में भी, उन दोनों से कहीं उच्चतर स्तर की प्रतीत होती है। संगीतकला और चित्रकला के बीच एक महान् अंतर यह है कि प्रथम के लिए जहां किसी रूपात्मक अभिव्यक्ति का भी होना आवश्यक नहीं वहां द्वितीय की दशा में यह अनिवार्य-सा है। संगीतकला में केवल नाद, स्वर अथवा शब्द से ही काम लिया जाता है और उसके सहारे अरूपात्मक भावों के प्रकाशन द्वारा अपनी अभिव्यक्ति में शक्ति एवं सक्रियता ला दी जाती है जो उसके स्पष्टीकरण में कुछ सहायता प्रदान कर सकती है। परंतु चित्रकला की यह विशेषता है कि यह रंगरेखा की उपयुक्त योजना द्वारा अरूप को भी रूप दे सकती है और असीम को सीमाबद्ध कर सकती है। इसके लिए किसी विस्तृत और विशाल क्षेत्र को लघु रूप दे देना और किसी दूरवर्ती पदार्थ को भी अति निकट प्रदर्शित कर देना कोई कठिन काम नहीं है। यह विद्या हमारे लिए किसी स्मारक का काम कर सकती है और हमें किसी दशा में भावमग्न भी कर दे सकती है। अतएव इन सभी दृष्टियों से इसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है तथा अभिव्यक्ति के विचार से भी हम इसे किसी प्रकार निम्नकोटि की नहीं ठहरा सकते। श्री अरविन्द के अनुसार "चित्रकला स्वभावतः अन्य सभी कलाओं की अपेक्षा कहीं अधिक इन्द्रियपरक हुआ करती है और किसी चित्रकार की सबसे बड़ी महानता इस बात में देखी जाती है कि वह अधिक से अधिक विशद वाह्य सौंदर्य का भी प्रकाशन, किसी सूक्ष्म आध्यात्मिक मनोवेग के रूप में कर दे। इस प्रकार, वैसी ऐन्द्रियता के प्रभाव को भी आध्यात्मिक बना दे जिससे जीवात्मा एवं इन्द्रिय, अपनी गंभीरतितगंभीर तथा उच्चातिउच्च दशा में भी, किसी अविरोध की स्थिति में आ जा सकें और इसके

परिणामस्वरूप, सारे पदार्थ एवं जीवन के मर्मोद्घाटन में ये दोनों एक साथ प्रवृत्त हो सकें।"[१] जो वास्तव में, एक अत्यंत उत्कृष्ट दशा को सूचित करता है। परंतु आश्चर्य की बात है कि ऐसी श्रेष्ठ कला के उदाहरण हमें बहुत कम ही मिल पाते हैं और ऐसा कोई विरला ही चित्रकार मिल सके जिसने कभी अपनी ऐसी अपूर्व शक्ति का प्रयोग पूरी सफलता के साथ किया हो और हमें कोई ऐसा चित्र भी दे गया हो। ऐसी अभिव्यक्ति की कठिनाई को दूर करने के लिए हम किन्हीं प्रतीकों के प्रयोग किये गए भी पाते हैं जिनकी चर्चा आगे काव्यकला के संबंध में की जायगी।

चित्रकला के अनंतर क्रमानुसार, मूर्तिकला का प्रसंग आता है जिसमें अभिव्यक्ति का आधार और भी अधिक स्पष्ट रूप ग्रहण कर लेता है और वह ऐसी दशा तक में भी आ जाया करता है जिसे स्थूल कहा जायगा। मूर्ति का निर्माण भी, चित्रकला की भांति ही बहुत प्राचीन काल से होता आया है और इसका प्रमुख उद्देश्य भी, उसी प्रकार, किसी प्रतिरूप का प्रदर्शन ही कहा जा सकता है। किंतु चित्रकला और मूर्तिकला में एक बहुत बड़ा अंतर इस बात की दृष्टि से पाया जाता है कि प्रथम की अभिव्यक्ति का क्षेत्र, जहां अधिक विस्तृत और व्यापक है और उसके द्वारा जहां दृश्यमान जगत् के किसी भी अंश का दिग्दर्शन कराया जा सकता है, वहां द्वितीय का क्षेत्र सीमित है और इसकी सहायता से हम केवल वहीं तक अपना काम ले सकते हैं, जहां तक किसी की आकृति और उसकी चेष्टाओं के प्रदर्शन का संबंध हो सकता है। इस विद्या का विशेष प्रचार प्राचीन ग्रीस देश में रहा है, जहां पर ऐसी मूर्तियों के वाह्य सौंदर्य और पूर्णता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। ऐसे उदाहरण वहां अधिक संख्या में नहीं मिलते जिनमें आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति भी उसी कुशलता के साथ की गई हो।[२] ऐसे एकाध उदाहरणों में हम प्रसिद्ध Laocoon (लाउकून) का नाम ले सकते हैं जिसमें आंतरिक वेदना का प्रदर्शन बड़ी सफलता के साथ किया गया मिलता है। परंतु, जहां तक पता चलता है, भारतीय मूर्तिकला की विशेषता, न केवल सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति, अपितु उसके आध्यात्मिक उद्देश्य की ओर भी संकेत करती जान पड़ती है जिसके पर्याप्त उदाहरण यहां की बौद्ध मूर्तिकला के अनुसार गढ़ी गई मूर्तियों के रूप में मिल सकते हैं। इसके सिवाय हिंदू धर्म में प्रचलित मूर्तिपूजा की भावना ने इस कला को विभिन्न देवताओं के रूपों द्वारा उसके आध्यात्मिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करने की ओर भी विशेष

---

१. Painting is naturally the most sensuous of the arts, and the highest greatness open to the painter is to spiritualise this sensuous appeal by marking the most vivid outward beauty a revelation of subtle spiritual emotion so that the soul and the sense are at harmony in the deepest and finest richness of both and united in their satisfied consonant expression of the inner significance of things and life. The Foundation of Indian Culture, (New York, 1953) pp. 274-5.

२. W. Basil Warsford : Judgement in Literature (London, 1951) p. 46.

रूप से प्रेरित किया है। इस प्रकार हमें यहां पर भी उसी प्रकार उदाहरण मिल जाते हैं जिस प्रकार चित्रकला के संबंध में देखे जाते हैं तथा उसी प्रकार हमें यहां पर विविध प्रतीकों के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। ध्यानस्थ बुद्ध की प्रतिमा द्वारा हमें कभी-कभी उस आभ्यंतरिक शांति का पता चलने लगता है जो आत्मतुष्टि-जनित अपूर्व आनंद की दशा में बाह्य मुद्राओं द्वारा इंगित हो जा सकती है। इसी प्रकार, प्रसिद्ध नटराज शिव की मूर्ति को देखते ही हम उस विशाल हृदय की कल्पना करने लग जाते हैं जिसके भीतर संपूर्ण विश्व के प्रति कारुण्य एवं ममता की लहरें जग रही हों और ये दोनों ही उदाहरण हमें उस रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की ही एक झांकी प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं जो हमारा प्रकृत विषय है। ऐसी प्रतिमाओं का निर्माण किसी साधारण शिल्प-कला के वश की बात नहीं हो सकता।

स्थापत्यकला के विषय में विचार करते समय हम इस अभिव्यक्ति के साधन को किसी और भी अधिक स्थूल माध्यम तक आ गया हुआ पाते हैं। अपनी सामग्रियों की दृष्टि से तो ये एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं ठहरायी जा सकतीं, यद्यपि मूर्तिकला के लिए विभिन्न धातुओं का भी उपयोग किया जा सकता है जिनकी स्थापत्यकला के लिए कभी कोई संभावना नहीं समझी जा सकती। परंतु अपने क्षेत्रों की व्यापकता के विचार से ये दोनों आपस में बहुत भिन्न कही जा सकती हैं और यदि व्यावहारिक उपयोगिता को भी ध्यान में रखा जाय तो स्थापत्यकला को हम अन्य सभी ललित कलाओं से भी कहीं अधिक विशिष्ट कह सकते हैं। संगीत कला के गीत, चित्रकला के चित्र और मूर्तिकला की मूर्ति को जहां हम बहुधा केवल उनके कलात्मक रूपों में ही देखा करते हैं, वहां स्थापत्यकलानुसार निर्मित मंदिर का उपयोग निवासस्थान के लिए भी कर सकते हैं। परंतु, केवल इसी कारण, हम इसे उपयोगी कलाओं अथवा उद्योगकलाओं की श्रेणी में भी नहीं गिना करते। हम इसके अनुसार निर्मित कृतियों को धार्मिक मंदिरों के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, उन्हें श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं तथा उनकी ओर दृष्टि डालते ही कभी-कभी हम भावविभोर तक भी बन जाया करते हैं और इस प्रकार, हम उन्हें प्रायः किसी आध्यात्मिक भावना का प्रतीक भी मान लेते हैं। हिंदू मंदिरों के उपरिस्थित मध्यवर्ती कलश के ऊपर दृष्टि डालते ही कभी-कभी हमें या तो किसी सुंदर कमल कलिका का स्मरण हो आता है अथवा हमें ऐसा भी प्रतीत होने लगता है मानो वह किसी परम श्र... सत्ता के प्रति अर्पित हस्तद्वय के संयुक्त यत्नों को प्रकट करने के लिए निर्मित कर दिया गया हो और इस प्रकार, उसका कोई आध्यात्मिक उद्देश्य भी हो सकता है। इसके सिवाय बौद्ध मंदिरों के रूप द्वारा हमें ध्यानी बुद्ध की शांत मुद्राओं का स्मरण हो सकता है तथा द्राविड़ कलानुसार निर्मित मंदिरों की विशालता और समृद्धता के आधार पर उस विराट् पुरुष की भव्य मूर्ति के भी दर्शन हो सकते हैं जिसे इस विश्व की समग्रता के सूचनार्थ कल्पित किया जाता है। अतएव भावादर्श की समुचित अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्थापत्यकला की उपादेयता भी लगभग उसी प्रकार सिद्ध की जा सकती है जिस प्रकार संगीतकला, चित्रकला एवं मूर्तिकला के संबंध में कहा जा चुका है। यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो, यहां पर भी हमें वैसे उदाहरणों की कमी नहीं दीख पड़ेगी जिनकी चर्चा रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के प्रसंग में की जा चुकी है। वास्तव में ये सारी कलाएं, मानव-जीवन के आभ्यंतरिक रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए काम में लायी जा सकती हैं। इस प्रकार, इनका न्यूनाधिक उपयोग स्वभावतः रहस्यात्मक अनु-

भूति के उस व्यक्तीकरण में भी किया जा सकता है जिसका संबंध निश्चयात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता के साथ संभव हो सके।

(३) रहस्यानुभूति के व्यक्तीकरण की भाषा-शैली

रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यमों में जहां संगीतादि विविध कलाओं की उपयुक्तता के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया जाता है, वहां काव्यकला को इस विषय में सर्वाधिक प्रधानता देने की परंपरा भी पायी जाती है और कभी-कभी तो रहस्यवाद का परिचय देते अथवा उसकी व्याख्या करते समय, उसे इस कला की एक शैली-विशेष मात्र स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। परंतु, जैसा अभी तक इस विषय पर प्रकट किये गए विचारों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है अथवा जहां तक हमारी ओर से दी गई उसकी परिभाषा को मानकर चलने पर भी कहा जा सकता है, ऐसी किसी धारणा का बना लेना तथ्य से दूर जाने के समान हो सकता है। रहस्यवाद के विषय पर विचार करते समय हमें इसके ऐसे तीन अंगों की ओर ध्यान देना पड़ता है जिनमें से किसी भी एक को हम किसी प्रकार उपेक्षित नहीं ठहरा सकते। न तो हम उसकी आधारशिला रहस्यानुभूति का महत्त्व कम कर सकते हैं, न इसकी अभिव्यक्ति का मूल्य घटा सकते हैं और न उसके अनुसार स्वीकृत आचरण-पद्धति के ही प्रति किसी प्रकार की उपेक्षा प्रदर्शित कर सकते हैं, क्योंकि इनमें से किसी भी एक की महत्ता के प्रति समुचित ध्यान न देना, उस विषय को किसी जीवन-दर्शन के समान मानते हुए भी उसका केवल अधूरा परिचय देना मात्र ही कहा जा सकता है। यदि हम केवल इसके अनुभूति-पक्ष को ही लेते हैं और उसकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा करके अथवा उसके किसी आध्यात्मिक मूल्य का विवेचन मात्र करके छोड़ देते हैं, जैसा अधिकतर ईसाई लेखकों ने किया है, तो वह सर्वथा एकांगी बनकर ही रह जाता है। यदि हम केवल वैसी अनुभूति की अभिव्यक्ति मात्र पर ही विचार करने लगते हैं, जैसा साहित्यिक आलोचना करने वालों ने किया है तो उस दशा में भी हम उस विषय के प्रति पूरा न्याय नहीं कर पाते, प्रत्युत उसकी मूलाधार वस्तु का प्रतिपादन करना ही छोड़ दिया करते हैं। इसके सिवाय, यदि हम इन दोनों की चर्चा करते हुए भी, उसके व्यावहारिक पक्ष का परित्याग कर देते हैं, जैसा साधारणतः अभी तक रहस्यवाद की चर्चा करने वालों की प्रवृत्ति देखी जाती आई है, उस दशा में हमारा उसकी उस विशेषता की ओर से ही आंख मूंद लेना कहा जा सकता है जिसके कारण, इसे हमारे मानव-जीवन के कार्यक्रम के अंतर्गत, एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जा सकता है।

परंतु यहां पर एक उस प्रश्न पर भी कुछ विचार कर लेना उचित जान पड़ता है जिसके अनुसार इस रहस्यवादात्मक अभिव्यक्ति का किसी वास्तविक काव्यकला के साथ लगाव का होना ही स्वाभाविक नहीं समझा जाता। कुछ दिन हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रश्न को उठाकर इसके संबंध में बहुत कुछ कहा था जिसके कारण, हिंदी के आलोचना क्षेत्र में इस विषय की चर्चा वर्षों तक चलती रही तथा प्रसाद जी जैसे कतिपय विचारकों ने इस पर अपना-अपना मत भी प्रकट किया था। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी

अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"[१] इसके सिवाय उनका अन्यत्र इस प्रकार भी कहना है कि "रहस्यवाद की उत्पत्ति पैग़म्बरी (Semitic) मतों के भीतर हुई है। प्राचीन आर्य काव्य में—क्या भारत के, क्या यूरोप के—रहस्यवाद का नाम तक नहीं सीधा देववाद है"[२] जिसके द्वारा उनकी ओर से इसका हमारे यहां के लिए एक प्राचीन विषय न समझा जाना भी सिद्ध कहला सकता है। इसके विपरीत प्रसाद जी का कथन है कि "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"[३] तथा उनका यह भी कहना है कि "शैवों के अद्वैतवाद और उनके सामरस्य वाले रहस्य सम्प्रदाय का वैष्णवों के माधुर्यभाव और उनके प्रेम रहस्य का तथा कामकला की सौंदर्य-उपासना का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की साधना-प्रणालियां हैं।"[४] इन्होंने अनेक उपयुक्त उद्धरण देकर फिर इस बात को भी प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि "आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनंद मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रखा और इसे वे 'रहस्य सम्प्रदाय' कहते थे"[५] तथा "छान्दोग्य आदि श्रुतियों के प्रकाश में यह रति-प्रीति—अद्वैत-मूला भक्ति रहस्यवादियों में निरंतर प्रांजल होती गई"[६] जिससे इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार प्रसाद जी के यहां से उद्धृत इन अवतरणों द्वारा आचार्य शुक्ल द्वारा उठाये गए प्रश्न का बहुत कुछ समाधान कर दिया गया भी कहा जा सकता है।

परंतु अपने विषय का कुछ और भी अधिक स्पष्टीकरण कर लेने के उद्देश्य से इस संबंध में एकाध अन्य बातें भी कह देना आवश्यक है। जहां तक 'रहस्यवाद' शब्द के व्यवहार का आधुनिक होना कहा गया है इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। हम स्वयं इस बात को स्वीकार कर आये हैं कि यह शब्द वास्तव में, अंग्रेजी के शब्द मिस्टसिज्म (Mysticism) का अनुवाद है जो स्वयं बहुत प्राचीन नहीं ठहराया जा सकता और इसके जिस रूप को आचार्य शुक्ल ने साम्प्रदायिक ठहराया है वह भी वस्तुतः इधर की ही देन है। परंतु, जैसा प्रसाद जी द्वारा उद्धृत किये गए "द्वैत-दर्शनाधिवासित प्रायेजीवलोके रहस्य सम्प्रदायो मा विच्छेदि"[७] अवतरण से सूचित होता है, 'रहस्य-सम्प्रदाय' नामधारी किसी मत परंपरा के अस्तित्व कम से कम, 'शिवसूत्र विमर्शिणी' की 'प्रस्तावना' के अंतर्गत ऐसा कथन करने वाले क्षेमराज (सन् ९७५-१०२५ ई०) के समय तक होना भी स्वयं-सिद्ध समझा जा सकता है। इसके सिवाय, इसके द्वारा यह बात भी प्रायः निश्चित सी हो जाती है कि ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में, यहां द्वैतदर्शनों की प्रचुरता रही जिस कारण 'रहस्य सम्प्रदाय' जैसे किसी मत के प्रचार की आवश्यकता का अनुभव उस समय अद्वैतवादी सिद्धांत एवं साधना-

---

१. 'चिन्तामणि' द्वितीय भाग, वाराणसी, सं० २०१४, पृ० ५४।

२. वही, पृ० १३८।

३. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', इलाहाबाद, सं० २०१५, पृ० ४६।

४. वही, पृ० ४९।

५. वही, पृ० ५६।

६. वही, पृ० ५७।

७. वही, पृ० ५६।

पद्धति की प्रतिष्ठा के विचार से किया गया था। इस मत का उद्देश्य, काव्य के अंतर्गत किसी शैली विशेष की परंपरा प्रतिष्ठित करने का अवश्य नहीं हो सकता, किंतु इसके द्वारा इस प्रकार की धारणा के भी स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि उस अद्वैतमूला भक्ति का प्रचार उस काल तक अवश्य होता आ रहा होगा जिसके लिए अव्यक्तोपासना का नाम दिया गया जान पड़ता है। इसी को दूसरे शब्दों में 'आत्मरति', 'आत्मक्रीड़ा', 'आत्ममिथुन' अथवा 'आत्मानंद' जैसे नामों द्वारा प्रकट किया जाता था तथा उस अव्यक्त के प्रति "हिरण्मय पात्र के द्वारा सत्य का मुख ढका हुआ है, इसलिए हे पूषन्, तुम उस पर्दे को मुझ सत्यधर्मा के लिए हटाकर अपना मुख अनावृत कर दो जिससे मैं उसे देख सकूं"[1] जैसा कथन करके, फिर यह भी बतला दिया जाता था कि "तेरा जो कुछ अतिशय कल्याणमय रूप है उसका अनुभव कर रहा हूं, वह तो मुझसे भिन्न नहीं है, वह मैं ही हूं।"[2]

ऐसी भक्ति के उदाहरण अथवा इस प्रकार की अद्वैतोपासना-संबंधी उक्तियों के कई अवतरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं तथा इस प्रकार की प्राचीन भावना को स्वामी शंकराचार्य द्वारा रचित कही जाने वाली बहुत-सी पंक्तियों और मराठी कवि ज्ञानेश्वर जैसे कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों की काव्यपूर्ण रचनाओं के आधार पर भी भलीभांति प्रमाणित किया जा सकता है। अतएव अव्यक्तोपासना के इस प्रचुर भक्तिपूर्ण भाव को सहसा किसी 'शामी' मूलस्रोत से आया हुआ मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती और न जहां तक वैसे अव्यक्त के प्रति किसी 'रागात्मक संबंध' की स्थापना करते हुए तदनुसार की गई अभिव्यक्ति को काव्यरूप देने की बात है, यह असंभव ही जान पड़ती है। "कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं"[3] जैसा कथन करके आचार्य शुक्ल ने काव्यकला के विषय को केवल उन प्रत्यक्ष अनुभूतियों तक ही सीमित कर डाला है जो स्थूल वस्तुपरक समझी जा सकती हैं और जिनकी केवल हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित अनुभवों तक की व्यापकता का ही अनुमान किया जा सकता है। हमारी उन अनुभूतियों को यहां पर कोई भी स्थान दिया गया नहीं दीख पड़ता जो हमारी प्रातिभ ज्ञानशक्ति पर आधारित हैं और जिनके अंतर्गत उनके सहजानुभूति का रूप भी ग्रहण कर लेने के कारण, सभी प्रकार के मूलभावों का आपसे आप समाहित रहना, स्वभावतः स्वीकार किया जा सकता है। 'ईशोपनिषद्' के 'हिरण्यमयेन पात्रेण' द्वारा आरंभ होने वाले उक्त मंत्र में जिस सत्य के मुख का ढका होना बतलाया गया है वह प्रत्यक्षतः वही 'अव्यक्त' है जिसकी ओर शुक्ल जी ने संकेत किया है तथा जिसके प्रति उस मंत्र द्वारा प्रत्यक्षानुभूति में आ जाने का अनुरोध किया गया है। उसी के प्रति अगले मंत्र द्वारा वहां पर यह भी प्रार्थना की जाती है कि "तू अपनी किरणों को हटा ले अथवा अपने तेज को समेट ले", क्योंकि ऐसे किसी व्यवधान के बने रहते उस परमतत्त्व रूपी सत्य का साक्षात् कर पाना संभव नहीं प्रतीत हो पाता। शुक्ल जी ने कदाचित् इस दूसरे मंत्र के अंतर्गत किसी काव्यतत्त्व के पाने का कष्ट नहीं उठाया था और न उनका ध्यान इसमें

---

१. "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये" —ईशा० १५।

२. "यत्तेरूपं कल्याणतमं तत्त पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि"—वही, १६।

३. 'चिन्तामणि', पृ० ५४।

प्रकट की गई उस 'मधुर मनुहार' की ही ओर गया था, जिसमें उस अव्यक्त को कभी 'पूषन्' अर्थात् जगत्पोषक कभी 'एकर्षि 'अर्थात् एकाकी गमन करनेवाला, कभी 'यम' अर्थात् सब कुछ का नियंता, कभी 'सूर्य' तथा कभी 'प्राजापत्य' अर्थात् 'प्रजापतिनंदन' जैसे नामों द्वारा अभिहित किया गया है। उसके रूप को अतिशय कल्याणमय बतलाते हुए भी, उससे यह निवेदन किया गया है कि वह कृपा करके अपने रहस्य का पूर्ण उद्घाटन कर दे और अपने प्रार्थयिता को एक बार उस अव्यक्त रूप की झांकी ही ले लेने दे जिसे वह अपने आप से किसी प्रकार अपरिचित नहीं समझता, प्रत्युत उसे अपने साथ एक एवं अभिन्न भी बतलाता है।[१] यदि इन पंक्तियों पर समुचित विचार किया गया होता तो इनके द्वारा अव्यक्त के प्रति रागात्मक संबंध ढूंढ़ने के लिए अन्यत्र जाना भी नहीं पड़ता।

जहां तक पता चलता है इस प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूति विषयक अभिव्यक्तियों के अन्य कई उदाहरण भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं और कोई कारण नहीं कि हम उन्हें क्यों न उच्च कोटि की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में भी स्वीकार करें। वैदिक युग के ऐसे कवि को हम इस प्रकार की मान्यता के साथ अपने उद्गार प्रकट करते देखते हैं कि परमतत्त्व अथवा विश्वात्मा जिसकी उन्हें अनुभति हो रही है वह "न तो हमारी आंखों द्वारा देखा जा सकता है और न उसे हम अपने कर्णेन्द्रियों द्वारा श्रवणकर सकते हैं। उसके निकट हमारे मन और वाणी तक की कोई गति नहीं है।"[२] उसकी तो यहां तक भी धारणा बन गई जान पड़ती है कि "वह न तो वाणी द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और न मन द्वारा ही उपलब्ध होता है अथवा उसे हमारी आंखें देख पाने में समर्थ हैं, उसके संबंध में तो केवल 'है' मात्र तक ही कहा जा सकता है, क्योंकि उसके संबंध में इससे अधिक समझकर, हम उसे किसी प्रकार प्राप्त ही क्यों कर सकते हैं अर्थात् हमारी अनुभूति में वह आ ही कैसे सकता है ?"[३] अतएव वैदिक ऋषि उसे "महान्, दिव्य, अचित्य रूप, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म" जैसे शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहते हैं और इसके साथ ही उसे दूर से भी दूर तथा अपने निकट विद्यमान और यहीं गूढ़ रूप में निहित"[४] भी बतलाया करते हैं। उनका कहना है कि यह आत्मा न तो वाणी द्वारा गम्य है, न बुद्धि वहां तक पहुंच पाती है और न उसे विस्तृत श्रवण वा अध्ययन द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है। वह जिसे स्वयं अपना लेता है वही उसे प्राप्त कर पाता है तथा उसी के प्रति वह अपने शरीर को पूर्णरूप में अनावृत भी किया करता है।"[५] इस कारण "जो उस परम

---

१. दे० पूरा मंत्र—"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"—ईशोपनिषद्, १६।

२. 'न तत्र चक्षुर्गच्छति नो वाग्गच्छति न मनो'—केन० १।३ तथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह'—तैतिरीय ४।१ इत्यादि।

३. "नैव वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।"—कठोपनिषद् २।३।१२।

४. "बृहच्चतद्दिव्यमचिन्त्य रूपं सूक्ष्माच्चतत्सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्"—मुंडक० ३।१।७।

५. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"—वही, ३।२।३।

ब्रह्म को इस प्रकार निश्चित रूप में जान लेता है वह स्वयं भी ब्रह्मरूप हो जाया करता है।"[1] उपनिषद्काल के इन महापुरुषों ने उस रहस्यात्मक सत्ता की अनुभूति प्राप्त करने के साधन को 'अध्यात्म योग' का नाम दिया था और उनका कहना था कि जो इसके द्वारा उसे उपलब्ध कर लेता है वह उसके साथ मानो अपना 'भावात्मक संबंध भी स्थापित कर लिया करता है' और वह धीर पुरुष इस प्रकार, हर्ष एवं शोक दोनों से सर्वथा मुक्त होकर परम शांति की दशा में आ जाता है।[2] उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि "वह अमृतमय ब्रह्म हमारे सामने प्रत्यक्ष है, ब्रह्म हमारे पीछे है, ब्रह्म हमारी बाईं ओर है, ब्रह्म ही हमारी दाहिनी ओर भी है और वही हमारे ऊपर एवं नीचे की ओर है तथा वह श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तत्त्व संपूर्ण विश्व के रूप में भी प्रसृत है।"[3] ऐसी अनुभूति को उस समय, कदाचित्, 'रहस्यानुभति' के नाम से अभिहित नहीं किया जाता था, प्रत्युत इसे उस 'पराविद्या' की संज्ञा दी जाती थी "जिसके द्वारा उस अक्षर की उपलब्धि हुआ करती है और इसकी विशिष्टता प्रकट कर देने के उद्देश्य से इससे भिन्न विद्याओं को जिनके अंतर्गत ऋग्वेदादि संहिताओं तथा शिक्षादि षड् वेदांगों का अध्ययन सम्मिलित किया जा सकता है, किसी पृथक् 'अपरा विद्या' का नाम देते थे।[4]

प्राचीन भारतीय आर्यों की ऐसी धार्मिक मनोवृत्ति के ही कारण, इस देश के लोगों को स्वभावतः 'रहस्यवादी' कहा गया है। अमारी दे रेंकोर्त (Amary De Riencourt) नामक एक पश्चिमी लेखक ने अपनी एक पुस्तक The Soul of India अर्थात् 'भारत की आत्मा' के अंतर्गत यहां के निवासियों की तुलना उन लोगों के साथ की है जो 'मध्यपूर्वीय देशों' अर्थात् अरब, ईरान, सीरिया, फिलस्तीन, आदि में रहते आये हैं और इन दोनों वर्गों वालों की सांस्कृतिक मनोवृत्तियों की चर्चा करते समय बतलाया है कि ये दोनों एक दूसरे से नितांत भिन्न ठहरते हैं। उसके अनुसार "इन दोनों की पूर्णतः वा सर्वथा भिन्न मनोवृत्तियों का पता इस बात से चल जाता है कि इतिहास द्वारा हमें जिन दो विभिन्न मानवीय धार्मिक विचारधाराओं का आज तक परिचय मिल सका है उन दोनों के कारण इनमें दो भिन्न-भिन्न ध्रुवों के जैसा महान् अंतर लक्षित होता है"[5] और इन दोनों प्रवृत्तियों में से भारतीय रूप को उसने 'रहस्यवादी' (Mystical) कहा है तथा इसके विपरीत दूसरे को 'पैग़म्बरी' (Prophetic) शब्द द्वारा सूचित किया है। उसने अपने इस मत के स्पष्टीकरण में, इन दोनों प्रवृत्तियों की व्याख्या भी की है और बतलाया है कि प्रथम की दशा

---

१. "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"—वही, ३।२।९।

२. "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति"। —कठ० १।२।१२।

३. "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणत श्चत्तेरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्"—मुंडक० २।२।११।

४. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद : . . . अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥ वही, १।१।४-५

५. "The clue to their entirely different outlooks lies in the fundamental difference between the two great forms of religious feelings known to history, the two poles of man's religious expression : the 'mystical' and the prophetic." (London, 1961) p. 120.

में जहां अधिकतर निश्चेष्टता, अनुग्रता, समर्पण तथा चिंतन की विशेषताएं पायी जाती हैं, वहां दूसरी में हमें उद्योगिता, अभिमान, अभिलाषा और नैतिकता के दर्शन होते हैं। इसीलिए, प्रथम को जहां हम स्त्रियों के स्वभावानुकल आत्मोत्सर्गपरक पाते हैं, वहां दूसरी की विशेषता पुरुषों की पौरुषता के अनुकूल समझ पड़ती है। इसी प्रकार, यदि मनोवैज्ञानिक नियमानुसार भी विचार किया जाय तो प्रथम के अंतर्गत हमें संवेदन (Feeling) का अंश अधिक मिलेगा, किंतु द्वितीय के विषय में भी हम ऐसा नहीं कह सकते, प्रत्युत इसमें उसके स्थान पर संकल्प (Will) को ही अधिक मात्रा में पा सकते हैं। भारतीय मनोवृत्ति का इसी कारण, स्वभावतः अधिकतर अंतर्मुखी होना तथा शामी मनोवृत्ति का उसी प्रकार, अधिक बहिर्मुखी होना भी ठहराया जा सकता है। अतएव, यदि इस लेखक के मत को स्वीकार किया जाय तो शुक्ल जी की पूर्वोक्त धारणा कि 'रहस्यवाद शामी जातियों की ही देन है और उसे भारतीय साहित्य के अंतर्गत, उनके सपर्क में आने पर ही स्थान मिला होगा' निराधार सी प्रतीत होने लगती है। हमें इस प्रसंग में डॉ० विंटरनित्स (Winternitz) का यह अनुमान भी सिद्ध होता जान पड़ता है "उपनिषदों के रहस्यवादी सिद्धांतों की एक धारा फ़ारस के सूफ़ीमत की ओर प्रवाहित हुई होगी, वह नव अफलातूनियों तथा आलेग्जांड्रिया के ईसाइयों की ब्रह्मविद्या और 'लोग ंवाद' द्वारा होती हुई ईसाई रहस्यवादी एखार्ट और टालर तक पहुंची होगी और फिर उन्नीसवीं शताब्दी के महान् जर्मन रहस्यवादी शोपेनहार की दार्शनिक विचारधारा में परिणत हुई होगी"[१] जिसे कदाचित् उसने भी स्वयं स्वीकार किया है।

परंतु आश्चर्य की बात है कि ऐसी स्थिति के होते हुए भी, यहां के प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन कभी साहित्यिक दृष्टिकोण से भी नहीं किया गया और न जिन उपनिषदों के गंभीर अनुशीलन के फलस्वरूप उक्त प्रकार का निष्कर्ष निकलता है उनकी कभी साहित्यिक समीक्षा की गई। जहां तक पता है पूरे वैदिक साहित्य का अध्ययन-अध्यापन सदा केवल धार्मिक वा दार्शनिक उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर ही होता आया था और जब से पश्चिमी विद्वानों ने उसे इतिहास एवं संस्कृति के आलोक में भी परखना आरंभ किया है, उसके पहले वैसी दृष्टि को भी कोई महत्त्व नहीं दिया जाता रहा। उस पर जो कुछ भी विचार होता रहा वह केवल वेदांगों अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छंद एवं निरुक्त नामक छह निश्चित अध्ययन-पद्धतियों का ही अनुसरण करता आया और इस बात की ओर, कदाचित् बहुत कम ध्यान दिया गया कि उसमें कहीं काव्यत्व है भी था नहीं। इस उपेक्षा के ही कारण संभवतः पीछे आने वाले साहित्य-शास्त्रियों ने भी इसकी उचित

---

१. "From the mystical doctrines of the Upnishads one current of the thought may be traced to the mysticism of the Persian Sufism, to the mystic theosophical logos doctrine of the Neo-Platonics and the Alexandrian Christian down to the teachings of the Christian mystics Ekhart and Tanler, and finally to the philosophy of the great German mystic of the nineteenth Century, Schopenhauer." A History of Indian Literature (Vol. I, Calcutta, 1927) p. 266.

चर्चा करने की चेष्टा नहीं की और काव्य के वास्तविक आदर्श का स्वरूप भरसक कदाचित् वहीं तक प्रतिष्ठित करना चाहा जहां तक धर्मेतर विषयों का संबंध रहा। प्रारंभिक शास्त्रीय ग्रंथों में तो अधिकतर ऐसी नाटकीय रचनाओं को ही लक्ष्य में रखकर नियम निर्धारित किये गए जिनका कुछ अभिनयाश्रित महत्त्व हो सकता था और कदाचित् इसी कारण, उस समय ऐसे प्रश्नों का भी कोई विवेचन नहीं किया जा सका जो शांतरस जैसे विषयों से संबद्ध थे। परंतु हमारा विश्वास है कि यदि वैदिक साहित्य का मूल्यांकन विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से किया जाय तो उसमें कई ऐसे स्थल मिल सकते हैं जिन्हें उच्चकोटि का काव्य स्वीकार करने में भी कोई हिचक नहीं हो सकती और ऐसे उदाहरणों में एक अच्छी सी संख्या उन पंक्तियों की भी हो सकती है जिनमें इसके साथ ही रहस्यवादात्मक भाव सन्निहित हैं। इसी प्रकार उसके उधर वाले संस्कृत के ग्रंथों जैसे बाल्मीकीय 'रामायण', 'महाभारत' और कतिपय पौराणिक रचनाओं तक में हमें ऐसी सामग्री कम नहीं मिल सकती और यदि अनुसंधान किया जाय तो ऐसे स्थलों से बौद्धों एवं जैनों के प्राचीन पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य भी रहित नहीं पाये जा सकते।

रहस्यात्मक अनुभूति की सभी अभिव्यक्तियां काव्य की श्रेणी में नहीं रखी जा सकतीं, इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी अभिव्यक्तियों के अंतर्गत कभी-कभी केवल कोरा वर्णन मात्र पाया जा सकता है और उसका भी अधिकांश प्रायः ज्ञानपरक ही हो सकता है। हमें अपने दैनिक अनुभव में भी साधारणतः ऐसे अनेक अवसर मिल जाते हैं जब हम कभी अपने भीतरी भावों का प्रकाशन भलीभांति नहीं कर पाते और कुछ तो अज्ञानवश तथा कभी-कभी अपनी मनःस्थिति के संतुलित न रहने के कारण, उन्हें यथावत् शाब्दिक रूप देने में असमर्थ रह जाते हैं और इस प्रकार, हमारे कथन में अस्पष्टता और दुर्बोधता तक भी आ जाया करती है। इसके सिवाय अनेक बार ऐसा भी देखा जाता है कि अपने गूढ़ अनुभवों के व्यक्तीकरण में हम लोग प्रायः जान-बूझ कर भी कोई न कोई पेचीदगी ला दिया करते हैं जिसका उद्देश्य यह रहा करता है कि या तो हमारी बातों को सभी पूर्णरूप में समझ न पावें अथवा यह कि उसके कारण हमारे महत्त्व की वृद्धि हो। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की अभिव्यक्तियों को सदा हम उस रहस्यात्मक अभि-व्यक्ति के रूप में नहीं ग्रहण कर सकते जिनकी चर्चा अभी तक होती आई है तथा जिनमें से ही कुछ को हम यहां रहस्यवादी काव्य ठहराना स्वीकार भी कर सकते हैं। काव्यात्मक वा साहित्यिक रहस्याभिव्यक्ति हम केवल उन्हीं पंक्तियों में पा सकते हैं जिनमें न केवल रहस्यानुभूति की गहराई आपसे आप व्यंजित हो रही हो, अपितु जिनकी कथन-शैली द्वारा इतना और भी सूचित हो सके कि उनके द्वारा अनुभवकर्त्ता को अपने भाव-संप्रेषण की प्रक्रिया में पूरी सफलता नहीं मिल रही है उसका कारण केवल उसकी असमर्थता ही नहीं, अपितु उसकी वह संपृक्तता भी हो सकती है जिसकी दशा में वह अपने व्यक्तित्व को अनुभूत लक्ष्य के प्रति सर्वथा अर्पित करते हुए स्वयं उसमें लीन हो चुका है और उसकी विवशता, उस मधु में आचूड़ निमग्न मक्षिका की जैसी हो रही है जो लाख यत्न करने पर भी अपने पंख नहीं मार पाती और न इसी कारण, कभी उड़ान ही भर पाती है। ऐसा अनुभवकर्त्ता अपनी अभिव्यक्ति में बार बार प्रयास करता है, किंतु अपने गूढ़ भावों द्वारा प्रायः अभिभूत बने रहने के कारण, वह कभी पूर्ण सफल नहीं हो पाता और जैसा हम इसके पहले भी कह आये हैं, ऐसे भावों का रूप सदा मनोवेगपरक ही नहीं हुआ करता, प्रत्युत उनमें बहुधा वह

प्रशांति भी प्रचुरमात्रा में रह सकती है जो न्यूनाधिक उसकी तृप्ति पर आधारित हो और जिसके कारण उनके ऊपर अनावश्यक उर्मि न जागृत हो सकें।

इस संबंध में हम यहां पर उन कतिपय विशेषताओं की भी चर्चा कर देना चाहते हैं जो रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के समय उसके अनुभवकर्त्ता की भाषा वा कथन-शैली में, साधारणतः दीख पड़ने लगती हैं और जिनके उसमें आने का कारण प्रायः विषय की गूढ़ता के साथ-साथ, उसके प्रकाशन का अपूर्ण साधन भी बन जाया करता है। अपने दैनिक जीवन के साधारण अनुभवों को उनके न्यूनाधिक अधूरे रहने पर भी किसी न किसी प्रकार प्रकट कर दिया जाता है और उससे अपना काम चल जाया करता है। परंतु हमारी इस विलक्षण अनुभूति की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि यह बहुत कुछ पूरी रहने वा जान पड़ने पर भी, कभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाती और इसकी अभिव्यक्ति की कठिनाई के ही कारण, विभिन्न वर्णन-शैलियों का सहारा लेना पड़ जाता है जो कभी कभी विचित्र रूप धारण कर लिया करती हैं। इस अनुभूति का विषय जो विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट एकता के रूप में अनुभूत होता प्रतीत होता है, अपनी सुदीर्घ व्यापकता के कारण, साधारण अनुभव क्षेत्र में आ नहीं पाता, किंतु उसके काल्पनिक एवं वायवीय रूप के लिए यह भी असंभव नहीं रहा करता कि उसे हम हृदयंगम कर लें तथा उसे हम अपनी ओर से कोई न कोई अपूर्व रूप भी दे डालें। तदनुसार हम उसके कभी कुछ और फिर अन्य प्रकार के लक्षण ठहराते चले जाते हैं और उसकी अपूर्वता के ही कारण, हमें कभी ऐसा भान नहीं हो पाता कि हम इसमें कोई भूल भी कर रहे हैं। इसी प्रकार की एक अन्य कठिनाई हमें स्वयं अपनी अनुभूति के भी स्वरूप का परिचय देते समय फेर में डाल देती है और इसके मूल में किसी ऐसी अनुभवेन्द्रिय के होने के कारण, जो सारी ज्ञानेन्द्रियों का आधार समझी जा सकती है तथा जिसमें इन सभी की विशेषताएं स्वभावतः घुलमिल भी जा सकती हैं हम तज्जन्य अनुभव को भले प्रकार निर्दिष्ट नहीं कर पाते जिससे हमारा चित्र पूर्णतः उभर नहीं पाता। इसके सिवाय जो तीसरी कठिनाई हमारी भाषा की अक्षमता के कारण आ जाती है उसका भी निराकरण हमें उसे सजावट देकर ही करना पड़ता है। हम या तो उसे अलंकृत कर देते हैं अथवा उपयुक्त शब्दों के अभाव में उसके लिए नये अभिधानों की सृष्टि ही करने लग जाते हैं। परंतु इन तीनों शैलियों में अधिक रोचक संभवतः वह प्रथम ही होती है जिसके द्वारा वर्ण्य विषय को बोधगम्य स्वरूप देने की चेष्टा की जाती है और जिसके सर्वप्रमुख भेद अथवा प्रकार को 'प्रतीक योजना' का नाम दिया गया मिलता है।

प्रतीक-योजना उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा किसी जटिल एवं अमूर्त भावना का भी कोई सरल एवं स्थूल स्वरूप चित्रित किया जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में इसके द्वारा किसी विशुद्ध दार्शनिक तत्त्व मात्र को भी व्यक्तित्व प्रदान करके उसे कोई अलौकिक ईश्वरीय रूप दे दिया जाता है और इसी प्रकार, साहित्य के क्षेत्र में भी इसका व्यवहार बहुत कुछ किसी अलंकार-पद्धति के अनुसार हुआ करता है। परंतु 'प्रतीक' शब्द से तात्पर्य न तो किसी उस चित्र वा प्रतिरूप का होता है जो किसी वस्तुविशेष का हमें स्मरण दिला दे और न ऐसे किसी संकेत मात्र का ही हुआ करता है जो उसकी ओर हमारे लिए केवल अंगुलिनिर्देश मात्र कर देने का काम कर दे और उसकी उपयोगिता की इतिश्री केवल यहीं तक रह जाय। "यह उस वस्तु का एक जीता-जागता एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि हुआ करता है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके

उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है।" साहित्य के क्षेत्र में इसका व्यवहार अलंकार-विधान का जैसा होता जान पड़ता है, किंतु प्रतीक का आधार सादृश्य वा साधर्म्य मात्र तक ही सीमित न रहने के कारण, यह उससे सर्वथा भिन्न भी कहा जा सकता है। "प्रतीक योजना की सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है, जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्त्ता के विविध भाव, शिला से चतुर्दिक टकराने वाले स्रोतों की भांति, फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भावधारा को प्रवाहित कर देते हैं।"[१] फ्रांस देश में ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतर्गत प्रचलित होने वाले 'प्रतीकवाद' का स्वरूप भी कुछ इसी प्रकार निर्धारित किया जा सकता है। वह वस्तुतः यूरोप में प्रचलित 'वैज्ञानिक यथार्थवाद' के विरोध में आरंभ हुआ था और वह सौंदर्यवाद का एक रहस्यात्मक रूप भी ठहराया जा सकता था। इसके अनुयायियों का उद्देश्य किसी अतीन्द्रिय अनुभूति को दृश्य वस्तुओं के उपयुक्त भाषा में प्रकट कर देना था। इस प्रकार, उस "प्रतीकवाद का सारतत्त्व उसके किसी आदर्श सौंदर्य वाले संसार के प्रति आग्रह में निहित रहा तथा वह उसके इस विश्वास में भी पाया जाता था कि उस अलौकिक सौंदर्य की उपलब्धि हमें कला के माध्यम द्वारा हो सकती है।"[२] प्रतीकवादियों की विशेषता उनकी इस आदर्श-प्रियता में ही दीख पड़ती थी और उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति को प्रायः रहस्यवादी काव्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। परंतु इस आंदोलन के मूलतः किसी प्रवृत्ति विशेष की प्रतिक्रिया के रूप में चल निकलने के कारण, इसका रूप बहुत कुछ सांप्रदायिक सा बन गया जिस कारण, हमारी प्रस्तुत प्रतीक-योजना के संबंध में उसकी चर्चा करना उतना आवश्यक नहीं कहा जा सकता।

रहस्यवादियों की अनुभूति के स्वरूप की ओर ध्यान रखते हुए हम उनके द्वारा की जाने वाली प्रतीक-योजना के तीन प्रमुख भेद ठहरा सकते हैं और साधारणतः उसी के आधार पर उनकी विविध प्रकार की अभिव्यक्तियों की समुचित व्याख्या भी कर सकते हैं। कुमारी अंडरहिल ने इन्हें क्रमशः रहस्य परक अन्वेषण (Mystic Quest) जीवात्मा का विवाह (Marriage of the Soul) तथा आध्यात्मिक रासायनिकों का महान् कार्य अथवा आध्यात्मिक पुनर्जन्म (Great Work of the Spiritual Alchemists) जैसे तीन पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं जिन्हें हम किसी न किसी रूप में, यहां पर अपने लिए भी स्वीकार कर ले सकते हैं और उन्हीं के अनुसार हम इस प्रतीक-योजना के संबंध में कुछ बातें कह देना चाहते हैं। इन तीनों में से सर्वप्रथम अर्थात् रहस्यपरक अन्वेषण को ईसाइयों के यहां 'तीर्थ यात्रियों की यात्रा' के नाम से अभिहित किया गया मिलता है जिसके

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : 'कबीर साहित्य की परख' (इलाहाबाद, सं० २०११), पृष्ठ १४२।

२. "The essence of Symbolism is its insistence on a world of ideal beauty, and its conviction that this is realised through art." 'The Heritage of Symbolism' by C. M. Bowra, (London, 1945), p. 6.

दो बहुत सुंदर उदाहरण प्रसिद्ध इटालियन कवि दांते की काव्य-रचना आध्यात्मिक सुखांत नाटक (Divine Comedy) तथा अंग्रेजी लेखक बनियन की पुस्तक तीर्थयात्री की प्रगति (Pilgrim's Progress) के रूपों में मिलते हैं और इन दोनों के अंतर्गत उन विभिन्न पड़ावों की ओर भी संकेत किये गए हैं, जहां तक अपनी ऐसी प्रगति के अनुसार पहुंच कर किसी साधक को अपने स्पष्ट आध्यात्मिक विकास का कोई बोध हो जा सकता है तथा वैसे ही क्रमिक विकास के आधार पर वह किसी समय अपने लक्ष्य तक को प्राप्त कर ले सकता है। इस प्रकार की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन सूफ़ी साधकों के संबंध में भी किया गया मिलता है। उन्हें वहां पर 'सालिक' अर्थात् यात्री की संज्ञा तक दे दी गई दीख पड़ती है और उनके आध्यात्मिक जीवन की प्रगति को 'सुलूक' शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है। उनकी इस यात्रा में पड़ने वाले बीच के 'मुक़ामात' अथवा सप्त सोपानों की चर्चा हम इसके पहले ही कर आये हैं और इसके साथ ही हमने सूफ़ी कवि फ़रीदुद्दीन अत्तार की प्रसिद्ध रचना 'मन्तिकुत्तैर' में दी गई चिड़ियों की यात्रा वाली कहानी की व्याख्या द्वारा इसका कुछ परिचय भी दे दिया है। भारतीय साहित्य के अंतर्गत अथवा बौद्ध रहस्यवादियों की साधनाओं का वर्णन करने वाले ग्रंथों तक में भी हम इस प्रकार की आध्यात्मिक यात्राओं का कोई विवरण दिया गया नहीं पाते और न इस संबंध में हमें कोई वैसी रूपकात्मक कथा का स्पष्ट उल्लेख ही कहीं मिलता है। यहां पर हमें सीधे उन विविध योगादि साधनाओं का ही विस्तृत वर्णन किया गया मिल जाता है जिन्हें वैसी कथाएं वहां उदाहृत करती जान पड़ती हैं तथा जिनके द्वारा भी हमें अपनी आध्यात्मिक प्रगति का स्पष्ट परिचय हुए बिना नहीं रहा करता। इसका एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि ईसाइयों तथा सूफ़ियों के यहां, जहां पर किसी जीवात्मा का परमात्मा के यहां से कभी के वियुक्त हो जाने की धारणा बद्धमूल हो गई जान पड़ती है, वहां भारतीय साधकों के यहां ऐसी कल्पना कर लेने की कभी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यहां पर उस 'षट् चक्र भेदन' तथा 'शिव-शक्ति मिलन' को भी कभी इस प्रकार का रूप दिया गया नहीं जान पड़ता जो ऐसी यात्रा के समान माना जा सकता हो। यहां की योग-साधना दो विरही व्यक्तियों को मिला देने का काम नहीं करती, प्रत्युत उनमें से एक को दूसरे के प्रति उन्मुख करके उसे इसका आभास मात्र करा देती है और इस प्रकार वह अंत में वस्तुतः अपने आप को ही पा लेने के समान कृतकार्य बन जाया करता है।

प्रतीक-योजना का उक्त दूसरा भेद भी यहां पर किसी ठीक आध्यात्मिक विचार के ही रूप में नहीं पाया जाता। इस भावना को सबसे अधिक महत्त्व हमें ईसाई साधकों के यहां ही दिया गया दीख पड़ता है और उनके यहां इसका अत्यंत मार्मिक चित्रण भी किया गया मिलता है। कार्डिनल न्यूमैन ने कदाचित्, एक स्थल पर बतलाया है कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन उसे अपना पति मानकर उसके प्रति उसकी पत्नीवत् व्यवहार करना ही कहा जा सकता है, क्योंकि इस दशामें ही हमें उसके प्रति अपने पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव जागृत हो सकता है। कुमारी अंडरहिल ने, इस आध्यात्मिक विचार की चर्चा करते समय इसके मूलस्रोत का प्रसिद्ध 'Song of Songs' अर्थात् उन गीतों के गीत तक में होना अनुमान किया है जो उनके प्राचीन धर्मग्रंथ 'Old Testament' में पाया जाता है और उन्होंने इसके तीन क्रमिक सोपानों अर्थात् मंगनी, (Betrothal), विवाह (Marriage) एवं ग्रंथि-बंधन (Wedlock) तथा अंत में Fruitfulness of the Soul अर्थात् जीवात्मा के फलितार्थ हो जाने के जैसे रूपों में कुछ विस्तार के साथ

बतलाकर उनका महत्त्व भी ठहराया है। उसके अनुसार इसकी प्रथम स्थिति में जीवात्मा की अपने प्रियतम को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा जागृत रहती है और इसी प्रकार, उसकी दूसरी स्थिति अपने उस लक्ष्य के सतत चिंतन की ओर संकेत करती है जिसे यथाशीघ्र उपलब्ध कर लेने की उसमें आतुरता तक आ जा सकती है। इसमें वह अपने को उस ओर अग्रसर होती हुई भी समझा करती है और अंत में उसे संयुक्त मार्ग (Unitive Way) में प्रवेश तक मिल जाया करता है।

जीवात्मा के परमात्मा के साथ इस आध्यात्मिक विवाह को यहां के भारतीय साधकों ने ठीक उसी रूप में न अपनाकर केवल यहां तक ही स्वीकार किया है कि ये अपने उपास्य को कभी-कभी अपने प्रियतम की भांति मान लिया करते हैं। ये उसे किसी ऐसी प्रेमिका की दृष्टि से देखा करते हैं जो अपने प्रिय पति अथवा प्रेमपात्र के लिए अपना सर्वस्व तक न्योछावर करने को उद्यत रहा करती है। परंतु उसके साथ अपने किसी वैध वैवाहिक संबंध की चर्चा भी ये किसी विस्तार के साथ करना आवश्यक नहीं समझते जिस कारण, इनकी दृष्टि में उसका इनका विवाहित पति भी होना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। इसके लिए केवल दाम्पत्य-प्रेम के जैसे भाव का जागृत होना तथा उसके कारण, इनकी ओर से मधुरोपासना का किया जाना ही सब कुछ मान लिया जाता है। ऐसे प्रेम-भाव के लिए अधिकतर उन गोपियों का उत्कट प्रेम ही आदर्श समझा जाता है जिसका विस्तृत प्रसंग 'श्रीमद्भागवत पुराण' में आया है तथा जिसके अनुसार प्रेमाभक्ति प्रदर्शित करने वाली दक्षिण की गोदा तथा राजस्थान की मीरांबाई के भी नाम लिये जा सकते हैं। यों, यदि संत कबीर जैसे कतिपय साधकों की उपलब्ध रचनाओं पर विचार किया जाय तो उनमें भी ऐसे पद पाये जा सकते हैं जिनमें उक्त आध्यात्मिक विवाह का उल्लेख यहां के प्रचलित रूपों में किया गया है तथा इसकी ओर किये गए कुछ संकेत उक्त स्त्री भक्तों की रचनाओं में भी मिल सकते हैं। परंतु वे फिर भी न तो विस्तार के साथ पाये जाते हैं और न उनमें किसी प्रकार के उक्त क्रमिक विकास की भावना ही लक्षित होती है। ऐसी मधुरोपासना के अनेक सुंदर उदाहरण हमें मराठी, उड़िया, गुजराती अथवा अन्य ऐसी कई भाषाओं के भी साहित्य के अंतर्गत अच्छी संख्या में मिल सकते हैं, किंतु इनमें से कहीं भी हमें उक्त प्रकार की विवाह-पद्धति पर विशेष बल दिया गया नहीं दीख पड़ता। सूफ़ी साधकों के यहां तो उपास्य एवं उपासक के बीच पाये जाने वाले इस पति-पत्नी क्रम को उलटकर, उसे पत्नी-पति अथवा कम से कम प्रेमपात्री एवं प्रेमी के बीच उपलब्ध प्रेम-संबंध के क्रम का दिया जाना भी देखा जाता है। साधक यहां पर एक सच्चे विरही का रूप धारण कर अपनी ऐसी साधना में अग्रसर होता है और विभिन्न प्रकार के उत्सर्गों का कष्ट झेलकर ही वह कभी उसके संयोग का सुख पाया करता है। ऐसी साधना को सूफ़ी कवियों ने प्रेमाख्यानों द्वारा उदाहृत करने की चेष्टा की है, किंतु वहां पर भी इनका ध्यान जितना दाम्पत्य-संबंध के केवल भावात्मक अंश पर दिया गया मिलता है उतना वैध विवाह अथवा किसी क्रम-योजना की ओर नहीं जाता। यहां पर यह स्मरणीय है कि रहस्यानुभूति की दशा में उसके आधार को ऐसे पति का पत्नी का ही रूप न देकर उसे अपने पिता, गुरु, स्वामी, सखा अथवा माता या उपास्य शिशु रूप में भी रख सकते हैं और उसके प्रति तदनुकूल भाव प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति कभी-कभी केवल एक ही रहस्यवादी कवि द्वारा भी समय-समय पर की जा सकती है जिसका मूल कारण, यह हो सकता है कि ऐसे व्यक्ति को वस्तुतः किसी एक संबंध-

विशेष तक अपने को अपने रहस्यमय उपास्य के साथ सीमित रखने मात्र से कभी तृप्ति नहीं हो पाती और यह उसमें बार-बार एक न एक परिवर्तन लाकर उसे अपने साथ देखना चाहता है जैसा संत कबीर ने भी किया है।

कुमारी अंडरहिल ने जिस आध्यात्मिक पुनर्जन्म संबंधी प्रतीक-योजना का नाम लिया है उसका प्रयोग भी संभवतः अत्यंत प्राचीन समय से होता आया है और जहां तक पता चलता है, इसकी प्रेरणा उस प्रसिद्ध पुरानी कला रसायनविद्या से ली गई है जिसकी चर्चा हमने ग्रीक देवता हर्मिज़ पर आश्रित जादूविद्या के विषय में कथन करते समय की थी। इस रसायनविद्या को भी जादूविद्या की भांति ही, हरमेटिक आर्ट (Hermetic Art) अर्थात् 'हर्मिज़ की कला' नाम से अभिहित किया जाता है, किंतु साधारणतः इसके मूलतः चीन देश में उदय लेने की बात प्रायः सभी लेखक एक स्वर से स्वीकार करते आये हैं। उस रसायनविद्या अथवा आदर्श चिंतामणि (Philosopher's Stone) के प्राप्त करने की कला के साथ अनेक पारिभाषिक शब्द भी जुड़ते चले आये हैं। इस प्रकार, आधुनिक रसायनशास्त्र एवं ज्योतिषशास्त्र जैसी कई अन्य विद्याओं की शब्दावली एवं प्रक्रिया का उसके साथ संबद्ध हो जाने के कारण, वह अत्यंत गूढ़ और क्लिष्ट हो गई भी जान पड़ती है जिससे हम उसके रहस्य में अधिक प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकते। हमारा तात्पर्य यहां पर केवल उसमें निहित इस व्यापक सिद्धांत मात्र से है कि साधक के हृदय में आध्यात्मिक जीवन का अंश बीजतः वर्त्तमान रहने के कारण, उसमें किसी दिन एक ऐसा आमूल परिवर्तन ला दिया जा सकता है जिसके कारण वह 'और का और' हो जाय। उसका उसी प्रकार पूर्ण कायापलट हो जा सकता है, जिस प्रकार किसी निम्नकोटि की धातु का रसायनविद्या द्वारा स्वर्ण में परिवर्तित किये जाने पर हो जाया करता है। रसायनविद्या वा कला के प्रयोगों द्वारा अन्वेषणीय 'दार्शनिकों के प्रसिद्ध पत्थर' अथवा आदर्श चिंतामणि की यहां पर कोई 'खोज करने' की आवश्यकता नहीं पड़ती, प्रत्युत वह जहां कहीं भी अपने आप उपलब्ध हो जा सकता है। इसीलिए संत कबीर जैसे अनेक अनुभवी कवियों ने इस बात को मृग की नाभि में वर्तमान कस्तूरी का दृष्टांत देकर भी स्पष्ट किया है तथा ऐसे कायापलट के संबंध में उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार "जिसे मैं ढूंढ़ता फिर रहा था वह स्वयं मेरे प्रत्यक्ष हो गया।"[१] "उसके देखते ही कांच का जैसा शरीर कंचन में परिणत हो गया और बिना कुछ कहे सुने ही अपना मन मान गया,"[२] अर्थात् अपने भीतर महान् परिवर्त्तन हो गया और मुझे "वह 'भला' जीवन मिल गया जिसकी प्राप्ति बिना जीते जी मर जाने के नहीं हो सकती,"[३] आदि।

इस प्रकार के कायापलट अथवा पुनर्जन्म की चर्चा प्रायः सब कहीं के रहस्यवादियों ने लगभग एक ही प्रकार से की है। वास्तव में रहस्यवाद को एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करने का यही सबसे बड़ा रहस्य भी समझा जा सकता है। परंतु, यहां पर कदाचित्, एक ऐसा प्रश्न भी उठाया

---

१. "जा कारणि मैं ढूंढ़ता सणमुख मिलिया आइ"। —कबीर ग्रंथावली, काशी, १९२८, पृष्ठ १५।

२. 'देखत कांच भया तन कंचन बिन बानी मन मांनां'—क० ग्रं०, पृ० ९।

३. 'वो जीवन भला कहाई, बिन मूंवां जीवन नाहीं'—वही, पृ० १८४।

जा सकता है कि "क्या ऐसे परिवर्त्तन का रूप कहीं किसी साधक के नैतिक पवित्रता द्वारा पूर्णतः संपन्न हो जाने का जैसा तो नहीं हुआ करता ? अथवा दूसरे शब्दों में, क्या वैसे साधक का नैतिकता की दृष्टि से पूर्ण व्यक्ति हो जाना भी अनिवार्य है ?" हम इस प्रश्न को एक बार फिर आगे उठाने तथा इसके विषय में यथेष्ट विचार करने की चेष्टा करने वाले हैं। इस कारण, यहां पर केवल इतना ही कहेंगे कि "ऐसी दशा के विषय में कभी, इसके केवल नैतिक पवित्रता होने का भ्रम करना उचित न होगा और इसे उस रूप में स्वीकार करना पड़ेगा जिसके अनुसार सभी कुछ रूपांतरित होकर नितांत 'नया आकार' ग्रहण कर लेता है।"[1] यहां पर किसी भी आंशिक परिवर्त्तन का प्रश्न छेड़ना व्यर्थ होगा। इस प्रकार जिन तीन प्रकार की प्रतीक-योजना अथवा रूपकात्मक अभिव्यक्ति की अभी चर्चा की गई है उनमें से, यदि प्रथम दो का संबंध क्रमशः किसी साधक की साधना तथा उसके अपने लक्ष्य के साथ किसी आत्मीयता के भाव जोड़ने मात्र का कहा जा सकता है तो इस तीसरी को हम वस्तुतः उसकी अंतिम सिद्धि की कोटि में भी रख सकते हैं। इसी के अनुसार, इस पर आधारित रहस्यात्मक अभिव्यक्ति को भी इन सभी में उत्कृष्ट अथवा महत्वपूर्ण ठहरा सकते हैं। इसके सिवाय यहां पर यह भी द्रष्टव्य है कि प्रथम दो के प्रयोग जहां पर केवल रहस्यानुभूति के धार्मिक पक्ष में ही किये जा सकते हैं, वहां तीसरे प्रकार की प्रतीक-योजना का उपयोग उस दशा में भी किया जा सकता है, जहां वैसी किसी सीमा का रहना आवश्यक न हो। जहां पर किसी ईश्वर जैसी संज्ञा को स्पष्ट रूप में स्वीकार करके उसे उपलब्ध करने का यत्न लक्षित न होता हो और उसे केवल एक निरपेक्ष विश्वात्मक सत्ता के रूप में ही अनुभव कर उसके अनुसार जीवन में काया-पलट लाने की प्रवृत्ति देखी जाती हो, वहां पर कम से कम प्रथम का तो वैसा कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता और द्वितीय का प्रयोग, यदि किया जा सकता है तो वह केवल उसी दशा में जब उसे एक अपूर्व व्यक्तित्व भी प्रदान कर दिया जाय। आधुनिक काव्य के क्षेत्र में तो केवल द्वितीय के इस व्यापक रूप को ही स्वीकार किया गया मिलता है और तृतीय के उदाहरण हमें कभी उस दशा में ही मिल जाया करते हैं, जब रहस्यवादी की प्रवृत्ति न्यूनाधिक दार्शनिक भी रहा करती है। ऐसी कविताओं के कुछ उदाहरण आधुनिक बंगला, हिंदी, मराठी आदि कई भाषाओं के काव्य-साहित्य से दिये जा सकते हैं।

रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की कठिनाई को दूर करने के लिए कभी-कभी विभिन्न अलंकारों का भी आयोजन किया जाता है। इन अलंकारों में से कुछ तो वे ही हो सकते हैं जिनका प्रयोग साधारणतः किया जाता है। परंतु कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें रहस्यवादी कवि विशेष रूप से काम में लाया करते हैं और जिनके ऐसे प्रयोग वस्तुतः उनके विषय के अधिक अनुकूल भी पड़ते हैं। ऐसे अलंकारों में से एक 'विभावना' है जिसकी दशा में, किसी कारण के न रहते हुए भी कार्य का वर्णन कर दिया जाता है, जैसे संत कबीर के एक पद[2] में बिना हाथ पैर, कान, आंख

---

१. This state must not be confused with a merely moral purity, but is to be understood as involving utter transmutation into a 'new form'. Mysticism p. 143.

२ 'कबीर ग्रंथावली', पद १५९, पृ० १४०।

मुख, जिह्वा आदि की सहायता के भी ऐसी रहस्यानुभूति का संभव होना बतलाया गया है और कहा गया है कि किस प्रकार, ऐसी स्थिति के आने पर बिना कहीं गये भी सर्वत्र दौड़ा जा सकता है तथा बिना किसी शब्द के भी अनाहतनाद सुना जा सकता है। इसी प्रकार एक दूसरा अलंकार 'विषम' है जिसकी दशा में नितांत बेमेल वर्णन भी कर दिया जा सकता है, जैसे संत कबीर के ही एक अन्य पद में 'ऊपरि कुंवटा तलि भरि पांणी'[1] द्वारा कुंवा एवं उसके जल के लिए कहा गया है कि यदि प्रथम ऊपर की ओर है तो द्वितीय नीचे से भरा जाता है। एक तीसरा अलंकार 'अधिक' नाम का भी इस प्रसंग में दिया जा सकता है जिसका विधान आधार एवं आधेय के न्यूनाधिक वर्णन की दशा में किया जाता है तथा जिसके उदाहरण में संत कबीर की ही एक 'साखी' उद्धृत की जा सकती है जिसमें कहा गया है कि जिस तालाब में घड़ा भी नहीं डुबोया जा सकता उसमें आज मतवाला हाथी तक मल-मल कर धोया जा रहा है।[2] इसी प्रकार का एक अन्य अलंकार 'असंगति' है, जहां पर कार्य-कारण की स्वाभाविक संगति का त्याग कर दिया जाना दीख पड़ता है और जिसके उदाहरण में भी उन्हीं की एक अन्य 'साखी' दी जा सकती है जिसमें बेल का आंगन में रहकर आकाश में फलना तथा इसी प्रकार बिन ब्याई गाय का भी दूध देने लगना आदि कहा गया है।[3] कबीर जैसे कवियों ने कभी-कभी 'असंभव', 'विरोधाभास', 'विचित्र' और 'व्याघात' जैसे कुछ अन्य ऐसे अलंकारों के भी प्रयोग किये हैं और उनकी सहायता द्वारा अपनी उस रहस्यानुभूति को स्पष्ट करने की चेष्टा की है जिसकी अपूर्व दशा में उन्हें अपनी ओर से कुछ कहते नहीं बनता। उनका अपना सारा ऐसा अनुभव विचित्रताओं से भरा हुआ प्रतीत होता है जिस कारण, उनकी अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता नहीं आ पाती। जिस किसी को ऐसी रहस्यानुभूति के विषय में कुछ भी धारणा न हो वह यदि चाहे तो उनकी ऐसी उक्तियों को व्यर्थ का चमत्कार-प्रदर्शन भी कह सकता है। किंतु जैसा हम इसके पहले भी कह आये हैं, ऐसा मत प्रकट करना इस विषय से सर्वथा अनभिज्ञ रहने के ही कारण, संभव होगा अथवा कदाचित् वैसी दशा में भी संभाव्य है जब ऐसे रहस्यवादी साधकों की सचाई में भी संदेह किया जाय। संत कबीर द्वारा किये गए उल्टवांसियों के प्रयोग को तो उच्च कोटि के समझे जाने वाले कुछ आलोचकों तक ने 'व्यर्थ का गोरख-धंधा' कह डाला है।

रहस्यवाद की इन कतिपय अभिव्यक्ति-परक विशेषताओं पर विचार करने से पता चलता है कि ऐसी काव्यरचना-शैली का अस्तित्व यहां पर बहुत प्राचीन काल से चला आता है तथा इसके कई सुंदर उदाहरण हमें औपनिषदिक साहित्य तक में मिल सकते हैं। परंतु, यदि हम केवल हिंदी साहित्य के ही इतिहास की दृष्टि से देखने लगें तो जान पड़ेगा कि इसका प्रयोग अधिकतर मध्यकालीन भक्ति-काव्य में किया गया तथा उसकी रीतिवादी कविताओं के युग में इसका प्रायः अभाव तक दीख पड़ने लगा। यहां तक कि जब द्विवेदीयुग तक पहुंचकर हिंदी काव्य का रूप 'इतिवृत्तात्मक' सा बन गया और प्रथम महायुद्ध के अनंतर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में जब नवीन रचना-शैली का सूत्रपात हुआ, उस समय भी इसे यहां प्रवेश पाने में सफलता नहीं

---

१. क० ग्रं०, पद २०२, पृ० १५७।

२. 'जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाइ', वही, सा० ७, पृ० १७।

३. 'आंगणि वेल अकासि फल, अणव्यावर का दूध', वही सा० ४, पृ० थे ६।

मिल सकी और एक नितांत नवीन वाद चल पड़ा जिसे 'छायावाद' कहा जाने लगा। इस 'छायावाद' की शैली की कतिपय अपनी विशेषताएं थीं जिनमें वर्त्तमान के प्रति विद्रोह, बहिर्दृष्टि की अपेक्षा अंतर्दृष्टि का अधिक प्रयोग तथा सौंदर्य-बोध की नूतन अभिव्यक्ति के नाम सर्वप्रथम लिये जा सकते थे। ऐसी रचना-शैली में यूरोपीय 'स्वच्छन्दता वाद' की प्रमुख प्रवृत्तियों का भी कम हाथ नहीं रहा और न यह अपने को उस दार्शनिकता से ही बचा सकी जो 'नव वेदांती' आंदोलन का परिणाम थी। परंतु यह उस दशा में भी, अपना प्रभाव पूर्ववत् जमाने का उपयुक्त अवसर न पा सका और 'छायावाद' के एक साधारण भेद का जैसा रूप ग्रहण कर तथा उसके सामने गौण पद पर आसीन रहता हुआ ही यह बहुत दिनों तक दीख पड़ता आया है। इसके आधुनिक हिंदी कवियों ने इसे कभी प्रधान रूप में अपनाने का साहस नहीं किया और न उन्हें हम कभी उस कोटि का रहस्यावादी ही ठहरा सकते हैं जिस कोटि में मध्यकालीन भक्ति-काव्य वाले कतिपय प्रमुख कवियों की गणना की जा सकती है। ऐसे कवियों में रहस्यानुभूति की वह गहराई नहीं पायी जाती जो उन पूर्वकालीन कवियों की रचनाओं द्वारा व्यक्त होती जान पड़ती है और न इसी कारण, इनमें रहस्यवाद को अपना जीवन-दर्शन स्वीकार करने अथवा तदनुसार अपने जीवन को ढाल देने की कोई प्रवृत्ति ही पायी जाती है। इन्होंने रहस्यवादात्मक अभिव्यक्ति को जैसे किसी एक रचना-शैली मात्र के ही रूप में अपनाया है और इसमें बराबर प्रवृत्त भी रहते नहीं जान पड़ते।

हिंदी में रहस्यवाद की कविता का भविष्य क्या होगा अभी यह निश्चित रूप में कहा नहीं जा सकता। 'छायावादी' तथा 'रहस्यवादी' कविताओं की प्रवृत्ति की भी प्रतिक्रिया के रूप में एक नयी प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' का नारा लगाकर आरंभ हुई थी और इसमें संदेह नहीं कि उसने इन दोनों के उस प्रवाह को धीमा करने में बहुत सफल प्रयास किया जो उन्हें वस्तुतः पूरे 'पलायन वाद' का रूप देने जा रहा था। जब छायावादी एवं रहस्यवादी कवि आत्मकेन्द्रित से बनते जा रहे थे और उनका ध्यान किसी अन्य दिशा की ओर उन्मुख होता नहीं प्रतीत हो रहा था, उस अवसर पर 'प्रगतिवाद' ने साधारण स्थिति की जनता की दयनीय दशा का प्रश्न लेकर उस पर पद्य-रचना करने की परंपरा प्रचलित कर दी और एक ऐसे काव्य का आदर्श सबके सामने रखा जिसका स्वरूप उक्त प्रकार की रचनाओं के नितांत विरुद्ध था। परंतु 'प्रगतिवाद' के लिए कलात्मक अभिव्यक्ति की कोई स्पष्ट मान्यता न रहने के कारण, उसका यथेष्ट स्वागत नहीं हो पाया और उसे भी, 'प्रयोगवाद' कहे जाने वाले पक्षांतर के समक्ष क्रमशः निष्प्रभ होते हुए, अंत में बहुत कुछ शांत हो जाना पड़ गया। इस प्रकार 'छायावाद' एवं 'रहस्यवाद' की प्रवृत्तियों को इधर कोई प्रोत्साहन न मिल सका, प्रत्युत उनके अनुसार काव्य-रचना के करने वाले तक उनकी ओर से प्रायः उदासीन बनते चले गए। परंतु जिस प्रकार उनके लिए अपने मूलस्रोत शुष्क पड़ते गए, उसी प्रकार उनका स्थान ग्रहण करनेवाले इन अन्य दो वादों को भी दिन देखने पड़े। इस कारण सबके पीछे एक नयी प्रवृत्ति 'नयी कविता' का आदर्श लेकर चल पड़ी जिसने वस्तुतः उक्त सभी वादों के आदर्शों का सार तत्त्व लेकर अग्रसर होने का कार्यक्रम निर्धारित किया है और यद्यपि इसके किसी स्पष्ट निर्देशन का रूप अभी तक निश्चित नहीं जान पड़ता तथापि इसकी संभावनाएं कम नहीं कहला सकती हैं। जिस वेग के साथ विश्वजनीन चेतना और जीवन में उथल-पुथल होती जा रही है उसका प्रभाव विश्व साहित्य पर भी पड़ सकता है और जैसा हम आगे चलकर भी

देखेंगे ऐसी परिस्थिति के कारण, हमारा एक दूसरे के साथ क्रमशः निकटतर संपर्क में आते जाना तथा उसी प्रकार मानव-समाज की व्यापकता का अधिकाधिक बोध होता जाना भी अवश्यंभावी जान पड़ता है। इसका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि हमें अनति दीर्घकाल में ही, वैसी परिचित अनुभूति को किसी न किसी रूप में अभिव्यंजित करना पड़े और हम उस ओर एक बार फिर स्वभावतः मुड़ जा सकें जिधर हमारी पुरानी रहस्यवादी प्रवृत्ति उन्मुख रही।

परंतु उसका वह रूप क्या होगा इस बात का निर्णय करना इस समय संभव नहीं जान पड़ता और यदि इस प्रश्न के ऊपर कुछं विचार करना चाहते हैं तो हमारे सामने उसका एक चित्र उपस्थित हो जाता है। प्राचीन औपनिषदिक रहस्यवाद की कविता का रूप किसी न किसी प्रकार आध्यात्मिक अवश्य कहा जा सकता था, किंतु आगे चलकर उसे क्रमशः धार्मिकता द्वारा प्रभावित होता जाना पड़ा। इसका अभिप्राय यह है कि एक ओर जहां ईश्वरत्व की भावना उसमें प्रवेश करती गई, वहां दूसरी ओर उसमें नैतिकता भी समावेश करती चली गई और इसी प्रकार उसके आधार पर सरलता का स्थान क्रमशः जटिलता भी लेती चली गई। दार्शनिक तथ्यों के विवेचन, पौराणिक रूपकों की लोकप्रियता एवं भक्ति-आंदोलन के सफल प्रचार जैसी कुछ बातों ने उस पर ऐसा प्रभाव डाला कि उसमें परिवर्त्तन का आना अवश्यंभावी बन गया। रहस्यवाद के इसी धार्मिक रूप को हम अपने यहां के प्रादेशिक भाषा-साहित्यों के अंतर्गत मध्यकाल तक आते-आते पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया हुआ पाते हैं और इसके अनंतर इसे कुछ समय के लिए फिर न्यू-नाधिक तिरोहित हो गया हुआ भी पाते हैं। परंतु, जब यहां के लोग यूरोपीय देशों के निवासियों के संपर्क में आ जाते हैं और उनके विविध साहित्यों के अध्ययन के साथ-साथ, इन पर उनकी वैज्ञानिक उन्नति का भी प्रभाव पड़ने लगता है तथा जब से इन्हें उनके बुद्धिवाद को अपनाना पड़ जाता है जिस कारण, इनकी धर्म के प्रति अपनी निष्ठा कम होती चली जाती है और प्रत्येक बात को देखने-परखने का स्वभाव पड़ जाता है तो इनकी मनोवृत्ति में बहुत बड़ा परिवर्त्तन आ उपस्थित होता है और ये अपनी प्राचीन से प्राचीन मान्यताओं का भी पुनर्मूल्यांकन करने लग जाते हैं। फलतः जिस समय अवसर पाकर यहां रहस्यवाद की प्रवृत्ति पुनः वापस आती है उसमें न केवल स्वभावतः बहुत कुछ सुधार हुआ रहता है, अपितु उसमें क्रमिक विकसनशीलता की वह शक्ति भी आ गई रहती है जिसके कारण, वह आगे फिर कभी कोई ऐसा नवीन रूप भी धारण कर सकता है जो वर्त्तमान प्रगतिशील विश्व के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास के सर्वथा अनुकूल पड़ेगा। इसके साथ ही जो वस्तुतः वैसे उदार और विशिष्ट स्तर को प्राप्त कर लेने पर उस आध्यात्मिक रूप को भी ग्रहण कर सकेगा जो उपनिषद् काल की देन रहा।

४. रहस्यवादी पुरुष के लक्षण, उसका सामाजिक व्यवहार तथा रहस्यवाद का मूल्यांकन

(१) आदर्श रहस्यवादी पुरुष के प्रमुख लक्षण

रहस्यवाद के एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृत किये जाने तथा रहस्यानुभूति के स्वरूप एवं उसकी अभिव्यक्ति की अनिर्वचनीयता का विवेचन कर लेने पर हमारे सामने यह प्रश्न आ सकता है कि किसी आदर्श रहस्यवादी पुरुष की पहचान क्या हो सकती है, उसे किन विशिष्ट लक्षणों के अनुसार जाना जा सकता है तथा किस विलक्षण ढंग से वह अपने समाज में काम करता हुआ पाया जाता है ? क्या ऐसे पुरुष को हम उन आदर्श व्यक्तियों से किसी बात में भिन्न ठहरा सकते हैं जिनके विषय में विविध धर्मों के ग्रंथों में अपने-अपने आदर्शानुसार पूर्ण ठहराया गया दीख पड़ता है तथा जिनकी चर्चा अन्य अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों में भी की गई मिलती है ? ऐसे महापुरुष का संबंध मानव-समाज के साथ किस प्रकार का हो सकता है, किस प्रकार वह इसके साथ व्यवहार किया करता है तथा क्या ऐसे किसी पुरुष का विश्वकल्याण की दृष्टियों से भी कोई महत्त्व हो सकता है ? आदि कतिपय ऐसे प्रश्न हैं जिन पर भी विचार कर लेना चाहिए। इसके सिवाय प्रसंग वश, इस प्रकार का एक अन्य ऐसा प्रश्न भी हमारे सामने लाया जा सकता है कि क्या ऐसे जीवन-दर्शन का प्रयोग सब कहीं एवं सभी काल में होता आया है तथा क्या इसके किसी भावी रूप की कोई कल्पना भी की जा सकती है ? ऐसे प्रश्नों में से इन अंत में आने वालों का समाधान तो हम कभी और आगे करने का यत्न करेंगे और उसी समय रहस्यवाद के एक तुलनात्मक अध्ययन का भी परिणाम प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे जिससे हमारे इस परिचय का रूप संक्षिप्त होता हुआ भी सर्वांगीण कहा जा सके। इस समय हम सर्वप्रथम, आदर्श रहस्यवादी के प्रमुख लक्षणों को अधिक स्पष्ट रूप में निर्धारित करने के उद्देश्य से उन अन्य ऐसे व्यक्तियों की विशेषताओं को भी यहां पर बतला देना चाहते हैं जिन्हें अन्यत्र ऐसा आदर्श महापुरुष ठहराया गया है तथा जिनके लक्षणों को एक बार समझ लेने पर हमें संभवतः अपने प्रकृत विषय के स्पष्टीकरण में बहुत अच्छी सहायता मिल सकती है। ऐसी विशेषताओं का परिचय पा लेने पर, फिर इन महापुरुषों की उस विशिष्ट कार्य-पद्धति का भी एक चित्र उपस्थित करना चाहेंगे जिसके अनुसार वह अपने समाज में व्यवहार करता हुआ पाया जाता है। प्रचलित धर्मों के मान्य ग्रंथों में इसकी चर्चा अनेक ढंगों से की गई दीख पड़ती है और वहां अनेक उदाहरण भी दिये गए पाये जाते हैं। परंतु हम यहां पर उन सभी का परिचय देना अपने लिए संभव नहीं समझते और इसी कारण, उनमें से केवल कुछ का ही वर्णन कर देते हैं।

इस प्रकार, यदि हम सबसे पहले हिंदू धर्म के अनुसार, सर्वमान्य ग्रंथ 'श्रीमद्भगवद्गीता' को लेते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि वहां पर ऐसे महापुरुषों को प्रसंगवश विभिन्न नामों द्वारा

अभिहित किया गया है और उनमें से 'योगस्थ', 'स्थितप्रज्ञ' और 'असक्त' एवं 'स्थितधी' और 'गुणातीत' तथा उसी प्रकार, 'ब्राह्मी स्थिति-प्राप्त' और 'भक्त' जैसे कुछ को चुन लिया जा सकता है। इनमें से भी, यदि प्रथम तीन पर विचार करने लगें तो पता चलता है कि 'योगस्थ' उन्हें कहा गया है जो किसी कार्य को उसकी सिद्धि वा असिद्धि की ओर समत्वभाव से ध्यान देते हुए अनासक्त भाव के साथ करना जानते हैं[१]। 'स्थितप्रज्ञ' उन्हें माना गया है जो सभी प्रकार की मनोगत वासनाओं का परित्याग कर देते हैं और जो इस प्रकार अपने आप में ही संतुष्ट होकर रहना जानते हैं[२] तथा 'असक्त' उन्हें ठहराया गया है जो अपने मन द्वारा इन्द्रियों का आकलन करके केवल कमन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग का आरंभ किया करते हैं[३] जिससे वैसे महापुरुष की वृत्तियों का एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो जाता है। इसी प्रकार वहां पर 'स्थित धी' उन्हें कहा गया है जिन्हें दुःखों के आ पड़ने पर उद्विग्न चित्त नहीं होना पड़ता और जो सुखमयी दशा में अनासक्त रहते हैं तथा जिनके भय, क्रोध एवं प्रीति के भाव दूर हो चुके हैं[४]। 'गुणातीत' उन्हें माना गया है जो मानापमान अथवा मित्र और शत्रु-दल को एक समान समझते हैं और जिनके सभी काम्य उद्योग छूट गए रहते हैं"[५] जिससे अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे परिचय उसके विषय में संभवतः नैतिक दृष्टि से अध्ययन करके दिये गए हैं। ऐसे ही यदि हम उक्त शेष दो विशेषणों पर विचार करते हैं और देखते हैं कि वहां पर प्रथम अर्थात् 'ब्राम्ही स्थिति प्राप्त महापुरुष' के लिए 'ब्रह्म विद् ब्रह्मणि स्थितः[६] तथा 'अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्'[७] कहा गया है और फिर यह भी बतलाया गया है कि वह "सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्श का सुख अनुभव किया करता है।"[८] इसी प्रकार 'भक्त' के लिये भी कहा गया है कि "जो भगवान् के प्रति अपने मन एवं बुद्धि को अर्पित कर देते हैं वे भक्त उसके प्रियपात्र हुआ करते हैं"[९] तो पता चलता है कि उसकी वृत्तियों का अध्ययन वहां पर धार्मिक दृष्टिकोण से किया गया है जिससे वस्तुतः एक ही प्रकार के आदर्श

---

१. "योगस्थः कुरु कर्माणि, संगंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।"—अ० २, श्लोक ४८।

२. "प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥"—अ० २, श्लोक ५५।

३. "यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥"—अ० ३, श्लोक ७।

४. "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥"—अ० २, श्लोक ५६।

५. "मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥"—अ० १४, श्लोक २५।

६. अ० ५, श्लोक २०।

७. अ० ५, श्लोक २६।

८. "सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥"—अ० ६, श्लोक २८।

९. "मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥"—अ० १२, श्लोक १४।

के लिए विभिन्न प्रकार की संज्ञा देने की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इसके सिवाय ऐसे अध्ययन के आधार पर हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि इसके उक्त मनोवैज्ञानिक पक्ष एवं नैतिक पक्ष इन दोनों की परिणति, अंत में वहीं पर जाकर हो जाती है जिसे धार्मिक पक्ष का अध्ययन कहा गया है तथा जिसके अनुसार बतलाये गए लक्षण का सादृश्य, रहस्यवादी व्यक्ति की विशेषताओं के साथ भलीभांति ठहराया जा सकता है। उसका 'ब्रह्मविद्' होना 'ब्रह्मभूत' वा 'ब्राह्मीभूत' होना, अपने चतुर्दिक् रखे हुए से (अर्थात् बैठे-बिठाये) ब्रह्मनिर्वाण-रूप मोक्ष का प्राप्त कर लेना[1] तथा इस प्रकार, ब्रह्म के संस्पर्शजन्य अत्यंत उत्कृष्ट आनंद का सुखपूर्वक उपभोग करने लगना ये सभी स्पष्टतः रहस्यवादी के विशिष्ट लक्षणों की ओर ही इंगित करते हैं। अतएव इसमें संदेह नहीं कि जहां तक 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा प्रतिपादित आदर्श पुरुषों के लक्षणों की बात है वे इनके ठीक एक समान ही जान पड़ते हैं।

सूफ़ीमत के कतिपय विशिष्ट अनुयायियों द्वारा स्वीकृत 'अल् इंसान् उल् कामिल' की धारणा भी एक इसी प्रकार के आदर्श मानव की ओर संकेत करती है और वह भी रहस्यवादी साधक-संबंधी विशेषताओं के स्पष्टीकरण में बहुत कुछ सहायक हो सकती है। इस 'पूर्ण मानव' के आदर्श का सर्वप्रथम पुरस्कर्ता इब्न-उल् अरबी (मृ० सन् १२४० ई०) समझा जाता है जिसने 'इंसान् उल् कामिल' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया था तथा उसके पीछे अल् जिली (मृ० सन् १४०६ ई०) ने अपनी इस नाम की एक पुस्तक द्वारा इसके अभिप्राय को और भी विस्तृत रूप में प्रकट करने की चेष्टा की। 'इंसान् उल् कामिल' अथवा 'पूर्ण मानव' की इस धारणा के अनुसार पूर्ण मानव ही एक मात्र परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति है। जगत् के अन्य पदार्थ उसकी केवल अधूरी गुणावली मात्र की अभिव्यक्ति करते हैं, इनके द्वारा वह पूर्णरूपेण व्यक्त होता नहीं कहा जाता है। पूर्णमानव, इस प्रकार सृष्टिमात्र का चरमोत्कर्ष कहला सकता है और उसे केवल आकृति मात्र से ही मानव, किंतु स्वरूपतः एवं गुणतः स्वयं ईश्वर भी कह सकते हैं। सूफ़ियों की इस धारणा का आधार कदाचित् यह मत हो सकता है कि ईश्वर ने उनके अनुसार, सृष्टि की रचना करके स्वयं अपने को ही व्यक्त किया और एक से अनेक हो जाने पर, फिर उसे अपने को अनेकत्व की ओर से एकत्व की ओर प्रत्यावर्त्तन करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिसके लिए उसने पूर्णमानव से इसके माध्यम का काम लिया।

इस प्रकार पूर्ण मानव को हम द्विविध रूपों में भी देख सकते हैं जिनमें से एक को 'जागतिक' और दूसरे को 'नैतिक' कहेंगे। इन दोनों में से प्रथम की दृष्टि से पूर्णमानव परमेश्वर की 'प्रतिध्वनि' वा प्रतिरूप कहला सकता है और वही सृष्टि का आदि केन्द्र भी होगा जिसके लिए 'कुतुब' अथवा 'ध्रुव केन्द्र' का शब्द व्यवहृत किया गया है और उसी के चारों ओर सृष्टि का परिक्रमा करना तक कल्पित किया गया है। इस मत के अनुसार वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य ही सर्वगुण संपन्न हो सकता है, किंतु ऐसी शक्ति उसके अंतर्निहित रहा करती है जिसके व्यक्तीकरण के लिए उसका सचेष्ट होना तथा निश्चित साधनाओं का काम में लाना अत्यंत आवश्यक हुआ करता है जो सबके लिए सुलभ नहीं है। उसमें सफल पुरुषों की संख्या अत्यंत अल्प हो सकती है और ऐसे लोगों में से ही

---

१. "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।"—अ० ५, श्लोक २६। ३ भी।

वे हो सकते हैं जिन्हे 'पैग़ंबर' कहा जाता है। इनके बीच परस्पर स्तर भेद होता है और केवल उन्हीं को 'पूर्णतः व्यक्त' कह सकते हैं जिन्होंने पूर्ण विकास पाकर ईश्वर का साक्षात् भी कर लिया हो। जीली ने ऐसे पूर्ण मानव के उदाहरण में हज़रत मुहम्मद का नाम लिया था और उन्हें विविध चमत्कारों की क्षमता भी प्रदान की थी। इस प्रकार ऐसा पूर्ण मानव अपने उक्त द्वितीय रूप में, अन्य सभी की दृष्टि से ईश्वरोपलब्धि का मिलन-सेतु भी कहला सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वगुणोपेत होने के कारण वही सबका यथेष्ट मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है तथा सबको ईश्वर से मिला भी दे सकता है। परंतु वह इस रूप में जगद्गुरु कहलाने योग्य होकर भी, उस जीवन्मुक्त से भिन्न ही कहा जा सकता है जो अद्वैतवादियों का आदर्श है। 'इंसान् उल् कामिल' मूलतः जगत् का 'पार्थिव उपादान' कहला सकता है जो जीवन्मुक्त के विषयमें भी समझ लेना तर्क-संगत नहीं हो सकता। इसे हम पूर्णमानव की भांति एक ही साथ आध्यात्मिक दृष्टि से मानव तथा पार्थिव दृष्टि से सृष्टि का आदि भूत दोनों नहीं कह सकते। जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने वाले विचारक द्वारा ऐसा कथन किस प्रकार किया जा सकता है? इसी प्रकार पूर्ण मानव जीवन्मुक्त से इस दृष्टि से भी भिन्न कहला सकता है कि यह उसकी भांति अपने को स्वयं ईश्वर होना नहीं समझ सकता। पूर्ण मानव की अनुभूति का आधार ईश्वरीय 'प्रेम' हुआ करता है और वह उसके उल्लास में रहा करता है, जहां अद्वैतवादियों का जीवन्मुक्त अपनी अनुभूति का आधार 'ज्ञान' को मानता है और वह अंत में पूर्ण शांति की स्थिति में आ जाता है।

ये दोनों ही, रहस्यानुभूति उपलब्ध करने वाले आदर्श पुरुष के समान कहे जा सकते हैं, किंतु तीनों ठीक एक ही नहीं हो सकते। तीनों मतों की दृष्टि में भेद के कारण सूफियों के 'पूर्ण मानव', अद्वैतवादियों के 'जीवन्मुक्त' एवं रहस्यवादियों के 'आदर्श पुरुष' में अंतर देखा जा सकता है। सूफ़ी जहां अपने आदर्श में ईश्वरत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति की कल्पना कर सकता है और यह उसे ईश्वर की प्रतिच्छवि स्वीकार करता है, वहां अद्वैतवादी अपने आदर्श में स्वयं आत्मोपलब्धि की भावना को ही प्रश्रय देता है और वह अपनी अनुभूति को 'स्वानुभूति' का नाम तक देता है। परंतु रहस्यवादी अपने आदर्श में इन दोनों से किंचित् भिन्न प्रकार से ही सोचता प्रतीत होता है। इसके लिए न तो किसी ईश्वर अथवा परमात्मा की प्रतिच्छवि होना वा कहलाना आवश्यक है और न उसके साथ पूर्ण एकत्व की भावना को प्रकट करना ही अनिवार्य है। वह तो केवल सर्वत्र किसी ऐसी अपूर्व एकता का अनुभव करता है, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाने पर भी, वह उसकी ईदृक्ता वा इयत्ता को भलीभांति हृदयंगम नहीं कर पाता। अतएव, यदि प्रथम की अनुभूति का प्रमुख साधन प्रेम होता है और द्वितीय का ज्ञान हुआ करता है, वहां इसकी दशा में, इन दोनों का एक अपूर्व सम्मिश्रण दीख पड़ता है जिसे किसी प्रकार प्रकट कर पाना अत्यंत कठिन है। इसके सिवाय, यदि हम यह कहें कि पूर्ण मानव दशा में हम किसी ऐसे आदर्श महापुरुष को परमेश्वर का निजी वा आत्मीय कह सकते हैं तथा जीवन्मुक्त को स्वयं उसका स्वरूप तक कह दे सकते हैं, वहां रहस्यानुभूति उपलब्ध करने वाले के लिए किसी वैसे ईश्वर अथवा परमात्मा की चर्चा करना आवश्यक नहीं रह जाता। वह किसी ऐसी विलक्षण सत्ता की एकता का अनुभव करता है जिसे किसी संज्ञा-विशेष द्वारा अभिहित करना केवल अनुमान ही अनुमान होगा। ऐसे सिद्ध महापुरुष का कहना है कि जब हमें उसका अनुभव किसी अपनी इन्द्रिय विशेष द्वारा नहीं होता और न जब हम कभी

उसकी कल्पना तक अपने मन के सहारे कर सकते हैं तो हमें इसका कोई अधिकार ही कहाँ है कि उसे अपने शब्दों द्वारा सीमित कर सकें। अतएव हम न केवल उस अपूर्व सत्ता को, अपितु उसकी अनुभूति को भी रहस्यमय अथवा अनिर्वचनीय ही ठहरा सकते हैं।

सूफ़ियों के आदर्श पुरुष 'पूर्ण मानव' की धारणा को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए हम उनकी उन दो आध्यात्मिक यात्राओं की चर्चा कर सकते हैं जिन्हें उन्होंने 'सफ़र उल् हक़' अर्थात् 'परमतत्त्व की यात्रा' और 'सफ़र उल् अब्द' अर्थात् 'दास की यात्रा' के भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। इनमें से प्रथमके अनुसार परमेश्वर अपनी सृष्टि-रचना के माध्यम से स्वयं अपने को अपनी उच्चदशा से निम्नतर स्तर पर लाया करता है और फिर द्वितीय के अनुसार वह ऐसे पूर्ण मानव के माध्यम द्वारा अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है। इस द्वितीय यात्रा की प्रगति विभिन्न स्तरों में हुआ करती है और उसे तदनुसार कहीं-कहीं 'नासूत' अर्थात् मानवीय 'मलक़ूत' अर्थात स्वर्गदूतीय 'जबरूत' अर्थात् विशुद्ध ज्ञानपरक एवं 'लाहूत' अर्थात् स्वयं ईश्वरीय कहा गया मिलता है और इस अंतिम दशा में साधक 'हक़ीक़त' को उपलब्ध कर लिया करता है। ऐसी यात्राओं तथा उनके विभिन्न मुक़ामों का वर्णन अन्य प्रकार से भी किया गया मिलता है जिसकी ओर कुछ संकेत इसके पहले किया गया है। यहां पर इसके रूप के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता केवल इसलिए पड़ती है कि हम इसके द्वारा इस बात पर भी विचार कर सकें कि पूर्ण मानव की साधनाओं का उद्देश्य, किसी न किसी प्रकार, निश्चित समझा जा सकता है, जहां रहस्यवाद के साधकों के लिए ऐसा मान कर चलना कभी आवश्यक नहीं रहा करता, प्रत्युत यह, केवल अपनी अनुभूति विशेष के फलस्वरूप आपसे आप वैसी दशा में आ जाया करता है, जिसे यदि जीवन्मुक्त की स्वानुभूतिजन्य दशा के समान भी कहा जा सके तो कदाचित् कोई हानि न होगी। इसके सिवाय पूर्ण मानव की दशा में जहां उसके क्रमिक विकास के अनुसार विभिन्न परिवर्तन होते जान पड़ते हैं, वहां ऐसे आदर्श पुरुष के लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें कदाचित्, एक बार में भी 'कायापलट' हो जा सकता है। अतएव, यदि हम किसी पूर्ण मानव की स्थिति को उक्त 'लाहूत' की स्थिति का भी नाम दे सकें तो उसका परिणाम हमें ठीक वैसा ही नहीं जंचेगा जैसा यहां दीख पड़ेगा। उस दशा में वह संभवतः किसी ऐसी सत्ता के रूप में परिणत हो जा सकता है जिसे स्वयं ईश्वर का पद तक दिया जा सकता है। परंतु, जहां तक पता चलता है, किसी रहस्यवादी आदर्श महापुरुष के भी संबंध में, हम ऐसा नहीं कह सकते।

इसी प्रकार, इस दृष्टि से विचार करते समय हमारा ध्यान उस अतिमानव (Superman) की ओर भी जा सकता है जिसकी चर्चा सर्वप्रथम जर्मन दार्शनिक (Nietzeche) (निट्शे) ने की तथा जिसके स्वरूप की व्याख्या करते समय श्री अरविन्द ने उसे एक और ही रूप दे दिया है। निट्शे का कहना था कि मानव का प्रस्तुत मानव रूप अभी और भी विकसित होनेवाला है, इस कारण इसका परिवर्तन अवश्यंभावी है। इसकी वर्त्तमान दशा केवल उस एक पड़ाव की जैसी है, जो अतिमानव की ओर प्रगति करते समय मार्ग में पड़नेवाली कही जा सकती है। किंतु निट्शे के अनुसार उस 'अतिमानव' का रूप इस प्रकार चित्रित किया जा सकता था जो वस्तुतः आसुरी प्रकृति का कहला सकता है और इस कारण, जिसमें उसके जीवन-काल तक स्वीकृत विकासवादी सिद्धांतों के आधार पर असीम दुःसाहस, शौर्य और प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्धा जैसे

गुणों का ही समावेश किया जा सकता था तथा जिन गुणों की गणना नैतिक रूप की दृष्टि से की जाती है उनके प्रति उपेक्षा का होना भी संभव था। कहते हैं कि "समवेदना एवं उदारता जैसे कई नैतिक गुण जिन्हें हम साधारणतः विशेष महत्त्व दिया करते हैं उन्हें निट्शे द्वारा प्रस्तावित सूची में से जानबूझकर निकाल दिया गया था, क्योंकि उसके अनुसार इन्हें भावी अतिमानव की जाति के लिए अनुपयुक्त समझा गया था"[१] किंतु श्री अरविन्द के अनुसार, ऐसा समझा जाना वस्तुस्थिति के नितांत विपरीत जा सकता है, क्योंकि इनकी धारणा के अनुसार ऐसे भावी 'अतिमानव' की भौतिकशक्ति की अपेक्षा, आध्यात्मिक शक्ति के ही विकसित होते जाने की कहीं अधिक संभावना है। इनका कहना है "अतिमानवता वस्तुतः उस आध्यात्मिक एवं संतुलित निरपेक्ष के अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है जो मानव के पूरे सारतत्त्व का हो?"[२] निट्शे एवं श्री अरविन्द ये दोनों केवल एक बात में सहमत जान पड़ते हैं कि, यदि विश्व का विकास संभव है तो वह केवल किसी ऐसे व्यक्ति विशेष के ही कारण नहीं होगा जिसे हम अतिमानव का नाम देंगे, प्रत्युत उसके मूल में उस नवीन 'जाति' वा 'वर्ग' का हाथ रहेगा जिसे 'अतिमानव' कहा जायगा। इस प्रकार वैसे अतिमानव के साथ रहस्यवादी आदर्श महापुरुष की तुलना करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जब अतिमानव का उत्पन्न होना किसी सामूहिक रूप में ही संभव है और वह भी सभी प्रकार के उपादानों में क्रमशः आमूल परिवर्त्तन आ जाने पर निर्भर है जिसके लिए परिस्थिति विशेष की कल्पना भी की गई है उस दशा में उसे हम किसी ऐसे व्यक्ति की तुलना में किस प्रकार स्थान दे सकते हैं? फिर भी हम उसकी चर्चा उसके लिए उपयुक्त अवसर आ जाने पर एक बार और यथास्थल करने की चेष्टा करेंगे।

इस समय हमने 'श्रीमद्भगवद्गीता' में प्रतिपादित आदर्श पुरुष, सूफ़ीमत द्वारा कल्पित 'अल् इंसानुल कामिल' तथा 'अतिमानव' की ओर यहां पर इसलिए संकेत किया है कि उनकी विभिन्न विशेषताओं के आलोक में हम रहस्यवादी आदर्श व्यक्ति को कुछ और भी अधिक स्पष्टता के साथ समझने का यत्न कर लें और इस प्रकार इसके विषय में कोई उपयुक्त धारणा भी बना ले सकें। हम यहां पर इस संबंध में, एक अन्य ऐसी बात का भी प्रसंग लाना चाहते हैं जिससे उस प्रश्न पर और प्रकाश पड़े। रहस्यवाद के विशेषज्ञों ने रहस्यवादियों को प्रायः दो विभिन्न दृष्टियों से देखने का यत्न किया है जिनमें एक उनके प्रधानतः अंतर्मुखी होने से है और दूसरी के अनुसार कहा जा सकता है कि वे किन्हीं विशेष दशाओं में बहिर्मुखी भी कहे जा सकते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् उनके अंतर्मुखी होने का तात्पर्य यह है कि ऐसे लोगों को अपने बाह्येन्द्रिय विषयों का कोई भान नहीं हुआ करता। इनके भीतर अपनी सारी संवेदनाओं, भावनाओं, मानसिक चित्रणों एवं विचारों तक का प्रायः सर्वथा तिरोभाव सा हो जाया करता है और इस कारण, स्वभावतः इन्हें अपने संवेदनों, इच्छाओं अथवा संकल्पों को काम में लाने वा प्रकट करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

---

१. Dr. S. K. Maitra : Studies in Sri Aurobindo's Philosophy (Benares Hindu University, 1945) pp. 139-40.

२. For what is supermanhood, but a certain divine and harmonious absolute of all that is essential in man". Quoted on p. 140 of the above.

फलतः इनकी साधारण चित्-शक्ति कुंठित सी हो जाती है और उसका स्थान एक ऐसी अन्य शक्ति ग्रहण कर लेती है जिसे रहस्यवादात्मक चेतना कहा जा सकता है। ऐसे साधकों को यह दशा उस समय प्राप्त होती है जब उन्हें 'समाधि' लग जाती है अथवा जब वे ऐसी स्थिति में आ जाया करते हैं जिसे ईसाई रहस्यवादियों ने प्रार्थनात्मक तल्लीनता अर्थात् Prayer का नाम दिया हो। ऐसी दशा की विशेषता यह है कि इसमें सारी चित्-शक्ति के केवल एक ही ओर केन्द्रित हो जाने के कारण, उसकी वृत्तियों को अन्यत्र किसी ओर प्रवाहित होने का अवसर ही नहीं मिला करता। ऐसी चेतना को आध्यात्मिक शब्दावली के अनुसार 'सर्वातिशायी (Transcendental) कहा गया मिलता है और कदाचित् इसी को आधुनिक पंडितों की भाषा में जागतिक (Cosmic) भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा में केवल विशुद्ध चेतना-मात्र ही रह सकता है और उसी की विलक्षण अनुभूति को रहस्यानुभूति, स्वानुभूति, ईश्वरोपलब्धि अथवा संभवतः निर्वाण जैसे नाम भी दिये गए मिलते हैं।

रहस्यवादियों की बहिर्मुखी वृत्ति किंचित् भिन्न प्रकार से निर्मित हुई कही जा सकती है। इस वृत्ति में हमारे बाह्येन्द्रियों के सारे विषय यथापूर्व अनुभव में आते रहा करते हैं, किंतु रहस्यवादी साधक उन्हें ठीक उसी प्रकार नहीं समझा करता, जिस प्रकार साधारणतः समझा जाता है। यह उन सारे विषयों की अनेकता में भी किसी एक अपूर्व एकता का अनुभव करता है। जैसा प्रसिद्ध ईसाई रहस्यवादी मिस्टर एखार्ट (Meister Eckhart) ने एक स्थल पर लिखा है "ऐसी दशा में सभी घास के पत्ते, काष्ठ एवं प्रस्तर खंड तक, सारे के सारे 'एक' बन जाते हैं। . . . . . मनुष्य अपने केवल मात्र बोध की दशा में कब रहता है ? जब वह किसी एक पदार्थ को दूसरे से पृथक् देखता है और किस दशा में वह ऐसे अनुभव के स्तर से ऊपर आ जाया करता है ? जब वह सबको सभी में देखने लग जाता है और वह केवल बोध मात्र से ऊपर उठ जाया करता है,"[१] जिसका अर्थ यह हो सकता है कि ऐसा व्यक्ति किसी पदार्थ को एक ही साथ एक दूसरे से पृथक् तथा एक रूप भी देख ले सकता है। यह एकरूपता क्या है ? इस बात का पता हम वस्तुतः उस विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता विषयक धारणा के अनुसार लगा सकते हैं जिसकी चर्चा की जा चुकी है तथा जिसकी ओर निर्दिष्ट एक स्पष्ट संकेत उस विशुद्ध चेतना वा चिद्-शक्ति के रूप में भी मिल जा सकता है जिसका अभी वर्णन किया गया है। अतएव जिस वैसी चेतना की सभी सर्वातिशयता अथवा Transcendality का प्रसंग अभी अंतर्मुखी रहस्यात्मक वृत्ति की चर्चा में आया था और जिसे कतिपय अन्य नाम देते हुए ईश्वर के रूप में भी निर्दिष्ट किया गया था वही इस बहिर्मुखी वृत्ति में भी काम करती जान पड़ती है। इसके सिवाय इस एक ही सत्ता को जिसे एखार्ट ने 'एक' की संज्ञा दी है उसे ही यहां पर भी जेकब बोहम नामक अन्य ईसाई संत ने ईश्वर के रूप में अनुभव किया है और कहा है कि "ऐसे प्रकाश में

---

१. Here all blades of grass, wood and stone, all things are one.... When is a man in mere understanding? When he sees one thing separately from another. And when is he above mere understanding? When he sees all in all, then a man stands above mere understanding." Quoted in Teachings of the Mystics, p. 16.

मेरी आत्मा ने सारे पदार्थों एवं प्राणियों के भीतर और घास तथा पौधों तक में स्वयं ईश्वर को पहचाना।"[१]

एक सच्चे पूर्ण रहस्यवादी में इन दोनों ही प्रकार की वृत्तियों का परिचय पाया जा सकता है, यद्यपि इनका सर्वत्र एक समान पाना दुर्लभ है। किसी-किसी दशा में जब अंतर्मुखी वृत्ति की प्रधानता हो जाती है और बहिर्मुखी उतनी विकसित नहीं हो पाती, यह संभव है कि उसका साधक आत्म-केन्द्रित सा बन जाय और निरंतर अपने आभ्यंतरिक आनंद में मग्न रहता हुआ, किसी भी प्रकार के बाह्य विषय के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने लगे। तदनुसार उसके लिए इस प्रकार की आशंका हो सकती है कि वह सामाजिक प्राणी जैसा व्यवहार नहीं कर सके, प्रत्युत 'पलायनवादी' भी बन जाय। इसी प्रकार, यदि उक्त बहिर्मुखी वृत्ति की प्रधानता हो उस दशा में, यह संभव है कि उसके साधक की अनुभूति यथेष्ट गहरी न हो पाये और वह अधिकतर अपने किसी काल्पनिक मनोराज्य में भ्रमण करने का स्वभाव स्वीकार करके ठेठ व्यवहार क्षेत्र तक पहुंचने का प्रयास ही न कर सके। यदि प्रथम की दशा में दार्शनिकता का रंग अधिक चढ़ जा सकता है तो द्वितीय की स्थिति में कला-विज्ञता की कल्पना बाधा डाल सकती है। इन दोनों में से किसी के भी एकांत रूप में विद्यमान रहते, रहस्यानुभूति के उस चरम लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती जो दोनों के संतुलित रहने में ही संभव है तथा जिसके प्रतिफलित होने पर ही वैसे किसी साधक की कोई सामाजिक उपयोगिता भी समझी जा सकती है। इस प्रकार ये दोनों वृत्तियां वस्तुतः एक ही दशा विशेष के दो पक्ष मात्र कही जा सकती हैं और यदि इन दोनों में से किसी एक को दूसरी से किसी प्रकार अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण ठहराने की आवश्यकता हो तो कहा जा सकता है कि इसमें से प्रथम अर्थात् अंतर्मुखी वृत्ति को हम इसका श्रेय प्रदान करेंगे, क्योंकि उसके बने रहते, द्वितीय का परिणमित हो जाना जितना संभव है उतना इसके विपरीत वाली दशा में नहीं कहा जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि वह द्वितीय दशा कभी बिना प्रथम की सहायता के साधार भी बन पायगी। इसके सिवाय इस संबंध में एक और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है और वह यह कि अंतर्मुखी वृत्ति की प्रधानता की दशा में जिस एकता की अनुभूति हुआ करती है उसके साथ उसका अनुभवकर्त्ता एक विचित्र संबंध भी स्थापित कर लेता है जो बहुधा केवल अस्थायी बन कर ही नहीं रह जाता। उस दशा में अनुभवकर्त्ता को इस प्रकार का भान होने लगता है कि मैं न केवल ऐसी अनुभूति के द्वारा अपने को उस एकता में विलीन जैसा कर रहा हूं, प्रत्युत इसके साथ ही ऐसे एक नवीन व्यक्तित्व को पाकर समृद्ध भी होता जा रहा हूं जो सर्वथा पूर्ण तक कहा जा सकता है। इसके विषय में मध्यकालीन भक्त साधकों के अतिरिक्त आधुनिक लेखकों और कवियों तक ने भी अपनी अनुभूति का वर्णन किया है जिससे इस पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टेनिसन (Tennyson) ने स्वयं अपनी अनुभूति के संबंध में लिखा है—"मेरा व्यक्तित्व उस समय विलीन होता एवं म्लान होता जान पड़ा और ऐसा प्रतीत हुआ कि वह किसी अनंत सत्ता में, नितांत स्पष्ट रूप में तिरोहित होता जा रहा है जिस अनुभव को हम निश्चित से निश्चित एवं अनिर्वचनीय भी कह सकते

---

१. "In this light my spirit saw through all things and into all creatures and I recognized God in grass and plants." also quoted in the above.

हैं। वह दशा ऐसी थी जिसमें मृत्यु को हास्यास्पद और असंभव कहा जा सकता है तथा मेरे व्यक्तित्व के विनाश को उसके ऐसा लगते हुए भी, 'पूर्ण अभाव' न कह कर केवल 'एक मात्र सच्चे जीवन' के रूप में बतलाया जा सकता है"[१] जिससे स्पष्ट है कि ऐसी अनुभूति का परिणाम सदा चिर स्थायी हुआ करता है तथा इसी कारण, वह ऐसे साधन के जीवन में कायापलट भी ला दिया करता है।

कुमारी अंडरहिल ने किसी सच्चे रहस्यवादी की परिभाषा देते हुए कहा है—"सच्चा रहस्यवादी एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसकी ऐसी शक्तियां कलाविज्ञों के स्वप्निल स्तर से कहीं ऊंची की रहा करती हैं और वे उसकी प्रतिभा तक का स्थान ले सकती हैं। जिसकी सर्वातिशयी चेतना साधारण चेतना को प्रभावित कर देती है और जो परमतत्त्व के प्रति पूर्णतः आत्मसमर्पण कर देता है।"[२] इस प्रकार एक उच्चकोटि के रहस्यवादी एवं कलाकार की मानसिक स्थिति तत्त्वतः एक-सी जान पड़ती हुई भी, बहुत कुछ भिन्न-भिन्न ठहरायी जा सकती है और इसका कारण उस विशिष्ट भावगांभीर्य में पाया जा सकता है जो प्रथम के साथ संलग्न रहा करता है। रहस्यवादी की मानसिक स्थिति के लिए कहा जा सकता है कि उसके मूल में किसी अनुभूत संज्ञा के प्रति कोई न कोई ऐसी भावना भी काम करती पायी जा सकती है जिसे धार्मिक अथवा कम से कम आध्यात्मिक जैसा विशेषण दे सकते हैं। ऐसी भावना द्वारा उक्त अनुभूति में पूरी गंभीरता आ जाती है और इस कारण, वह न केवल गहरी बन जाती है, प्रत्युत वह उक्त मनःस्थिति पर अपना कोई रंग भी चढ़ा दिया करती है जिसका एक परिणाम यह होता है कि इन दोनों के लिए प्रयुक्त प्रतीकों का अर्थ तक भी बिना भिन्न-भिन्न हुए नहीं रह पाता। जिस समय रहस्यवाद कोई धार्मिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है उस समय उसके समक्ष यह प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है कि किस प्रकार किसी प्रतीक के मूल में निहित सत्य की अभिव्यक्ति की जाय, जहां कला के लिए कोई इस प्रकार का कर्तव्य निश्चित नहीं रहा करता और वह सत्यासत्य के बीच किसी ऐसी रेखा के खींचने के प्रति प्रायः उपेक्षा प्रदर्शित कर देती है जो प्रथम के लिए असंभव ही कहा जा सकता है। अतएव, यह कहना भी अनुचित न होगा कि "कला की दशा में जहां प्रतीक केवल प्रतीक मात्र ही रह जाते है, वहां धर्म की दशा में वे सत्य होने के साथ साथ आलंकारिक भी हो सकते हैं।"[३]

---

१. "...individuality itself seemed to dissolve and fade away into boundless being, and this was not a confused state but the cleanest, the surest of the sure, utterly beyond words—where death was an almost laughable impossibility—the loss of personality (if so it were) seeming no extinction but the only true life." Quoted in Mysticism and Philosophy, p. 119.

२. "The true mystic is the person in whom such powers transcend the merely artistic and visionary stage, and are exalted to the point of genius in whom the transcendental consciousnes can dominate the normal conscious and who has definitely surrendered himself to the embrace of Reality."—Mysticism, p. 75.

३. "In art the symbols are mere symbols while in religion these are real as well as figurative." Theory and Art of Mysticism, p. 39.

परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि रहस्यवादी साधक के लिए सदा धार्मिक वा आध्यात्मिक होना अनिवार्य है जैसा हम रहस्यवाद की परिभाषा देते समय बतला चुके हैं। यहां पर किसी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता का प्रश्न आता है जिसे यदि हम चाहें तो, परमेश्वर अथवा किसी भी अन्य नाम द्वारा अभिहित कर सकते हैं। यदि हम उसे परमेश्वर कहते हैं तो उसके साथ संयोग को किसी न किसी रूप में धार्मिक महत्त्व भी दिया जा सकता है, किंतु यदि हम ऐसा नहीं करते तो ऐसी अनुभूति के लिए 'धार्मिक' विशेषण लगाने की सार्थकता तभी हो सकती है, जब धर्म का अर्थ व्यापक कर दें और उसे उसके मौलिक रूप में जीवन-दर्शन भी स्वीकार कर लें। इस दृष्टि से देखनेपर ही हम बौद्ध धर्म को भी धर्म की संज्ञा दे सकते हैं जिसमें किसी ईश्वर की मान्यता को कभी महत्त्व नहीं दिया जाता तथा जिसकी ओर से रहस्यवाद की भावना को स्वीकार कर लेने पर भी हम यही कह सकते हैं कि वह किसी ठेठ धार्मिक भाव को सूचित नहीं करता है। इसी प्रकार हम एक अन्य उदाहरण भी दे सकते हैं। प्रसिद्ध प्लोटिनस को सभी एक स्वर से रहस्यवादी स्वीकार करते हैं, किंतु उसे किसी धर्म विशेष के साथ कभी संबद्ध भी नहीं किया करते, प्रत्युत उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा दार्शनिक मात्र था जिस पर रहस्यवादी रंग चढ़ चुका था और जो इसी कारण, किसी जीवन-दर्शन का प्रतिपादक भी कहा जा सकता था। गौतम बुद्ध को भी हम रहस्यवादी होने के साथ-साथ कभी किसी धर्म विशेष के साथ संबद्ध नहीं मानते और यदि हम ईसा मसीह को ऐसा विशेषण देने लगें तो उस दशा में भी हम उन्हें यहूदी धर्म का अनुयायी होने के कारण, ऐसा नहीं किया करते। इसके सिवाय इधर के अनेक आधुनिक व्यक्ति जिन्हें रहस्यवादी मान लेने की प्रवृति पायी जाती है उनका ऐसा कहा जाना कभी केवल इस आधार पर नहीं संभव रहता कि वे अमुक धर्म के अनुयायी भी थे, क्योंकि स्वयं उनकी अनुभूतियों के उपलब्ध विवरणों द्वारा ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें जितना दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व का समावेश है, उतना वह किसी धर्म विशेष का नहीं कहा जा सकता।

(२) रहस्यवादी पुरुष का सामाजिक व्यवहार

रहस्यवादात्मक अनुभूति की दो भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों की चर्चा करते हुए हमने उनमें से एक को अंतर्मुखी बतलाया था तथा दूसरी के संबंध में कहा था कि उसका रूप बहिर्मुखी का जैसा हुआ करता है। इसी प्रकार हमने उस समय इस बात की ओर भी कुछ संकेत करा दिया था कि इन दोनों में से प्रथम की दशा में साधक बहुत कुछ आत्मकेन्द्रित हो जाया करता है तथा इसी कारण उसके विषय में ऐसी आशंका भी हो सकती है कि वह अपने समाज के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करे। हमने इसके साथ ही उक्त दूसरी अर्थात् बहिर्मुखी वृत्ति के लिए भी कहा था कि उसकी दशा में भी, यह कहना कठिन है कि वैसा साधक कभी अपने समाज के दैनिक व्यवहार में भाग लेने के प्रति अपने लिए पर्याप्त अवकाश पा सकता है। दोनों ही दशाओं में रहस्यवादी साधक के लिए यह अधिक स्वाभाविक है कि वह या तो अपनी प्रथम वृत्ति के अनुसार अपने आभ्यंतरिक अनुभवों का आनंद लूटने लग जाय अथवा अपनी द्वितीय कृति के प्रभाव में आकर, बाह्य सौंदर्य जैसे आकर्षक विषयों द्वारा प्रभावित होकर भी, आनंदविभोर बन जाय। इसके सिवाय ऐसे रहस्यवादियों की कटु आलोचना कभी-कभी इस कारण भी की जा सकती है कि इनकी अनुभूतियों का स्वरूप

धार्मिक हो जाने तथा उसके अनुसार, अपने इष्टदेवों के प्रति आकृष्ट होकर उनकी भक्ति-भावन में इनके लग जाने से इन्हें स्वभावतः बंधन में पड़ना पड़ सकता है। विविध प्रचलित धर्मों के प्रति आजकल क्रमशः अरुचि के बढ़ते जाने तथा उनकी अनुपयोगिता के सिद्ध होते जाने से भी इस प्रकार की धारणा को विशेष बल मिल सकता है। इस विषय में यहां तक भी कह डालना असंभव नहीं कि न केवल वैसे धर्मों के दिन लद चुके जान पड़ते हैं, अपितु उन भावनाओं को भी अब कोई प्रश्रय नहीं मिल सकता जिन्हें उनसे कोई प्रेरणा मिलती आई है। अतएव, ऐसी धारणाओं के रहते तथा इस प्रकार की आलोचनाओं के होते आने की दशा में, रहस्यवाद की उपयोगिता को नगण्य ठहराना तथा इसे उक्त दृष्टियों के अनुसार, सामाजिक व्यवहार के लिए अर्थहीन बतलाना कभी असंभव नहीं कहा जा सकता और इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस प्रश्न का भी कुछ न कुछ समाधान कर लेने का यत्न कर लें।

रहस्यवाद के प्रति उक्त प्रकार की धारणा को प्रश्रय देने के कुछ और भी कारण हो सकते हैं। इसका यह स्पष्ट उद्देश्य है कि इसका आदर्श अधिक से अधिक व्यापक बना रहे तथा इसी कारण, यह ऐसी बातों को विशेष महत्त्व नहीं देता जिन्हें साधारण समाज, अपनी रूढ़ियों वा परंपराओं के संरक्षण के प्रयास में, कभी उपेक्षित होने देना नहीं चाहता। वह नहीं चाहता कि जिन घरौंदों को हमने अपने चारों ओर चिरकाल से निर्मित कर रखा है उन्हें किसी प्रकार भी कोई हानि पहुंचने पाये और उनके ध्वंस हो जाने पर हमें किसी ऐसे उन्मुक्त आकाश के नीचे जीवन-यापन करना पड़ जाय जिसका कोई ओर-छोर निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार हमारे स्वभावतः परिवर्तन-विरोधी समाज को कभी यह भी पसंद नहीं कि उसकी प्राचीन मान्यताओं के प्रति किसी प्रकार का विरोध खड़ा हो सके अथवा हमें सहसा किसी ऐसे अपरिचित आदर्श का सामना करना पड़ जाय जिसका मूल्य भलीभांति निर्धारित न किया जा सकता हो। इसके सिवाय हमारा साधारण समाज ऐसी बातों का स्वभावतः विरोध भी कर सकता है जिसका संबंध मायावाद और संन्यासवाद के जैसे आदर्शों के साथ जुड़ा चला आया हो तथा जिनके समाज-विरोधी सिद्ध करने में कभी किसी कठिनाई का अनुभव न किया जाता हो। यदि यों प्रत्यक्ष रूप से विचार किया जाय और उक्त अभियोगों के मूल तक पहुंचने का यत्न कर उनमें निहित भ्रांतियों के निराकरण की चेष्टा न की जाय तो इस प्रकार की धारणाओं को प्रश्रय देना कदापि अन्यायमूलक नहीं ठहराया जा सकता। परंतु यदि वैसी बातों की समुचित और पूरी समीक्षा कर ली जाय तो यह संभव है कि वे बहुत अंशों तक भ्रामक एवं निराधार तक सिद्ध की जा सकें। अतएव उनमें से कुछ को लेकर यहां हम उनके वास्तविक रूप को देखने का प्रयास करना चाहते हैं और इस प्रकार उनका यथासंभव समाधान भी कर देना चाहते हैं। परंतु हमारा उद्देश्य यहां रहस्यवाद के किन्हीं वास्तविक दोषों के ऊपर कोई पर्दा डालने का न होकर केवल इतना ही हो सकता है कि यदि इस प्रसंग में किसी प्रकार की भ्रांति आ गई हो तो उसका निराकरण किया जाय तथा इसी व्याज से इसके स्वरूप का कुछ और स्पष्टीकरण भी हो जाय।

अभी उठाये गए प्रश्नों में से सर्वप्रथम, हम रहस्यवाद की उस प्रत्यक्ष दुर्बलता को ही लेना चाहते हैं जिसका मूल आधार उसकी दो भिन्न-भिन्न वृत्तियों में पायी जाने वाली समाज के प्रति घोर तटस्थता में निहित है। यदि हम इस अभियोग पर विचार करने लगते हैं तो हमें पता चलता

है कि यह कभी रहस्यवाद के वास्तविक आदर्श के विरुद्ध नहीं लगाया जा सकता। रहस्यवाद के वास्तविक आदर्श का स्वरूप निर्धारित करते हुए इसके बहुत पहले ही कह आये हैं कि यह किसी एक 'जीवन-दर्शन' का ही आदर्श हो सकता है जिसका तात्पर्य यह है कि ऐसे आदर्श को हम तब तक पूरा नहीं मान सकते जब तक उसका पालन किसी साधक के ठेठ जीवन में भी न किया जाता हो तथा जो इसी कारण, स्वभावतः अधूरा अथवा एकांगी तक भी कहला सकता हो। तदनुसार, इस दृष्टि से देखने पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि इसके आलोचकों ने सारी बातों के ऊपर पूरा विचार न किया होगा। यदि ऐसा होता तो यह स्पष्ट हो गया होता कि जिस आदर्श के अंतर्गत विश्वात्मक सत्ता की किसी एकता की बात निहित है और जिसके आधार पर इसीलिए, न केवल मानव-समाज, अपितु सारे प्राणि वर्ग अथवा पूरे विश्व तक के कल्याण की भावना की जा सकती हो, वह उसकी ओर से निरपेक्ष क्योंकर हो सकता है। यह निरपेक्षता केवल तभी तक संभव कही जा सकती है, जब तक वैसे आदर्श की व्यवहारगत प्रक्रिया को भी ध्यान में न रखा जाय और न जब तक उनकी इस विशेषता को भी प्रश्रय दिया जाय कि उसका वास्तविक मूल्य भी केवल उसकी ऐसी व्यावहारिक सफलता पर ही आधारित है। जो कुछ उसकी भीतरी वा बाहरी अनुभूति पर आश्रित अपूर्व आनंद का अंश है वह तो सचमुच व्यक्तिगत ही कहला सकता है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि उसकी प्रेरणा द्वारा संचालित चेष्टाओं का व्यापक परिणाम किसी प्रकार भी वैसा संकुचित नहीं ठहराया जा सकता और न कभी कल्पना ही की जा सकती है कि ऐसे किसी सच्चे साधक के विषय में, हम किसी तटस्थता वा निरपेक्षता का प्रश्न उठा सकें।

इसी प्रकार, हमें ऐसा लगता है कि रहस्यवाद के जो दोष, इसके धार्मिक रूप ग्रहण करने के कारण, आ गये बतलाये जाते हैं उनका भी निराकरण करना उतना कठिन नहीं है, क्योंकि ऐसे प्रश्न का समाधान भी संभवतः इसके पहले ही किया जा चुका है। यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि धर्म का वास्तविक रूप क्या है तथा इसका मूल उद्देश्य वस्तुतः मानवीय जीवन के लिए कोई निश्चित आदर्श स्थापित करते हुए उसके लिए व्यावहारिक कार्यक्रम का निर्धारित करना ही ठहराया जा सकता है। जिस अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग आजकल होता आ रहा है वह तो इसके वास्तविक अभिप्राय की ओर से आंख मूंद लेने के ही कारण, तथा इसलिए भी कि अनेक तथाकथित संस्थाओं ने उसके विपरीत कार्य किया है, संभव हो सकता है। इसके सिवाय, जैसा हम पहले भी कह आये हैं, रहस्यवाद को धार्मिक स्वरूप प्रदान करने के प्रधानतः दो कारण हो सकते हैं जिनमें से एक तो यही है जिसके अनुसार इसे किसी जीवन-दर्शन की संज्ञा दी जाती है तथा दूसरा यह भी हो सकता है कि इसके अंतर्गत अधिकतर किसी ऐसे ईश्वर अथवा परमेश्वर की भी कल्पना कर ली जाती है जो प्रायः सभी प्रचलित धर्मों के लिए अनिवार्य सा बन गया प्रतीत होता है तथा जिसके ही प्रति विशेष रूप से उन्मुख रहने के कारण, रहस्यवादी के लिए समाज की ओर से तटस्थ हो जाना बतलाया जाता है। परंतु, यदि इस प्रश्न पर कुछ गंभीरता के साथ विचार किया जाय तो इसमें वैसे किसी सारतत्त्व का होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। उस दशा में यह स्पष्ट होते देर नहीं लग सकती कि जिस विश्वात्मक सत्ता की एकता को रहस्यवाद का मूलाधार ठहराया जाता है वह अनिवार्यतः किसी ऐसे ईश्वर की नहीं हो सकती जिसकी चर्चा प्रायः प्रचलित धर्मों के अंतर्गत की जाती है। वह प्रधानतः और तत्त्वतः केवल भावपरक ही हो सकती है और उसके लिए

किसी प्रकार के व्यक्तित्व की भी कल्पना कर लेना तथा कभी-कभी, उनके प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते हुए, उसे अपना इष्टदेव तक स्वीकार करने लगना, केवल अपनी सुलभता की दृष्टि से ही संभव है। एक रहस्यवादी वैसी सत्ता का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करता है और यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ भी जान पड़ता है। किंतु यह न तो उसकी इयत्ता का कोई परिचय दे सकता है और न उसकी ईदृकता का ही वर्णन कर सकता है। यह तो उसकी अनुभूति के समय, उसके साथ इतना घुलमिल सा गया जान पड़ता है कि इसे उसका भलीभांति निरीक्षण करना कभी संभव ही नहीं हो पाता और न इसी कारण, इसे कभी पता चल पाता है कि उसके संबंध में क्या कहें। फिर भी, उसके प्रति अपने भावों की अभिव्यक्ति करते समय, इसके सामने अनेक ऐसे अवसर आ जाते हैं जब इसे अपनी अनुभूतियों के लिए ठीक उपयुक्त शब्द ढूंढ़ने पड़ते हैं और उस समय, उसे अधिक से अधिक स्पष्ट रूप देने के प्रयास में इसे उनके लिए वैसे प्रयोग भी कर देने पड़ते हैं जो व्यक्तिपरक हों। वह सत्ता ठीक एक व्यक्ति विशेष के ही रूप में वर्तमान है इसका इसे कोई पता नहीं और न यह यही कह सकता है कि उसके मंतव्य क्या हो सकते हैं। यह उसके अपनी अनुभूति के अंतर्गत जान पड़ने वाले, स्वरूप का कोई जैसा तैसा अनुमान मात्र ही कर पाता है और तदनुसार यह उसे किसी ऐसे ढंग से अधिकतर प्रतीकों के सहारे, व्यक्त कर देना चाहता है जो दूसरों के लिए भी अनुभवगम्य बन जा सके।

किस प्रकार कोई एक रहस्यवादी आत्मकेन्द्रित बन जा सकता है तथा किस प्रकार उसके कारण वह अपने सामने की प्रत्यक्ष बातों की ओर भी समुचित ध्यान न देकर, समाज के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित कर सकता है इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। यहां पर हम इस संबंध में एक बात यह भी बतला देना चाहते हैं कि जिस मायावाद अथवा संन्यासवाद की ओर हमने अभी संकेत किया था वह भी उक्त प्रकार से आत्मकेन्द्रित बन जाने तथा अपना दृष्टिकोण बदल देने का ही परिणाम कहला सकता है। वास्तव में संन्यास लेने का प्राथमिक उद्देश्य ही क्या हो सकता है और क्या कारण हो सकता है कि जिस परिवार के भीतर रहते हुए हमें अपना भरण-पोषण मिलता आया तथा जिसके सदस्यों के प्रति हमारा सच्ची आत्मीयता का भाव प्रदर्शित करना ही स्वाभाविक कर्तव्य माना जा सकता है उसका सहसा परित्याग करके हम किसी एकांत निर्जन प्रदेश की शरण लें और उसे सर्वथा उपेक्षित कर दें। किसी एक वस्तु का परित्याग करके किसी दूसरी की ओर मुड़ पड़ना केवल इसी कारण संभव होता है कि या तो हमें प्रथम की ओर से किसी कारण घृणा और हेयता का भाव उत्पन्न हो जाय अथवा दूसरी के प्रति हमारे भीतर इतनी अधिक आसक्ति हो जाय कि वैसी दशा में हमें प्रथम बहुत कुछ गौण सी जंचने लग जाय और हमें इससे क्रमशः संबंध-विच्छेद कर देने तक का अवसर उपस्थित हो जाय। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराबाई का अपने स्वजनों की ओर से क्रमशः तटस्थ होते जाने तथा उसी अनुपात से अपने इष्टदेव गिरिधर गोपाल के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होते जाने तथा अंत में उसमें अपने को लीन तक कर देने का उदाहरण यहां पर उपयुक्त ठहराया जा सकता है :

किंतु जिस रहस्यवादी की विशेषताओं की हम अभी चर्चा करते आ रहे हैं उसके विषय में भी ऐसी धारणा बना लेना कदाचित् उचित नहीं कहा जा सकता और न केवल इसी आधार पर यह निर्णय ही किया जा सकता है कि एक आदर्श रहस्यवादी का व्यवहार किस प्रकार का होना

चाहिए। जब हम इस बात को प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं कि रहस्यवादी की अनुभूति का मूल आधार एवं सर्वस्व कोई विश्वात्मक सत्ता की एकता कही जाती है और उसका अभिप्राय सिवाय इसके कि उसकी भावना के अंतर्गत सभी अन्य सत्ताओं का समावेश आपसे आप हो जाता है, कोई अन्य हो ही नहीं सकता तो हम इस बात को किस प्रकार स्वीकार करें कि वैसे साधक को इस बात का कोई भान ही नहीं होगा और वह इस प्रकार ऐसी किसी चेष्टा की ओर कभी प्रवृत्त हो सकेगा जिसका लक्ष्य उसके नितांत भिन्न वा विपरीत तक ठहराया जा सकता हो। यदि हम कहें कि ऐसा कथन उन रहस्यवादियों के विषय में भी नहीं किया जा सकता जिन्हें हम प्रधानतः बहिर्मुखी वृत्ति वाले ठहरा चुके हैं तो यह भी ठीक होगा, क्योंकि बहिर्मुखी वृत्ति वालों के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि वे न केवल मानव जाति अथवा उसके किसी अंग विशेष के प्रति, प्रत्युत जड़ पदार्थों तक के संबंध में ऐसी धारणा करके चलते हैं कि वे सभी तत्त्वतः एक हैं तथा उन सबके भीतर कोई न कोई एक सत्ता माला की मणियों के भीतर अनुस्यूत धागे के रूप में जैसी विद्यमान है। इसके सिवाय, यदि कोरी धार्मिक दृष्टि से भी विचार किया जाय तो भी पता चल सकता है कि प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को इस बात में पूर्ण विश्वास का होना स्वाभाविक है कि सारा विश्व किसी एक परमेश्वर की रचना है और वही एक सभी का एकमात्र नियंता अथवा संचालक कहा जा सकता है तथा उसी एक को हम ईसाइयों की शब्दावली में, अपने वा वास्तविक पिता (Father) का भी पद प्रदान कर सकते हैं और इसके फलस्वरूप सारे विश्व के प्रति बंधुत्व का भाव भी रख सकते हैं। परंतु, यदि इस प्रकार की बातें साधारण दैनिक व्यवहार में कम दीख पड़ती हैं तो क्या, इसके कारण हमारा 'धर्म' शब्द के अर्थ का नितांत भिन्न ठहरा देना ही उचित होगा? और क्या इसी कारण उसकी कोई उपादेयता सिद्ध न की जा सकेगी? यदि कोई ईसाई राष्ट्र किसी अन्य वैसे राष्ट्र के प्रति शत्रुता का भाव रखता है अथवा वह उसका नाश करने तक पर उतारू हो जाया करता है तो वह केवल इसी लिए ऐसा नहीं करता कि वह अपने ईसाई धर्म द्वारा अनुप्राणित होकर ऐसा करने जा रहा है अथवा यदि, कोई धर्मांध मुस्लिम अपने आदर्शों का प्रचार अत्याचार के द्वारा भी सारे विश्व में करने का बीड़ा उठाता है तो वास्तव में, वह अपने धर्म के रहस्य का सच्चा जानकार ही हो सकता है। केवल कुछ भी विचार करने पर यह बात भलीभांति प्रकट हो जा सकती है कि न तो वैसे ईसाई राष्ट्र को ईश्वर के पितृत्व (Fatherhood of God) का वास्तविक बोध रहता है और न वैसे मुस्लिम प्रचारक को विश्व-बंधुत्व (Brotherhood of Man) ही सच्चा भान हुआ रहता है। एक के भीतर यदि अपने सत्ता-प्रेम की भावना काम करती हो सकती है तो दूसरे के हृदय को कदाचित्, वे कतिपय उदाहरण प्रभावित कर चुके हो सकते हैं जिन्हें उसके ऐतिहासिक परिस्थितियों को भलीभांति समझ न सकने तथा धार्मिक तथ्यों को उनके सच्चे रूपों में हृदयंगम न करने के कारण, अपने लिए उच्च आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया होगा। अतएव, ऐसे लोगों को हम पथभ्रष्ट तक ठहरा सकते हैं।

सच्चे रहस्यवादी का ध्यान तो सदा उस विश्वात्मक सत्ता तथा उसकी एकता की ओर ही केन्द्रित रह सकता है जो न केवल उसकी सारी प्रेरणाओं का मूल स्रोत कही जा सकती है, अपितु जो स्वभावतः सर्वाधिक व्यापक तत्त्व का प्रतिनिधित्व भी करती है और वह उसे न केवल जान ही भर ले सकता है, अपितु उसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव तक हो गया रहा करता है। इस कारण, यदि

उसकी अनुभूति सचमुच गहरी है और यदि वह सचमुच उसे उसके वास्तविक रूप में, यथासंभव समझ चुका है तथा अपनी ऐसी समझदारी के आधार पर उसके 'अनु' अर्थात् उसके सादृश्य में 'भव' अर्थात् आकर परिणत हो चुका है तो यह संभव नहीं कि उसे इतना भी बोध न हो सके कि हम इस प्रकार, न केवल उसके सान्निध्य में पहुंच चुके हैं, प्रत्युत उसके साथ तदाकारता तक भी ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी दशा में वह कोई अधिक तर्क-वितर्क भी नहीं कर सकता और न उसे ऐसा करने की कोई आवश्यकता ही पड़ सकती है। वह उसके प्रति अपना पूर्ण आत्मसमर्पण कर देने के कारण, अपनी कोई पृथक् सत्ता तक नहीं रख सकता। इसी कारण, जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, उसमें आमूल परिवर्त्तन आ जा सकता है और वह सर्वथा रूपांतरित होकर 'और का और' हो सकता है। परंतु इस दूसरे 'और' का रूप स्वभावतः उससे कभी भिन्न नहीं हो सकता जिसके प्रति अपने को समर्पित करके अथवा जिसमें अपने को सर्वथा लीन कर देने की दशा में उसने इसे ग्रहण किया है। इस आमूल परिवर्त्तन में उसका न केवल वैसी सत्ता में आचूड़ निमग्न हो जाना, प्रत्युत इसके अनुसार, उसका पूरा कायापलट तक हो जाना संभव है और इसी कारण, उसमें इसके परिणामस्वरूप, वे भावनाएं भी नहीं ठहर सकतीं जो उसमें कभी अपने को किसी सीमित खंड के रूप में मान लेने पर ही उठ सकती थीं।

परंतु इस प्रकार के आमूल परिवर्तन का आ जाना सदा उतना सरल नहीं रहा करता जितना यों समझ पड़ता है। इसमें अनेक प्रकार की बाधाएं आ पड़ सकती हैं और यदि कभी ऐसा संभव हो जा सके उस दशा में भी उनके कारण, इसे स्थायित्व नहीं मिल पाता। ऐसी बाधाओं में सबसे प्रबल कदाचित् मनुष्य की वह प्रवृत्ति हुआ करती है जिसके कारण वह अपनी किसी भी अनुभूति की अभिव्यक्ति करते समय, प्रायः प्रतीकों का सहारा लेने लगता है और इस प्रकार, विविध भ्रांतियों का जाल तैयार हो जाता है। मनुष्य के लिए यह बहुत स्वाभाविक है कि वह अपनी किसी अनुभूति पर विचार करते समय और विशेषकर उसे किसी अन्य के प्रति प्रकट करते समय, उसे कोई न कोई स्थूल रूप दे डाले और इस प्रकार, उसका कोई ऐसा भी चित्रण कर दे जो दूसरे के लिए भ्रामक सिद्ध हो जा सकती हो। हम इस बात को भलीभांति जानते हैं कि अपनी अनुभूति का यथातथ्य प्रकाशन कभी संभव नहीं हुआ करता और वह जितनी ही गंभीर होती है उतनी ही कठिनाई हमें, उसके लिए दूसरों के अनुभवगम्य स्वरूप प्रदान करते हुए पड़ सकती है। तदनुसार जब हम अपनी उस अनुभूति को, जिसकी चर्चा अभी कर आये हैं, कभी प्रकट करेंगे तो कोई ऐसा रूप ही देना चाहेंगे जिसे हमारी कोई न कोई इन्द्रिय पहचान सकती हो और इसी कारण, जिसकी कोई सुगम धारणा भी बना ली जा सकती हो। विश्वात्मक सत्ता की एकता की अनुभूति आनंदप्रद हुआ करती है जिस कारण हम चाहेंगे कि उस स्थिति को प्रकट करने के लिए उसके किसी स्थूल आधार की कल्पना करें तथा इसके साथ ही उसे कोई ऐसा काल्पनिक स्थान तक भी प्रदान कर दें, जहां वैसी अपूर्व सत्ता का अस्तित्व संभव हो सकता है। वैसी सत्ता को वर्णन-सुलभ व्यक्तित्व प्रदान करने की बात हम लोग इसके पहले ही कर चुके हैं। हमारे लिए उसके अनंतर, यह भी आवश्यक हो जाता है कि उसे स्वभावतः देशकालानुसार सीमित कर डालें और उसके संबंध में हम यहां तक भी कहने लग जायं कि न केवल वह अमुक आकार-प्रकार एवं रंगरूप का हो सकता है, अपितु अमुक स्थान विशेष में सदा पाया भी जा सकता है। ऐसा कर देना हमारे उस

दैनिक जीवन के अनुभवों पर आश्रित हुआ करता है जिनका सहारा लेना अत्यंत आवश्यक समझा जाता है।

रहस्यवादात्मक अभिव्यक्ति में की जाने वाली प्रतीक-योजना का वास्तविक आधार उस एकत्व की अनुभूति से भिन्न नहीं जिसका परिचय किसी रहस्यवादी को अपने दैनिक जीवन में आपसे आप मिल जाया करता है। उसे विश्व की सारी वस्तुओं में कुछ न कुछ अपूर्व साम्य दीख पड़ने लगता है और इस प्रकार कोई विषमता देखने में नहीं आती। तदनुसार उसके सामने भौतिक संसार एवं आध्यात्मिक जगत् के बीच कोई भेद नहीं रह जाता और यहां पर जो कुछ भी उसके दैनिक अनुभव में आता है वह उसे वहां का कोई न कोई संकेत सा देने लग जाता है। उसे यहां का तुच्छ से तुच्छ पदार्थ तक मूल्यवान प्रतीत होने लगता है और साधारण से साधारण सी घटना भी उसके लिए संदेश-वाहक का काम करती दीखती है। उदाहरण के लिए एक निरा शून्य उस परमतत्त्व अथवा एकमात्र सत्ता को सूचित करने लगता है जो सर्वथा अनिर्वचनीय है, एक नन्ही सी चुहिया अपने चंचल चित्त की ओर संकेत करने लगती है, साधारण पतझड़ के पत्तों का अनवरत गिरने लगना हमें अपने अंतिम दिनों का स्मरण दिलाने लग जाते हैं तथा किसी एक चरखे तक को देखते ही हमें उस कालचक्र का बोध हो जाता है जिसे हम शाश्वत नियम की संज्ञा दिया करते हैं। इस कारण, अपनी रहस्यानुभूति को प्रकट करते समय, इस प्रकार की बातों को काम में लाना हमारे लिए सरल समझ पड़ता है और हम इनके परिचित गुणों के सहारे उसका बोध किसी अन्य को भी करा देना चाहते हैं। वास्तव में अनेकत्व में एकत्व की भावना तथा प्रत्यक्ष वैषम्य के भीतर व्यापक साम्य का स्पष्ट अनुभव ही यहां पर विभिन्न प्रतीकों के प्रयोग की ओर प्रेरित किया करते हैं।

तदनुसार यदि हम वैसी सत्ता को कोई व्यक्तित्व प्रदान करने लगते हैं तो हम स्वभावतः उसे ऐसा कोई रूप देना चाहते हैं जो परमोत्कृष्ट हो, जो हमारे स्वीकृत आदर्शों की उच्चतम कोटि तक का प्रतिनिधित्व करता हो तथा इसीकारण, जिसमें सारे उत्तम गुणों का समावेश भी किया जा सकता हो। इसके सिवाय, ऐसे स्वरूप तथा ऐसे गुणों की धारणा करते समय हमें अपने समाज की मान्यताओं का अनुसरण भी करना पड़ सकता है और ऐसी मान्यताएं उस अपने समाज के विकासक्रम को भी सूचित कर सकती हैं। इस प्रसंग में हमारा ध्यान एक ऐसे प्रश्न की ओर भी जा सकता है कि यदि उक्त सत्ता विश्वात्मक हो तो फिर इस दृश्यमान जगत् का अस्तित्व किस प्रकार संभव हुआ होगा अथवा इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि ऐसे विश्व वा जगत् का कभी कोई आरंभ भी हुआ हो सकता है वा नहीं। ऐसे प्रश्नों का उठना हमारे दैनिक जीवन में भी संभव है और विभिन्न प्रचलित धर्मों की प्रारंभिक दशा तथा इनके क्रमिक विकास की कल्पना करने वाले लोगों ने इसके विषय में अनेक प्रकार के अनुमान भी किये हैं। परंतु, जिस रहस्यात्मक अनुभूति की हम इस समय चर्चा कर रहे हैं उसके प्रसंग में भी, ऐसे प्रश्नों का उठना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। दोनों प्रश्न स्वरूपतः एक ही प्रकार के होंगे, किंतु यह संभव है कि उनके उत्तरों में बहुत कुछ भिन्नता भी दीख पड़ने लगे। धार्मिक वा प्रचलित धर्मों की आरंभिक दशा में जो ऐसे प्रश्न उठे होंगे उनके उत्तर साधारणतः केवल ऐसे ही हो सकते हैं जिनके द्वारा साधारण दैनिक जीवन में पाये जाने वाले अनुभवों का सहारा लिया गया हो, किंतु

इस रहस्यात्मक अनुभूति की दशा में उत्पन्न प्रश्न का उत्तर इस प्रकार का भी हो सकता है जिसका अधिकांश मनोवैज्ञानिक तथ्यों से संबद्ध हो तथा जिसका वर्णन करते समय न केवल स्थूल पदार्थों, प्रत्युत सूक्ष्म अवधारणाओं (Concepts) से भी काम लिया गया हो। उदाहरण के लिए यदि भारतीय विचारधारा के इतिहास का अध्ययन करें तो पता चलता है कि हमारे औपनिषदिक साहित्य के अंतर्गत इन दोनों प्रकार की धारणाएं पायी जाती हैं और इनमें से प्रथम की चर्चा स्वभावतः उक्त धार्मिक प्रसंगों में ही की जाती है।

एक भारतीय लेखक ने ऐसे प्रश्नों तथा उत्तरों के विषय में अध्ययन करते समय अपना एक निष्कर्ष इस प्रकार निकाला है—"परमतत्त्व विषयक धारणा के विषय में जिस विकास का पता हमने अभी तक लगाया है और उसे किसी बिना व्यक्तित्व के जल, पृथ्वी, आदि भौतिक पदार्थों अथवा उनसे सूक्ष्मतर प्राण वा वायु, आकाश, असत्, सत्, अमृत और अंत में, ब्रह्म जैसे किसी सचेतन तत्त्व के रूप में, कल्पित किया है वह केवल कुछ ही ऐसी प्रवृत्तियों को सूचित करता है जो उन दिनों पायी जाती रही। कुछ दार्शनिकों ने ऐसी परमसत्ता को आत्मा अथवा पुरुष का भी रूप दे डाला था जैसा ऐसे अध्ययन द्वारा पता चल सकता है,"[1] और "इस परम सत्ता तथा जीवात्मा के पारस्परिक संबंध में जो प्रमुख औपनिषदिक विचार है वह यह है कि वह परमसत्ता इस जीवात्मा की चेतना के शरीरधारी पुरुष रूप में है और कुछ औपनिषदिक विचारों वाले इस धारणा द्वारा यहां तक प्रभावित जान पड़ते हैं कि उन्होंने उक्त ब्रह्म तथा इस पुरुष को एक और अभिन्न तक मान लिया है, यद्यपि ऐसा करते समय, उनमें से कुछ लोग इस प्रकार का दृढ़ अनुमान भी कर लेते हैं कि यह जीवात्मा के ठीक एक ही समान नहीं हुआ करती, प्रत्युत उसके सदृश बन जाने योग्य हो जाया करती है।"[2] इस प्रकार, यदि भारतीय विचारधारा ने कभी इस प्रकार का रूप धारण किया हो और उसका विकास भी इसी प्रकार होता गया हो तो हमारे उक्त कथन के अनुसार यह संभव है कि उस विश्वात्मक सत्ता का स्वरूप जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं क्रमशः तदनुरूप ही निर्धारित होता गया होगा। तदनुसार यदि हम उक्त औपनिषदिक युग से इधर आगे बढ़ते हैं और उस काल का प्रसंग आता है जिस समय 'श्रीमद्भगवद्गीता' की रचना हुई होगी तो हमें पता चलता है कि यद्यपि वह देवता यहां पर वस्तुतः अज्ञेय ठहराया गया जान पड़ता है किंतु इस जगत् की

---

१. "The development which we have so far traced in the view of Supreme Reality as some impersonal sensible element such as Water and Food (Earth) to more and more abstract and universal elements such as breath of air, space, non-Being, Being, the imperishable, till finally we reach the view of Brahma as a conscious principle represents only one among numerous lines of thought that come to development at this time. Some philosophers, it would appear, concieved the Supreme Being as self (Atman) or Spirit (Purusha)." —The Hindu Concepts of the Deity by Bharatan Kumarappa (London, 1934) p. 10.

2. Do, pp. 55-6.

दृष्टि से वह परमात्मा अथवा परमपुरुष के रूप में भी प्रकट हो जाता है और उसमें सभी अपूर्व शक्तियों एवं गुणों या ऐश्वर्यों का सन्निवेश हो जाता है, जितने भी पदार्थ वा जीवात्माएं वर्त्तमान हैं वे सभी उसके अंश बन जाती हैं तथा वही इन सभी के अस्तित्व का कारण बन कर इनमें व्याप्त रहा करता है, इनका नियमन करता है तथा इन्हें अपने आप में संहृत भी कर लिया करता है।

अंत में, पौराणिक युग तक आते आते, ऐसे देव का स्वरूप यहां पर इतना व्यापक और विशाल बन जाता है जिसके लिए कदाचित् किसी भी प्रमुख विशेषता की कल्पना करना शेष नहीं रह जाता और वह इस प्रकार पूर्ण भी बन जाता है। 'विष्णु पुराण' के अंतर्गत, इस पुरुष का वर्णन करते समय, इसका एक बहुत स्पष्ट चित्रण किया गया है जिसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार दी जा सकती है। "वह सभी प्राणियों के भीतर निवास करता है और ये सभी उसमें रहा करते हैं वह वासुदेव इन सभी का रचयिता एवं रक्षक है। वह यद्यपि सभी के साथ अभिन्न है, उसे इन सबसे पृथक् तथा इनकी अपूर्णताओं से रहित भी कह सकते हैं। वह सर्वव्यापक आत्मा है और इस विश्व के प्रत्येक अंतराल को उसके द्वारा पूरित समझना चाहिए और इसके सभी जीवों को उसके गुणों को अंशतः ग्रहण करने वाला भी मान लिया जा सकता है। वह महान् से महान् है, उसमें किसी भी प्रकार की अपूर्णता नहीं पायी जा सकती, सीमित एवं असीमित सभी का स्वामी है तथा सभी व्यक्तियों और पदार्थों के भीतर चाहे दृश्य बनकर वा अदृश्य होकर सर्वशक्तिमान्, सर्व-द्रष्टा, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी ईश्वर के रूप में विद्यमान रहा करता है"[१] जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उसके विषय में कुछ कहने की चेष्टा करने वाले उसे अपनी पहुंच के अनुसार विभिन्न रूप दे दिया करते हैं। परंतु ऐसा करते समय तथा ऐसे विवरणात्मक वर्णनों को स्पष्ट से स्पष्ट रूप देने के यत्न में, उन्हें बहुधा इस बात का ध्यान नहीं रहा करता कि जिस अपूर्व सत्ता की हम चर्चा करने जा रहे हैं वह वस्तुतः और मूलतः केवल भावात्मक मात्र ही हो सकती है। हमने उसे, अपने भीतर किसी ऐसे रूप में पाया है जो हमारे लिए पूर्णतः प्रत्यक्ष होता हुआ भी वर्णनातीत है। परंतु जब हम उसका वर्णन करने लगते हैं तो उसे न केवल एक असाधारण व्यक्तित्व प्रदान कर देते हैं, अपितु ऐसी व्यक्तित्व संपन्न सत्ता के लिए, किसी निवासस्थान तक की कल्पना कर लेते हैं। हम प्रायः इस प्रकार समझ लेते हैं कि वह कहीं किसी एक स्थान वा पद विशेष पर अवस्थित होकर ही सभी कुछ करता होगा, इसलिए यदि हम अपनी मूल धारणा का किसी प्रकार परित्याग कर देते हैं तो ऐसा सोचने तक भी लग जाते हैं कि किस प्रकार वहां तक पहुंचा जा सके।

अतएव, हम देखते हैं कि अपने भीतर अनुभूत सत्ता के वर्णन की कठिनाई भी हमें वैसी भूलों के करने की प्रेरणा दे सकती है जैसी साधारण प्रचलित धर्मों के अनुयायी कर दे सकते हैं और जिनके कारण, किन्हीं निर्धारित अथवा विहित नियमों के अनुसार आचरण करने वाले किसी रहस्य-वादी साधक के प्रति भ्रम उत्पन्न हो जाने पर हम उसकी मुख्य बातें समझ नहीं पा सकते हैं। रहस्य-वादियों के लिए उनके आचरण की दृष्टि से कोई निश्चित नियम नहीं ठहराया जा सकता। हम उनके लिए यह नहीं कह सकते कि वे किन्हीं अमुक धर्मों के अनुसार अमुक प्रकार का आचरण करने के लिए ही वाध्य हैं अथवा अमुक प्रकार के नित्य अथवा नैमित्तिक कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान न

---

१. ६-५।

कर पा सकने के कारण, हम उन्हें किसी प्रकार के पाप का भागी बतला सकते हैं। उनके लिए यह भी विहित नहीं कि उन्हें किस प्रकार अपनी अनुभूत सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले उक्त अपूर्व व्यक्ति की आराधना करनी चाहिए, किस प्रकार उसे प्रसन्न कर उससे अपना सान्निध्य प्रदान करने की प्रार्थना करनी चाहिए अथवा किस प्रकार उससे इस बात की आशा करनी चाहिए कि वह अंत में, हमें किसी प्रकार के मोक्ष, मुक्ति वा Salvation की दशा में ला दे सकता है। इसलिए स्वभावतः न तो उन्हें किसी षोडशोपचार की पूजन-पद्धति का निर्वाह करना रहता है और न उनके लिए यही आवश्यक होता है कि वे उसे रिझाने के उद्देश्य से विविध प्रकार का स्तुतिगान करें अथवा उसके कल्पित नामों का कीर्तन करते-करते अपने को आत्मविभोर कर दें। उसके ध्यान में मग्न बन कर अथवा उसके चिंतन में लीन रहकर नामस्मरण करने वा जपमाला फेरने की आवश्यकता का भी वे कभी अनुभव नहीं करते और न वे यही चाहते हैं कि इसके लिए किसी साधना-विशेष का अभ्यास करें। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे ऐसे विभिन्न साधनों के महत्त्व को अस्वीकार करते हैं अथवा वे इनसे कभी जानबूझकर भी काम लेना उचित समझते। सच तो यह है कि वे ऐसी बातों का उपयोग, अपनी प्रारंभिक साधनाओं की स्थिति में, प्रायः करते हुए भी दीख पड़ते हैं अथवा कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वे इनका अभ्यास, अपनी मनोवृत्ति को अधिक दृढ़ एवं प्रगाढ़ रूप देने के लिए भी कर दिया करते हैं। किंतु ऐसी दशा में भी, वे इन्हें केवल गौण साधनों का ही जैसा महत्त्व देते जान पड़ते हैं और वे इन्हें कभी कोई प्रधानता नहीं देते। उनकी वृत्ति सदा अपने चरम साध्य में रमी रहने के कारण, उनका कर्तव्य केवल इतना ही रह जाता है कि वे अपनी सारी चेष्टाएं यथासंभव उसके अनुकूल ही करते चले जायं और चाहे अपनी परिस्थिति में जो भी परिवर्तन होता रहे, न तो उसके विमुख हों और न उसके प्रतिकूल आचरण करें। वह साध्य उनके लिए एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर दिया करता है जो उन्हें निरंतर अनुप्राणित करता रहा करता है और जिसके साथ संलग्न बने रहने के कारण, वे सदा किसी घड़ी की उस सुई की भांति आचरण करते हैं जो उसकी धुरी के साथ लगी रहती है और जो बराबर गतिशील रहती हुई भी कभी उसके साथ वाले अपने स्थिर संबंध का परित्याग नहीं किया करती।

ऐसे चिरस्थायी संबंध की दृढ़ भावना ही वस्तुतः वह आधार-शिला है जिस पर किसी रहस्यवादी साधक के जीवनादर्श की मूल भित्ति का वास्तविक न्यास किया जा सकता है तथा जिसके आधार पर उसके जीवन का भव्य मंदिर भी निर्मित किया जा सकता है। यह भावना उसके जीवन के प्रत्येक क्षण विद्यमान रह सकती है जिस कारण उसकी प्रत्येक चेष्टा पर उसका चोखा रंग चढ़ जा सकता है और उसके साधारण से साधारण कार्यों के विषय में भी, हमें सदा ऐसा ही लगा करता है कि वे उससे अवश्य प्रभावित हुए होंगे। उनमें से प्रत्येक का रूप हमें किसी आदर्श विशेष के आधार पर निर्मित जान पड़ेगा, उसका एक दूसरे के साथ संबंध किसी नियम विशेष की ओर संकेत करता जान पड़ेगा और उन सभी के पूर्णतः सुव्यवस्थित न रहते हुए भी, हमें उनके भीतर किसी एक विचित्र सुसंगति के पाये जाने का ही बोध हो सकता है। उनकी अपनी रूपरेखा होगी, अपना आकार-प्रकार होगा तथा अपना वह वर्ण विशेष भी होगा जिसके द्वारा उनकी पहचान की जा सकती है। ऐसा प्रत्येक लक्षण उनकी विशेषताओं को स्पष्ट रूप में घोषित करता प्रतीत होगा और हमें इसके लिए बाध्य करेगा कि उसे न केवल हम अन्य व्यक्तियों के कार्यकलाप से सर्वथा भिन्न समझें,

अपितु उसे कोई ऐसा महत्त्व भी प्रदान करें जो विशिष्ट कहला सकता है। ऐसी भावना की दृढ़ता इस बात पर निर्भर हुआ करती है कि उसका निर्माण केवल किसी साधारण वृत्ति पर अवलंबित नहीं रहा करता। हमारे मन की साधारण वृत्तियां यों किसी कच्चे धागे की भांति, अत्यंत क्षीण और कोमल अथवा किसी प्रकाश किरण की भांति, सर्वथा वायवीय तक हुआ करती हैं और उनमें ऐसी तीव्रता एवं तरलता पायी जाती है जिनके कारण उनकी स्थिरता के विषय में कल्पना तक भी नहीं की जा सकती। परंतु जिस प्रकार किन्हीं एकाधिक कच्चे धागों को एक साथ बटकर कोई दृढ़तर एवं स्थूलतर सूत्र बनाया जा सकता है और उससे दृढ़ बंधन का भी काम लिया जा सकता है अथवा जिस प्रकार एकाधिक प्रकाश किरणों को आतशी शीशे में केन्द्रित कर उनमें एक साथ घोर दाहक शक्ति तक उपजायी जा सकती है और उसके द्वारा किसी पदार्थ को जलाया तक जा सकता है, उसी प्रकार ऐसी अनेक वृत्तियों के सिमट कर एक हो जाने पर इनका एक ऐसा कोई रूप हो जा सकता है जिसमें न तो पहले की जैसी क्षीणता रह जाती है और न वैसी तरलता ही दीख पड़ती है। ऐसे रूप में कोई एक अपूर्व सान्द्रता आ जाती है और कोई घनत्व तक भी आ जाता है जो न केवल किसी स्वच्छ जलराशि जैसा, प्रत्युत किसी निर्मल दर्पण के भी समान बिंब ग्रहण करने योग्य बन जाता है तथा उस पर पड़ने वाले वैसे प्रतिबिंब तक में चिरस्थायित्व का आ जाना असंभव नहीं हुआ करता। अतएव, यदि हम ऐसे प्रतिबिंब को 'भावना' का नाम देने लगते हैं तो उसके साथ 'दृढ़' का विशेषण जोड़ना भी हमें अनुपयुक्त नहीं जान पड़ता।

परंतु हमने यहां पर विभिन्न चित्तवृत्तियों के एकीकरण का दृष्टांत देकर अपने विषय को एक ऐसे ढंग से समझाने का यत्न किया है जिसका रहस्यानुभूति की दशा में पाया जाना, कदाचित् कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम इसके बहुत पहले ही कह आये हैं कि इस विलक्षण अनुभव का स्वरूप किसी साधारण ज्ञान का जैसा नहीं हुआ करता और इसीकारण, इसका मूलाधार हमारी चेतना पर आश्रित न रहकर वैसी किसी मूल ज्ञान शक्ति पर आधारित रहा करता है जिसे हमने प्रातिभ ज्ञान की शक्ति कहा था। ऐसी शक्ति की एक विशेषता है कि यह किसी ज्ञेय पदार्थ के अंतस्तल तक आपसे आप प्रवेश कर जाती है और इसीकारण, इसके लिए कभी किन्हीं साधारण वृत्तियों का सहयोग प्राप्त करने का उन्हें अपना साधन बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। फलत: ऐसी शक्ति में न तो वैसी कोई क्षीणता वा तरलता ही कल्पित की जा सकती है जैसी उक्त वृत्तियों की विशेषता है और न इसके संबंध में हम यही कह सकते हैं कि यह कभी अपने विभिन्न अवयवों में विभाजित भी हो सकती है। हम तो इसके विषय में यहां तक संकेत भी कर चुके हैं कि ऐसी शक्ति के पीछे न केवल हमारी सारी ज्ञानेन्द्रियों का बल रहा करता है, अपितु इसकी अनुपम दशा में, अपनी उन सारी शक्तियों का भी समावेश रहा करता है जिन्हें सामूहिक रूप में पूर्ण 'व्यक्तित्व' का नाम दिया करते हैं। अतएव, हम कह सकते हैं कि ऐसी अनुभूति की स्थिति में आकर हमें उस अखंड और अविकल सत्ता का बोध हो जाता है जिसे हमने विश्वात्मक बतलाया था और हम किसी न किसी रूप में, उसकी किसी अपूर्व एकता तक की भावना आपसे आप कर लिया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि हमारे भीतर पूर्ण सुस्थिरता आ जाती है और हमारी वृत्तिजन्य चंचलता नष्ट हो जाया करती है। संत कबीर ने इसी को, 'जिसे ढूंढ़ता हुआ इधर उधर भटक रहा था उसे पाकर शांत हो गया', की स्थिति के रूप में निर्दिष्ट किया है।

यदि हम सत कबीर के द्वारा दिये गए ऐसी शांत स्थिति के परिचय पर विचार करें तो हमें उसका बहुत कुछ स्पष्ट भान हो जा सकता है। इस कारण, हम यहां पर थोड़ी सी चर्चा उनके वैसे वर्णनों के आधार पर भी कर देना चाहते हैं। उनका कहना है कि "तब मैंने अपने आपमें ही अपना स्वरूप देख लिया और अपने आप वह मुझे सूझ गया। जिसे हम आप अपना कहा सुना करते हैं अर्थात् जो हमारा वास्तविक 'आपा' कहा जा सकता है वह मेरी समझ में आ गया। आत्म-परिचय की समाधि लग गई और 'आप' अपने भीतर प्रवेश कर गया और इस प्रकार विचरते अर्थात् स्वानुभूति की स्थिति का उपलब्ध करते ही अपना आना जाना सदा के लिए बंद हो गया।"[1] फिर यहीं पर उन्होंने यह भी कहा है कि, "देखते ही देखते अपना शरीर कांच से कंचन बन गया और अपना मन मान गया।" इसके सिवाय, उन्होंने इस प्रकार पायी गई शांति तथा इसके सुखद परिणाम का भी वर्णन इस प्रकार किया है, उनका कहना है–"अब मैंने मान लिया कि मेरी सब कुशलता सिद्ध हो गई, मुझे शांति मिल गई तथा इसके फलस्वरूप मैंने 'गोविंद' को भी जान लिया। शरीर में जो अनेक प्रकार बेचैनी हो रही थी वह आप से आप जाती रही वह मेरे लिए 'सहज समाधि' के सुख में परिवर्तित हो गई। जो मुझे 'यम' के रूप में दीख रहा था वह मेरे समक्ष 'राम' के रूप में प्रत्यक्ष हो गया, सारे दुख दूर हो गए और मुझे विश्राम प्राप्त हो गया। अब तो जो मेरे शत्रु थे वे ही मुझे अपने मित्र से लग रहे हैं और जिन्हें मैं 'सापत' अर्थात् प्रतिकूल वर्गीय पराया समझ रहा था वे अपने 'साजन' वा परम आत्मीय बन गए।. . .अब मेरा मन पूर्ववत् चंचल न बना रह कर 'सनातन' अर्थात् शाश्वत की स्थिति में आ गया और मुझे इस बात का बोध हो गया कि मैं जीते जी मर चुका हूं अर्थात् मुझे अपने जीवन-काल में ही वह दशा प्राप्त हो गई है जो उसका परित्याग करके सर्वथा नवीन बन जाने पर ही संभव थी।"[2]

जहां तक ऐसी स्थिति के भीतर मन के अपने वश में रहने अथवा स्वतंत्र बन जाने की बात है इसका निर्णय भी आपसे आप, हो जाता है। संत कबीर ने ऐसी दशा में अपने मन को संबोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—"अरे मन, अब तू जहां भी चाहे भ्रमण करता रहे, मुझे तेरे ऊपर अब कोई अंकुश लगाना अर्थात् तेरी स्वतंत्रता में बाधा डालना शेष नहीं रह गया। अब तो तू जहां भी जायगा तुझे राम ही राम का अनुभव होगा, क्योंकि अब तूने 'हरिपद' को प्राप्त कर उसमें विश्राम

---

१. "आपै मैं तब आपा निरष्या, अपन पै आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपना, अपन पै आपा बूझ्या॥
अपने परचे तारी लागी, अपन पै आप समाना।
कहै कबीर जे आप विचारै, मिटि गया आवन जाना॥"—क० ग्रं० पद ६ पृ० ९०।

२. अब मैं सकल कुसल करि मांनां, स्वांति भई तब गोब्यंद जाना॥टेक॥
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि॥
जमथैं उलटि भया है राम, दुख बिसर्‌या सुख कीया विश्राम।
वैरी उलटि भये हैं मीता, साषत उलटि सजन भये चीता॥
. . अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जाना जीवत मूवा॥"—वही पद १५ (पृ० ९३)।

ले लिया है। जब तक तेरा शरीर 'रंजित' अर्थात् विभिन्न कारणों द्वारा प्रभावित रहा और तेरी अवस्था विकृत बन जाते रहने की थी तब तक तुझे उसकी एकता में द्वैत का भास हो जाया करता था, किंतु जब मुझे बोध हो गया तब तो तू जहां भी दृष्टि डालेगा वहां तुझे केवल वही एकमात्र दीख पड़ेगा। कबीर कहते हैं कि निरंतर लीन बने रहने के कारण, अपने शरीर की सुधि जाती रही और मैं सुख के समुद्र को प्राप्त कर चुका।"[१] संत कबीर को ऐसी स्थिति में कुछ इस प्रकार का भान होता जान पड़ता है जैसे उन्होंने किसी के साथ अपना प्रेम-संबंध भी स्थापित कर लिया हो, उसके प्रति सर्वथा अनुरक्त बन कर उन्होंने अपने को उसमें लीन कर दिया है तथा अपने अभीष्ट की उपलब्धि हो जाने से उनकी गति विचित्र सी हो गई है। तदनुसार उनका अन्यत्र यह भी कहना है, "प्रेम की अकथ कहानी कही नहीं जा सकती और उसकी स्थिति में आकर शर्करा खाकर आनंदित हो उठने वाले किसी गूंगे व्यक्ति की भांति बैठे बैठे मुस्काते रहने के अतिरिक्त और कुछ किया नहीं जा सकता।"[२]

परंतु फिर भी हम देखते हैं कि संत कबीर की यह स्थिति ठीक वैसे गूंगे की भांति बैठकर केवल मुसकराते रहने भर की जैसी ही नहीं जान पड़ती। जब उनमें पूर्ण कायापलट हो गया प्रतीत होता है और उन्हें ऐसा बोध होने लगता है कि सिवाय उस उपलब्ध सत्ता मात्र के अपनी अनुभूति के अंतर्गत अन्य कोई बात आने की नहीं और इस प्रकार सभी कुछ उस 'राम' का स्वरूप धारण कर चुका है तो उन्हें अपनी प्रवृत्ति आप से आप सेवा करने की भी ओर उन्मुख हो गई जान पड़ने लगती है। उनका एक स्थल पर कहना है, "वह अविगत और अपरंपार ब्रह्म 'ज्ञान रूप' है और वही सर्वत्र गोचर भी हो रहा है। मैंने तो बहुत विचार कर के देखा, फिर भी मुझे उसका सा और कुछ भी दीख न पड़ा, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मुझे उसका स्पष्ट वर्णन कर देने में कोई कठिनाई ही क्यों पड़ सकती थी? वास्तव में जो त्रिभुवन पति है और वैसे विलक्षण स्वरूप वाला है उसके रूप का कोई साम्य ही हम किस प्रकार दे सकते हैं? अतएव, ऐसा कुछ करने की अपेक्षा मेरे लिए यही अपना कर्तव्य है कि मैं सेवक भाव में आकर उसकी सेवा में निरत हो जाऊं और उसकी सेवा बहुत प्रकार से करूं अर्थात् जिस किसी रूप में उसकी सेवा की जा सके उससे कभी विरत न होऊं। मेरी वह सेवा इस प्रकार की हो जिसके बिना किये मुझसे रहा न जा सके और उसे करने में यदि कभी किसी प्रकार के दुख का अनुभव हो उसको भी मैं उसके सेवा में सुख के रूप में मान

---

१. "रे मन जाहि जहां तोहि भावै, अब न कोई तेरे अंकुस लावै ॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रामा, हरि पद चीन्हि कियौ बिश्रामा ॥
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ग्यांन जहां तहां सोई ॥
लीन निरंतर बपु बिसराया, कहै कबीर सुखसागर पाया ॥"
—क० ग्रं० पद १४९, पृ० १३६।

तुलनीय यत्र यत्र मनो याति, ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा जायते कुत्र, सर्वं शिवमयं जगत् ॥

२. "अकथ कहाणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥" आदि वही पद १५६, पृ० १३९।

लिया करूं। वास्तव में जो सुख सेवा करने में प्राप्त होता है उसके सामने दुख एवं सुख सभी आपसे आप भूल जाया करते हैं। सेवक वैसी सेवा में अपने को भूल सा जाता है, उसे कोई पंथ कुपंथ नहीं जान पड़ता और वह ऐसी ही सेवा करता है जो उसके सर्वथा अनुकूल पड़ती है।"[1]

संत कबीर ने ऐसी 'सेवा' का विस्तृत उल्लेख कदाचित् कहीं भी नहीं किया है और न इसका कोई स्पष्ट विवरण ही दिया है जिस कारण, इसके स्वरूप को निर्धारित करना तथा इसका यथेष्ट परिचय देना हमारे लिए संभव नहीं जान पड़ता। परंतु जहां तक उनकी किसी सगुण इष्टदेव के प्रति प्रदर्शित बाह्योपचारमयी उपासना की उपेक्षा तथा इसके साथ ही, उनकी ऐसी वृत्ति से भी पता चल सकता है जिसके अनुसार सारा दृश्यमान जगत् केवल अपने राम के स्वरूप में ही भासित होता है। उनकी यह 'सेवा' कदाचित् उस कार्य-पद्धति से भिन्न नहीं ठहरायी जा सकती जिसके अंतर्गत विश्वप्रेम एवं विश्वकल्याण का पूरा कार्यक्रम भी आ जाता है। यह स्वभावतः केवल वहीं तक सीमित नहीं रह सकती जहां तक उसका संबंध किसी ध्यान मात्र अथवा नामस्मरण आदि के साथ हो सकता है। अतएव, यदि हम इसकी चर्चा अपने रहस्यवाद वाले प्रसंग में करना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि इसका क्षेत्र एक ही साथ उन दोनों प्रकार की वृत्तियों की सीमा तक व्याप्त हो सकता है जिसे हमने 'अंतर्मुखी' एवं 'बहिर्मुखी' जैसे दो विशेषण दिये हैं तथा जिनके लक्ष्य को हमने क्रमशः विश्वात्मक सत्ता की एकता विषयक 'आंतरिक अनुभूति' एवं 'सारे विश्व में अंतर्भूत किसी एक ही सत्ता के प्रत्यक्ष अनुभव' के रूपों में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया था। तदनुसार वैसी सत्ता की 'सेवा' एवं विश्व सेवा को हम एक दूसरी का पर्याय तक ठहरा सकते हैं तथा इस दूसरी की अर्थबोधकता का विवेचन करते समय हम 'सेवा' शब्द का अभिप्राय, स्वभावतः यहां तक भी समझ सकते हैं कि वह विश्वकल्याण की भावना से किये गए, किसी भी कार्य की ओर संकेत कर सकता है। निष्कर्ष यह कि वह वस्तुतः किसी एक ही मूलवृत्ति के दो ऐसे भिन्न-भिन्न पक्षों को सूचित कर सकता है जिनके स्वरूप के विषय में तात्त्विक विचार कर लेने पर हमें वैसा कोई अंतर नहीं लक्षित होता तथा जिनके अनुसार कबीर के ही शब्दों में, संक्षेपतः "स्वामी अर्थात् परमात्मा की ओर से सच्चे रहो और सभी दूसरों के प्रति सद्व्यवहार करो"[2] मात्र किसी महत्त्व-पूर्ण सूत्र के रूप में दिया जा सकता है।

---

१. "अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठांय।
बहु विचार करि देखिया, कोई न सारिख रांम॥
जो त्रिभवनपति ओहै ऐसा, ताका रूप कहौं धौं कैसा।
सेवगजन सेवा कै ताईं, बहुत भांति, करि सेवि गोसांई।
तैसी सेवा चाहौ नाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई॥
सेव करंता जो दुख भाई, सो दुख सुख वरि गिनहु सवाई।
सेव करंता सो सुख पावा, तिन्य सुख दुख दोऊ बिसरावा॥
सेवग सेव भुलानिया, पंथ कुपंथ न जान।
सेवग सो सेवा करै, जिहि सेवा भल मान॥"—वही, रमैणी, पृ० २४१।

२. "सांई सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ।"—क० ग्रं० (सा० ११, पृ० ४६)।

(३) रहस्यवाद का मूल्यांकन

संत कबीर द्वारा किये गए इस कथन से प्रकट होता है कि परमात्मतत्त्व एवं जगत्-तत्त्व इन दोनों को एक साथ दृष्टि में रखते हुए चलना ही उनके अनुसार परम श्रेय को प्राप्त करने का वास्तविक साधन हो सकता है तथा इसीलिए हम इसको ही मानव जीवन का उच्चतम आदर्श भी कह सकते हैं। केवल परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख रहना और इस प्रकार, जगत्तत्त्व के प्रति उपेक्षा का प्रकट करना जिस प्रकार हमें किसी एक ही ओर ले जाकर हमारे जीवन को एक पक्षीय और एकांगी बना सकता है, उसी प्रकार इसके विपरीत बर्त्ताव करने पर भी कहा जा सकता है। प्रचलित धर्मों का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि उनके अनुयायियों में से जिस किसी ने अपने लिए कोरे 'धार्मिक' जीवन को अपना लक्ष्य बनाया और अपने किसी इष्टदेव की प्राप्ति के फेर में पड़कर वैसी मनोवृत्ति हो जाने के कारण जो अपने समाज के प्रति उदासीन बन गया उसने अपने जीवन में संतुलन लाने की कभी चेष्टा नहीं की और न वह कभी इसमें पूर्ण सफल ही हो सका। इसी प्रकार जिस किसी ने धार्मिक आदर्शों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हुए आगे बढ़ने की चेष्टा की और जिसने अपने सामने कोई निश्चित आदर्श न रहने के कारण, मनमाने ढंग से ही कार्य किया उसके जीवन में कभी अनुशासन का भाव न आ सका और न इसी कारण, वह सुव्यवस्था ही आ सकी जिसके द्वारा उसे पूर्ण और संतुलित कहा जा सकता है। वास्तव में, मानव जीवन को संतुलित और सुव्यवस्थित रूप देने के लिए इन दोनों का ही समुचित उपयोग किया जा सकता है और इन दोनों की ओर निरंतर दृष्टि रखने पर ही हमें यह कहने का अवसर भी मिल सकता है कि हमने आदर्श जीवन-यापन करने का यत्न किया। रहस्यानुभूति पर आश्रित आचरण में इस बात की महत्ता पर सबसे अधिक बल दिया गया प्रतीत होता है जिसका प्रमुख कारण यह है कि उसका वास्तविक आधार ही उस विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता की अनुभूति है जिसके अंतर्गत उक्त दोनों तत्त्वों का समावेश आपसे आप हो जाया करता है तथा जिसके फलस्वरूप किसी प्रकार के परस्पर विरोधी तत्त्वों के संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

मनुष्य अपना जन्म लेने के अनंतर एक परस्थिति विशेष में रहने लगना आरंभ करता है और एक वातावरण विशेष द्वारा प्रभावित होता है। उसे अपने परिवार में भरण-पोषण प्राप्त होता है और प्रायः शिक्षा भी मिला करती है तथा जिस प्रकार का उसका समाज रहा करता है उसी के अनुरूप उसे अपने विकास के लिए अवसर भी प्राप्त होता रहता हो। उसके दैनिक अनुभव उसकी मनोवृत्ति के निर्माण में सहायक होते हैं और इस प्रकार वह ऐसी स्थिति में आ जा सकता है जिसमें उसका स्वरूप किसी विशेष प्रकार का हो जाय। यदि उसका अपना समाज ठेठ सांसारिक हुआ और उसके यहां केवल आर्थिक एवं राजनीतिक प्रश्नों को हल करने का ही अवसर उपस्थित होता आया जिस कारण अन्य प्रकार के आदर्शों को कोई महत्त्व नहीं मिल सका तो यह संभव है कि उसका भी जीवन वैसे सांचे में ही ढल जा सके और इस प्रकार उसमें अधिक से अधिक सफलता प्राप्त कर लेने पर भी वह सुख अथवा शांति उपलब्ध न हो सके जिसकी संभावना केवल किसी आध्यात्मिक जीवन में ही हो सकती है। परंतु इसी प्रकार, यदि ऐसे व्यक्ति का समाज ठेठ धार्मिक हुआ और उसके यहां केवल इष्टदेव की प्राप्ति एवं परलोकपरक आदर्श जीवन-संबंधी प्रश्नों पर ही विचार होता आया और इस कारण, महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक बातों के प्रति भी समुचित ध्यान न

दिया जा सके तो यह अधिक संभव है कि उसके जीवन का निर्माण भी वैसा ही रंग पकड़ ले और वह उस प्रकार अधिक से अधिक सफल होकर भी, वस्तुतः असफल ही बना रह जाय। परंतु, यदि ऐसे किसी व्यक्ति को कभी यह बोध हो जा सके कि अपने सामने का कोरा सांसारिक वा धार्मिक आदर्श नितांत अधूरा और एकांगी है और वह केवल किसी एक ही पक्ष पर अधिक बल देने के कारण हमें भ्रांतबुद्धि एवं उन्मार्गी तक बना दे सकता है तो वह अपने को संभाल भी ले सकता है। अबतक उठाये गए विविध प्रश्नों तथा उन पर किये गए विभिन्न पर्यवेक्षणों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रकार वस्तुस्थिति को परखने तथा तदनुसार अपने जीवन में आवश्यक मोड़ ला देने का अवसर हमें रहस्यवाद प्रदान कर सकता है।

परंतु रहस्यवाद की सहायता द्वारा हम केवल अपने व्यक्तिगत जीवन में ही सुधार नहीं ला सकते और न इसकी उपयोगिता को हम केवल व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही सीमित रख सकते हैं जैसा कभी-कभी भ्रम हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि जैसा हम इसके पहले भी कह आये हैं, इसका स्वरूप वस्तुतः उस धर्म का ही जैसा हो जिसे व्यक्तिगत मानने की परंपरा चली आती है। लोग बहुधा कह दिया करते हैं कि धर्म से वास्तविक अभिप्राय किसी व्यक्ति के लिए परमात्मा के साथ अपने संबंध का स्थापित कर लेना रहा करता है वह उसके साथ अपना निकटतम संबंध जोड़ता हुआ, उसके सान्निध्य में बना रहना चाहता है और इसी को अपना परम ध्येय मानता है तथा इस प्रकार की धारणा बना लेने के कारण, वह अपने जीवन को इसी के अनुरूप बना देने की चेष्टा भी किया करता है। ऐसे लोग इसी कारण, उसमें स्वार्थांधता का भी दोष ढूंढ़ा करते हैं और उसे कभी-कभी असामाजिक तक भी ठहरा देना चाहते हैं। परंतु वे प्रायः इस बात को भूल जाया करते हैं कि इतना होते हुए भी ऐसे धर्म की प्रवृत्ति कभी-कभी सामाजिक संगठन की भी हो जाया करती हैं और यद्यपि इसके कारण अधिकतर वर्ग विशेष की भावना को भी प्रश्रय मिलता है, इसके कारण कम से कम इसकी वैसी व्यक्तिपरकता नहीं रह पाती और इसे हम उस दोष से मुक्त कर इसमें बहुत कुछ उदारता का भाव भी ला दे सकते हैं। धर्म के भीतर ऐसी प्रवृत्ति उस समय काम करने लगती है जब हम या तो व्यक्तिगत रूप में उसके फल का आस्वादन कर उसे दूसरों के लिए भी वितरित करना चाहते हैं अथवा जब कभी हम किसी एक समान भावना के प्रचार द्वारा दूसरों को भी प्रभावित करउन सभी का 'वर्ग विशेष' बना देना चाहते हैं। यह दूसरी दृष्टि प्रायः स्वार्थ परक हो जा सकती है, किंतु यह अनिवार्य नहीं है। जिस आदर्श को अपनाकर कोई एक वर्ग विशेष अपना संगठन किये रहता है उसे वह दूसरों के लिए भी सच्चे हृदय से हितकर मान ले सकता है और यह स्वाभाविक है कि वह उन्हें इस ओर आमंत्रित करे। परंतु, जहां तक रहस्यवादात्मक धार्मिक वृत्ति का प्रश्न है, इसकी दशा में वैसी भावनाओं के उठने की कभी आवश्यकता ही नहीं रहा करती। रहस्यवाद की मनोवृत्ति किसी एक ऐसी अनुपम एकता को अपना आधार मानकर उन्मुख होती है जिसकी भावना के दृढ़ बने रहते कभी किसी एक व्यक्ति का दूसरे से तत्त्वतः पृथक् वा विजातीय होना कभी कल्पित ही नहीं किया जा सकता और न इसी कारण, कभी किसी वर्ग विशेष को प्रश्रय मिल सकता है।

रहस्यवाद के महत्त्व का मूल्यांकन हम एक अन्य प्रकार से भी कर सकते हैं। इसका अनुभूति के प्रभाव में न केवल किसी व्यक्ति की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्त्तन आ जाता है जिस कारण,

वह अपने जीवन के वातावरण की नितांत नूतन व्याख्या करने लगता है और तदनुसार उसके जीवन में काया पलट हो जाने के कारण, उसका कोई 'पुनर्जन्म' तक भी घटित हो जाया करता है, अपितु उसकी ऐसी अनुभूति का स्वरूप भी ऐसा विलक्षण रंग पकड़ लेता है जिसकी उसे संभवतः पहले कभी कोई कल्पना भी नहीं हो सकती थी। इस अनुभूति की दशा में किसी प्रकार की विषमता का बोध नहीं हुआ करता और "इसके प्रातिभ ज्ञान की स्थिति में, परस्पर विपरीत ध्रुवों तक का एकत्र मिलन संभव हो जा सकता है। जिन बातों को सदा के लिए पृथक्-पृथक् समझा जा सकता था वे उसी प्रकार शाश्वत रूप में एक साथ संपृक्त बन जाती हैं और अभौतिक, अगोचर एवं सर्वातिशायी स्वर्ग, सर्वथा स्थूल एवं दुखी भौतिक जगत् के स्तर तक पहुंचकर उसका ही मानो कोई विकसित रूप ग्रहण कर लिया करता है। ये दोनों एक दूसरे के साथ एक और अभिन्न से प्रतीत होने लगते हैं जिस दसा में ईश्वर ही जगत् रूप और उसके परे भी रहा करता है। वही अश्रेय होता है और वही श्रेय भी रहा करता है जो उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर उसे आत्मसात् कर लिया करता है और इसकी धारणा बद्धमूल हो जाती है। प्राचीन धर्मों में ईश्वर की परिभाषा बहुधा भय वा आश्चर्य के आधार पर दी जाया करती थी जो किसी विजातीय वा विरोधी वातावरण के कारण उत्पन्न हो जाता था, किंतु रहस्यवादी प्रातिभ ज्ञान उसी ईश्वर की परिभाषा इस प्रकार देना चाहता है जिसमें सर्वग्राही प्रेम, श्रद्धा एवं शंका के भाव एक साथ मिश्रित हों तथा जिसके प्रभाव में आकर सभी कुछ अपना निज का बन जाय और प्रत्येक आदर्श भी तदनुकूल हो जाय। जहां पर किसी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकृति नहीं दी जाती और इस कारण जहां उसके संपर्क में आने का कोई प्रश्न ही नहीं रहा करता, वहां पर भी मनुष्य के सीमित एवं असीमित सभी तत्त्व इस प्रकार एक और अभिन्न बन जाते हैं कि सारे विरोधों और विषमताओं को उसके प्रभाव में आकर, एक समान रूप धारण करना पड़ जाता है और वे सभी केवल उसी के शाश्वत अस्तित्व की घोषणा करने लग जाते हैं।"[१]

रहस्यवाद की ये विशेषताएं उसकी अनुभूति के अत्यंत व्यापक एवं विश्वजनीन बन जाने के कारण, आ गई दीख पड़ती हैं। हम इस बात की ओर इसके पहले ही संकेत कर चुके हैं कि रहस्यानुभूति का विषय सदा रहस्यात्मक हुआ करता है। उसकी ईदृक्ता वा इयत्ता के विषय में कोई निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता और जो कुछ अपने अनुभवों में आया करता है वह अपनी विलक्षणता के कारण स्पष्ट रूप में बतलाया नहीं जा पाता तथा उसके वर्णन की शैली तक स्वभावतः इस प्रकार की हो जाया करती है जो सदा असाधारण ही कही जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि अनुभूति विषय को सर्वांतर्यामी कहते हैं तो इसके साथ ही उसे सर्वातिशायी भी कह डालते हैं और यदि उसे दूर से दूर कहते हैं तो निकट से निकट भी ठहराते हैं और उसके निश्चल से बने रहने पर भी अन्य सभी दौड़ने वालों से आगे बढ़ जाने वाला कह सकते हैं। उसके लिए किसी देश-काल की परिधि में लाना संभव नहीं जान पड़ता और न उसका अनुभव ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हो पाता है, किंतु फिर भी उसे कोई व्यक्तित्व प्रदान कर दिया जाता है और उसे अपनी प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष अनुभूति

---

१. Dr. Radhakamal Mukerjee : The Theory and Art of Mysticism (Bombay, 1960) p. 281.

में आ गया सा भी जान लिया जाता है। इस प्रकार की सारी उक्तिया का प्रकट करना केवल इसी कारण संभव होता है कि उसके विषय में किसी सापेक्ष्य भाव की गुंजायश ही नहीं रहा करती और इसीलिए, यदि हम उसे निरपेक्ष और निर्विशेष कह डालते हैं उस दशा में भी, हम कुछ अनुचित नहीं किया करते। जैसा प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक असंग ने कहा है, "यहां पर, परमतत्त्व से पृथक् दृश्यमान जगत् की सत्ता के न होने से पंडितों के अनुसार, अज्ञान का वर्णन भी बुद्धि के रूप में ही होगा।"[१] जेन बौद्ध धर्म के किसी स्तुतिगान में भी आता है, "सत्य का जानकार कभी प्रमाद का निराकरण नहीं करता और अज्ञेय का वास्तविक रूप कभी बुद्ध-स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता" जिसकी व्याख्या करते हुए इस प्रकार कथन किया गया है "सत्य के सर्वप्रथम निरूपण की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो सब कहीं, यहां तक कि प्रमाद में भी विद्यमान है, अतएव जो कोई प्रमाद का निराकरण करना चाहता है वह वस्तुतः सत्य का ही त्याग करता है।"[२] इस प्रकार, विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता में सभी कुछ अंतर्हित रहने से उसकी अनुभूति की दृष्टि भी सदा सर्वव्यापक ही बन जा सकती है। तदनुसार ऐसी दृष्टि के दृढ़मूल बने रहते, कभी किसी वास्तविक भेद वा खंड की कल्पना करना भी निराधार हो सकता है और इसके परिणामस्वरूप कभी ऐसी भावना को प्रश्रय ही नहीं दिया जा सकता जिसके कारण पारस्परिक विद्वेष वा शत्रुत्व का भाव उत्पन्न हो सके। इसके सिवाय, वैसी एकता के भाव के काम करते रहने पर यह भी संभव हो सकता है कि किसी सामाजिक विश्रृंखलता को सुधार कर उसकी जगह समुचित और सुव्यवस्थित संगठन किया जा सके तथा एक ही सदुद्देश्य द्वारा सभी को अनुप्राणित कर सबके लिए एक उच्चादर्श का आलोक प्रतिष्ठित किया जा सके और उसके अनुसार निश्चित जीवन को सुखमय एवं शांतिमय बनाया जा सके। जिस प्रकार किसी एक ही वृक्ष की अनेक शाखाएं हो सकती हैं और उनमें से प्रत्येक में भिन्न-भिन्न उपशाखाएं तथा क्षुद्र टहनियां तक हो सकती हैं और जिस प्रकार इनमें से अनेक सीधी-टेढ़ी, मोटी-पतली अथवा सुंदर एवं कुरूप हो सकती हैं, किंतु इन सभी का मूल एक ही होने के कारण, इन सबका मूल जीवन-स्रोत भी एक हो सकता है तथा एक ही आकाश की ओर से सभी को प्रकाश एवं वायु की सहायता मिल सकती है और जिस प्रकार एक ही मूल होने के कारण, इन सब किसी में एक ही रूप और नाम के फल-फूल एवं पत्र तक लग सकते हैं और ऐसा कहलाने में उनकी पृथक् दीख पड़ने वाली सत्ता कभी बाधा नहीं डाल सकती, ठीक यही बात हम अपने मानव-समाज अथवा अंत में, सारे प्राणि-वर्ग के विषय में भी कह सकते हैं और वहां पर भी ऐसी भावना से काम ले सकते हैं। ऐसी भावना में पूरी दृढ़ता के आ जाने तथा तदनुसार अपने जीवन-दर्शन के निर्धारित हो जाने पर कभी अन्यथा परिणाम की आशंका नहीं रह जाती और यदि ऐसे भावसंपन्न व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त हो और वे प्रभावशाली बन सकें तो समाज में दुख और अशांति न रहने पावे।

परंतु, इस प्रकार का कथन करते समय हमें उसे 'यदि' शब्द से आरंभ करना पड़ता है और अपने शब्दों के प्रयोग में ऐसी सावधानी भी बर्तनी पड़ती है जिससे किसी प्रकार की अत्युक्ति न आ जाय और न कोई प्रमाद एवं भूल की जा सके। इसका कारण यह है कि रहस्यवाद की उक्त

१-२. Quoted in The Theory and Art of Mysticism, p. 281.

अनुभूति अथवा तदनुसार आचरण का जो प्रश्न है वह इतना महत्त्वपूर्ण होने पर भी कभी हमें आकृष्ट नहीं किया करता। इसे हम दूर से ही जान लेने की चेष्टा करते हैं और न जाने इसकी विलक्षण रहस्यमयता के कारण अथवा इसका स्वरूप यथेष्ट रूप में निर्धारित न कर सकने की विवशता से हम इसके प्रति शंकाभाव से देखकर ही चुपचाप मौन धारण कर लिया करते हैं। इसकी उदारता एवं गंभीरता हमारे लिए इसके दो प्रबल दोषों के रूप में जान पड़ने लगती हैं और हम समझ लेते हैं कि यह हमारे वश की बात नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि रहस्यवाद के विषय में इन दो के अतिरिक्त, स्वभावतः कतिपय अन्य दोषों की भी उद्भावना की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की भावना को दृढ़ता और चिरस्थायित्व प्रदान करना, यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन है। कम से कम इसकी अनुभूति के विषय की सूक्ष्मता अथवा वायवीयता ही एक ऐसी त्रुटि है जिसके रहते यह सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं हो सकती और यदि उसे दूर करने के लिए उपयुक्त प्रतीकों का सहारा लिया जाय तो वे भी कभी न कभी भ्रमात्मक हो जा सकते हैं। इसके सिवाय, रहस्यवाद के विषय में प्रायः यह भी कहा जाता है कि इसका संबंध सदा किसी न किसी धर्म विशेष के साथ भी जुड़ता आया है जिस कारण, इसमें वह व्यापकता और उदारता नहीं दीख पड़ती रही है जो इसकी विशेषताएं कही जा सकती हैं। अतएव, इन जैसे कई अन्य कारणों से भी पूर्ण, शिक्षित एवं सुसंस्कृत कहे जाने वाले लोगों तक ने इसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है।

परंतु, यदि हम इसके उक्त दोषों पर कुछ और विचार करें और उनके विषय में किये गए कथनों की समीक्षा कर सकें तो हमें यही प्रतीत होगा कि उनमें कोई वैसी बात नहीं जो समझ नहीं ली जा सकती। रहस्यवाद की अनुभूति में आने वाले विषय को हम साधारणतः केवल इसीलिए अपनी ओर से अपरिचित कह दिया करते हैं कि यह सदा महान् पुरुषों के लिए ही अनुभवगम्य कहलाता आया है। परंतु हमने कदाचित् इस बात की ओर कभी ध्यान न दिया होगा कि ऐसा करना सरासर निराधार है। जैसा हम अभी आगे चलकर भी देखेंगे हमें अपना इतिहास बतलाता है कि ऐसी अनुभूति बहुधा उन व्यक्तियों के भीतर भी हो सकी है जो न केवल अत्यंत निम्न श्रेणी के समझे जाते रहे हैं, प्रत्युत जिन्हें साधारण अक्षरों तक का ज्ञान नहीं रहा है। ऐसे लोगों को न केवल इस प्रकार की अनुभूति हुई, प्रत्युत वह उनके जीवन भर उन्हें पथ-प्रदर्शन करती रही है जिस बात को इसके चिरस्थायित्व के उदाहरण में भी दिया जा सकता है। हमें तो यह देखकर और भी पूरा समाधान होने लगता है कि जितने बड़े-बड़े पंडित और दार्शनिक होते गए हैं उनमें से बहुत कम ही ऐसे दीख पड़ते हैं जिन्हें ऐसी वास्तविक अनुभूति की उपलब्धि हुई हो तथा जिन्हें अपनी पंडिताई ने ही इधर बाधा भी न पहुंचायी हो। इसके सिवाय जहां तक इसके किसी न किसी धर्म के साथ संपृक्त होते आने की बात है, इस प्रश्न का समाधान भी इस प्रकार किया जा सकता है कि उधर बहुत दिनों तक ऐसे धर्मों का ही बोल बाला रहता आया है जिनमें सांप्रदायिक वर्गवाद की भावना काम करती रहा करती थी तथा जिनके साथ किसी न किसी प्रकार का संबंध स्थापित कर लेना उन दिनों सर्व साधारण से लेकर उच्च कोटि के लोगों तक के लिए भी स्वाभाविक बन गया था। किंतु हम जब इसके साथ यह भी देखते हैं कि जब कभी किसी व्यक्ति को रहस्यानुभूति हो गई तो वह प्रायः सदा अपने तथाकथित धर्म-विशेष से पृथक् वर्ग का समझा जाने लगा और उसे उस वर्ग

के अन्य अनुयायियों ने तिरस्कृत तक भी कर दिया तो हमारे कथन की ही पुष्टि हो जाती है। ऐसा व्यक्ति, चाहे वह पहले हिंदू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म अथवा अन्य किसी ऐसे धार्मिक वर्ग का भी सदस्य क्यों न रहा हो वह अपनी रहस्यानुभूति के कारण, उसकी ओर से प्रायः विधर्मी ही कहा जाता हुआ सुना गया है। अतएव, किसी रहस्यवादी की ऐसी धार्मिकता उसके विश्वात्मक सत्ता की एकता को केवल किसी परमात्मतत्त्व के रूप विशेष में ग्रहण करने मात्र से ही उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती, प्रत्युत इसके लिए उसके उन विहित कर्मों, वाह्योपचारों तथा उन धर्मांधता एवं रूढ़िप्रियता-सूचक अन्य अनावश्यक कृत्यों पर भी विचार किया जा सकता है जो उसके हृदय में संकीर्णता और अनुदारता के भाव उत्पन्न कर सकते हैं और जिनके कारण ही सदा धार्मिक संप्रदायों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित होती आई है। परंतु जहां तक हमारे अभी तक प्रस्तुत किये गए निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है, वैसी सत्ता के लिए किसी परमात्मतत्त्व की वैसी देवपरक भावनाओं को प्रश्रय देना अनिवार्य नहीं कहला सकता और न यही आवश्यक हो सकता है कि उसे हठात् कोई न कोई व्यक्तित्व भी प्रदान कर दिया जाय।

इस प्रकार के कथन की पुष्टि अनेकानेक उदाहरणों द्वारा की जा सकती है कि जिस धर्म एवं संस्कार का संबंध, अपने वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार पहले से रहता आया है उसके अनुरूप ही किसी रहस्यवादी ने उक्त विश्वात्मक एकता को कोई न कोई व्यक्तित्व अथवा देवत्व तक प्रदान किया है तथा उसके प्रति उसने अपने व्यक्तिगत भाव भी प्रदर्शित किये हैं। परंतु, फिर भी इसके कारण, उसके प्रति बन गई उसकी दृढ़ भावना में किसी प्रकार का अंतर नहीं आने पाया है। फलतः हमने यह भी देखा है और इसके संबंध में आगे कुछ और भी अधिक विस्तार के साथ कहा जायगा कि उस भावना के एक समान दृढ़ बने रहने तथा उसके विशुद्ध होने की दशा में, किन्हीं भिन्न-भिन्न धार्मिक वर्गों में सम्मिलित किये जानेवाले रहस्यवादियों में भी, कोई मूल भावात्मक भिन्नता नहीं आने पायी है तथा उनकी पृथक्-पृथक् अनुभूतियों तक को सदा एक समान ही ठहराया गया है। यदि हम इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि ऐसे रहस्यवादियों की अनुभूति कभी, वस्तुतः वर्गाश्रित नहीं हो पायी है और न उनके पृथक्-पृथक् वर्त्तमान होने के कारण हम उसे केवल व्यक्तिगत ही कह सकते हैं। हम उसे किसी ऐसी संकीर्ण परिधि के भीतर नहीं ला सकते और न इसी कारण, उसे किसी प्रकार सीमित ही मान ले सकते हैं। यदि ऐसी अनुभूति को सचमुच विश्वात्मक सत्ता से संबद्ध कहा जा सकता है और यदि यह उसकी अपूर्व एकता को सचमुच अपने में समाहित करती है तो यह भी उसी प्रकार असीम, अनंत, आदि जैसे विशेषणों के लिए सर्वथा उपयुक्त समझी जा सकेगी और वैसी दशा में, हमें ऐसा तथ्य स्वीकार कर लेने में कभी हिचक भी नहीं हो सकती कि इसके द्वारा न केवल मानव-समाज, अपितु विश्व तक का कल्याण भी संभव है। उस दशा में इस पर व्यक्तिपरक होने का आरोप नहीं किया जा सकता, प्रत्युत इसे स्वभावतः विश्वपरक तक भी ठहराया जा सकता है।

५. रहस्यवाद की सार्वभौमिकता : उसके विभिन्न रूपों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका भविष्य

(१) रहस्यवाद की सार्वभौमिकता और इसमें 'पूर्व' तथा 'पश्चिम'

रहस्यवाद की चर्चा करते हुए जो अभी तक इस संबंध में कहा जा चुका है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि यह विषय अत्यंत व्यापक है। रहस्यानुभूति की दशा में अनुभूत होने वाले तत्व को हमने 'विश्वात्मक सत्ता की एकता' का नाम दिया है जिसकी भावना के अंतर्गत सभी कुछ आ जा सकता है। इसी प्रकार, हमने ऐसी स्थिति के मूल आधार स्वरूप साधन की ओर संकेत करते हुए भी बतलाया है कि हम उस अनुभवेन्द्रिय को उन सारी ज्ञानेन्द्रियों के मूल स्रोत 'प्रातिभ ज्ञान की शक्ति' का नाम दे सकते हैं जिनके द्वारा हमें अपने जीवन-चक्र को गति देने में सदा सहायता मिला करती है। इसके सिवाय हमने रहस्यवाद के आधार पर निर्मित मनोवृत्ति और तदनुसार किये जाने वाले सामाजिक व्यवहार की सदाशयता पर भी कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की है और उसके आगे मेरी धार्मिक सांप्रदायिकता द्वारा अनुप्राणित धर्मों को निम्नतर और संकीर्ण तक ठहराया है। इस विषय की चर्चा करते समय हमने यह भी देखा है कि रहस्यानुभूति का प्रभाव सदा पूर्ण और चिरस्थायी बना रहना चाहता है तथा इसकी व्यापकता इतनी अधिक हो जा सकती है कि वह किसी रहस्यवादी के जीवन में आमूल परिवर्त्तन ला देवे। हमने इसीलिए रहस्यवाद के प्रभाव द्वारा परिवर्तित हो गए जीवन को 'पुनर्जन्म' के नितांत नवीन जीवन तक का रूप दिया है और हमने इसके आधार पर यहां तक अनुमान किया है कि रहस्यवादी आदर्श के आलोक में सारे मानव समाज तथा पूरे विश्व तक का कल्याण हो जाना संभव है। अतएव, इस प्रकार किये गए विवेचन के ही द्वारा हमने रहस्यवाद को एक आदर्श जीवन-दर्शन ठहराने का भी यत्न किया है। फलतः रहस्यवाद के आदर्श, उसके उद्देश्य तथा उनके द्वारा अनुप्राणित विचारधारा का सार्वभौम बन जाना स्वयंसिद्ध समझा जा सकता है और साधारणतः इस प्रकार के संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि इसके संबंध में कभी किसी वर्गीकरण का भी प्रयास किया जाता होगा। यों देखने पर हमें ऐसा भी लग सकता है कि रहस्यवाद का जैसा रूप कभी किसी प्राचीन काल में रहा होगा ठीक वही इस आधुनिक युग में भी हो सकता है तथा इसमें कोई ऐसा परिवर्त्तन भी न आ सका होगा जो देशभेद एवं कालभेद के कारण संभव हो सकता है।

परंतु रहस्यवाद के संबंध में विचार करने वाले पंडितों ने इस बात को सदा स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इसकी रहस्यानुभूति को अवश्य बहुत व्यापक ठहराया है तथा इसके विषय को भी अधिकतर वैसा ही स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की है जिसे विश्वात्मक सत्ता की एकता के अनुरूप कह सकते हैं तथा जिसके अंतर्गत सभी कुछ का समावेश भी किया जा सकता है। परंतु ऐसा करते समय उनका ध्यान प्रायः ऐसी अनेक बातों की ओर भी बट जाया करता रहा है जिनका प्रकृत

विषय के साथ कोई मौलिक संबंध नहीं है। इसी कारण, जिन्हें अनावश्यक महत्त्व प्रदान कर देने की दशा में, हम इसके वास्तविक स्वरूप का उपयुक्त परिचय देने में कभी समर्थ भी नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए इस विषय पर लिखने वाले प्रायः सभी लेखकों ने अनुभूत सता की एकता को केवल 'परमात्मतत्त्व' के ही रूप में स्वीकार करना चाहा है और उसका वर्णन स्वभावतः इस प्रकार किया है जिससे इसे किसी धर्म वा संप्रदाय विशेष तक की कोटि में ला देना संभव हो जाता है। ऐसा भ्रम उत्पन्न होने का कारण अधिकतर वे उपलब्ध विवरण हो सकते हैं जो ईसाई, सूफ़ी तथा हिंदू रहस्यवादी साधकों के विभिन्न अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत किये गए हैं तथा जिनमें दीख पड़ने वाली वर्णन शैली, सामान्यतः भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। इसी प्रकार इस विषय के विशेषज्ञ समझे जाने वाले लोगों तक ने इसकी अनुभूति की चर्चा करते समय प्रायः उसे एक ऐसा रूप दे दिया है जिसे हम मूल प्रातिभ ज्ञान पर आश्रित न कह कर उसे केवल किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय विशेष द्वारा ही उत्पन्न ठहरा सकते हैं। जब ऐसी अनुभूति के विषय को किसी अलौकिक दृश्य (Vision) का नाम दिया जाता है तो हमें उसे अपनी देखने वाली ज्ञानेन्द्रिय का विषय मानने का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार, जब हम उसे किसी अनाहत नाद (अनहद नाद) का नाम देते देखते हैं तो हमें उसको श्रवण योग्य ठहराने की प्रवृति आपसे आप हो जाया करती है जिस कारण, हमारी दृष्टि उस मूल अनुभवेन्द्रिय पर नहीं जा पाती जिसे प्रातिभ ज्ञान का आधार कहा गया था। इसके सिवाय, जहां तक विभिन्न रहस्यवादियों की अपनी-अपनी वर्णन-शैली तथा उसके अपने-अपने सामाजिक वातावरणों के भीतर व्यवहार करने का प्रश्न है, इसमें पायी जाने वाली बाह्य विभिन्नता के कारण भी कभी-कभी भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है।

रूडाल्फ ओटो (Rudolph Otto) नामक एक जर्मन विद्वान् लेखक ने अपनी एक पुस्तक में भारतीय दार्शनिक स्वामी शंकराचार्य की विचारधारा के साथ अपने यहां के प्रसिद्ध ईसाई रहस्यवादी एखार्ट द्वारा प्रकट किये गए दार्शनिक विचारों की तुलना विस्तार के साथ की है और इन दोनों की विशेषताओं के आधार पर किये जा सकने वाले निर्णय के अनुसार उसके रहस्यवाद के दो भिन्न-भिन्न रूपों को क्रमशः 'पूर्वी' एवं 'पश्चिमी' रहस्यवाद के नाम दिये हैं। इस लेखक का उद्देश्य वस्तुतः किसी ऐसे भेद को सहसा स्वीकार कर लेने का ही नहीं जान पड़ता, किंतु जिस प्रकार इसके अपने तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत किया है तथा जिस विश्लेषणात्मक शैली को इसने वहां प्रश्रय दिया है उससे इस प्रश्न पर बहुत प्रकाश पड़ता है। अतएव, हम यहां पर उसके कथन का कुछ सारांश दे देना चाहते हैं जिससे पता चल सके कि उक्त परिणाम किस प्रकार निकाले जा सकते हैं। रूडाल्फ ओटो ने स्वामी शंकराचार्य के 'ब्रह्म' का स्वरूप सत्, चित् एवं 'चैतन्य' बतलाया है जो यहां संभवतः 'आनंद' का पर्याय शब्द मान लिया गया होगा और उसे तत्त्वतः जड़ से सर्वथा भिन्न अथवा विपरीत तक ठहराते हुए भी उसे एखार्ट ने उस परमेश्वर को असमान कहा है जिसके लिए उस ईसाई रहस्यवादी (Living God) अर्थात् 'सजीव परमेश्वर' जैसी संज्ञा दी है। ओटो के अनुसार "एखार्ट का यह परमेश्वर मूलतः कोई ऐसी प्रकाशमयी प्राण-धारा है जिसका शाश्वत स्वरूप शंकर के स्थायी 'सत्' के समान ठहराया नहीं जा सकता। वह किसी अपार शक्ति-संपन्न अंतःप्रगति के मूल उत्स एवं परिणति इन दोनों को एक साथ ही सूचित करती है और इसका संबंध उस सतत प्रवाहशील जीवन के चिरस्थायी नियम से है जिसे एखार्ट ने

'स्वतः चलायमान चक्र' अथवा 'स्वतः प्रवाहित स्रोत' का रूपक प्रदान किया है जो शंकर वाले 'अद्वैत' के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते।"[१] ओटो का कथन है कि शंकर के अनुसार 'अव्यक्त और अद्वैत मूल सत्ता से व्यक्त ब्रह्म एवं जगत्' का स्फुरित होना 'अविद्या के कारण' प्रतीत होता है, जहां एखार्ट की 'चक्रमयी ईश्वरीय सत्ता' स्वयं संचालित होकर आगे बढ़ती है और फिर अपने स्वरूप में आ जाती है। उसका भीतर से बाहर की ओर संचालित होना और फिर बाहर से भीतर की ओर आना, यहां पर विशेष महत्त्व रखता है और ईश्वर को एक महान् शक्तिशाली सक्रिय तत्त्व का स्वरूप दे देता है। उसका किसी विचित्र सरिता की भांति अपने ही भीतर प्रवाहित होना भी किसी 'अज्ञान' के कारण नहीं है, प्रत्युत यह अपना एक पृथक् अर्थ सूचित करता है। वह कहीं पर आदि स्रोतों के रूप में विद्यमान नहीं है और न उसे सारी सत्ता का मूल ही कह सकते हैं। वह वस्तुतः वहां पर है जहां सारी सत्ता का अंत है और इसीकारण, जहां पर यह नष्ट न होकर अपने पूर्णत्व पर आ जाया करती है। इसके सिवाय एखार्ट का परमेश्वर कोई सक्रिय सजीव सत्ता है जिसका अभिप्राय यह है कि वह सतत गतिशील और प्राणात्मक तत्त्व है। उसकी प्रवृत्ति संभवतः उस अश्व की जैसी है जो मुक्त होकर हरे-भरे चरागाह में चौकड़ी भरे और ठीक अपने स्वभाव के अनुसार मनमानी दौड़ लगाये। निष्कर्ष यह कि एखार्ट की दृष्टि में, ईश्वरीय चिरस्थायित्व तथा ईश्वरीय चिरप्रगति में कोई भेद नहीं और वे दोनों ही, एक प्रकार से एकरूप तथा अभिन्न हैं। बाहर की ओर गतिशील होना स्वयं उसके भीतर बने रहने के रूप में भी कहा जा सकता है। "यह वैसे किसी भगवान् की 'लीला' मात्र नहीं है, प्रत्युत यह उसके अपने ही भीतर आवर्त्तनशील बना रहना है जिससे उस सत्ता के आंतरिक स्वरूप की समृद्धता प्रकट होती है।"[२] अतएव, हमारे जीवन की पवित्रता इस बात में निहित है कि हम ईश्वर को जानें और अपनी आत्मा को भी पहचान लें और तब हम प्रत्येक पदार्थ को ईश्वर में ही वर्त्तमान मानते हुए उसके प्रति प्रेमभाव रखें और फिर, अंत में, अपने आप को ईश्वरार्पित भी कर दें। इस प्रकार ईश्वर हमारे लिए अपने जीवनादर्श का एक सुंदर उपयुक्त माध्यम एवं साधन बन जाता है और हम उससे किसी निपुण शिल्पी के जैसा अपना काम ले लिया करते हैं। ओटो ने इसी कारण, इस प्रकार की भावना पर आश्रित रहस्यवाद को 'गतिशील रहस्यवाद' (Dynamic Mysticism) का नाम दिया है और इसी के आधार पर शंकर एवं एखार्ट दोनों के आचारपरक सिद्धांतों की भी तुलना करते हुए उन्हें भिन्न-भिन्न ठहराया है।

---

१. "It is both the principle and conclusion of a mighty inward movement of an eternal process of ever-flowing life. 'A wheel rolling out of itself,' 'a stream flowing into itself' : these are metaphors which would be quite impossible for the One of Shankar."—Mysticism East and West by Rudolph Otto (New York, 1957) p. 169.

२. "This is no mere Lila, no playing of the Godhead, as in India, but the divine revolving within itself, in which it displays the richness of its own inner life." Do. p. 175.

परंतु स्वामी शंकराचार्य एवं मिस्टर एखार्ट की रहस्यवादी विचारधाराओं की इस प्रकार तुलना करते समय इस जर्मन विद्वान् ने कदाचित् कुछ बातों की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है जिस कारण, हमें ऐसा लगता है कि उसका निष्कर्ष सर्वथा युक्ति-संगत न होगा। यदि हम सर्व-प्रथम, इस बात पर विचार करते हैं कि शंकर की विचारधारा मूलतः उन औपनिषदिक सिद्धांतों पर आधारित है जिनकी चर्चा हम इसके पहले कर आये हैं और जिनके अनुसार हम विश्वात्मक सत्ता के स्वरूप को किसी भी एक विशिष्ट रूप में वर्णित करना कभी संभव नहीं समझते तथा जिस कारण ही उसे विलक्षण एवं रहस्यात्मक तक भी कह चुके हैं तो हमें अपने इस मत का समर्थन भी मिल जाता है। हम जब देखते हैं कि वैसी सत्ता के लिए औपनिषदिक साहित्य के अंतर्गत 'निरपेक्ष' और 'निर्विशेष' जैसे विशेषणों का दिया जाना भी अनुपयुक्त नहीं ठहराया जा सकता और इस बात के अनेक स्पष्ट उदाहरण शंकर के प्रसिद्ध भाष्यों तक में भी मिल सकते हैं उस दशा में ओटो का यह सहसा मान लेना कि उन्होंने उसके कहीं पर 'गतिहीन' होने का भी अनुमान किया होगा उचित नहीं जान पड़ता। जहां तक हमें पता है शंकर ने जिस अव्यक्त सत्ता को, 'सत्' के रूप में स्वीकार करके, उसे अद्वैत भी कहा है वह अनिवार्यतः 'गतिहीन' अथवा 'गतिशील' कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के लक्षण उसमें तभी पाये जा सकते हैं जब हम उसे व्यक्त की दशा में देखते हैं। इस दूसरी दशा में उसे रखकर, यदि हम उसके विषय में विचार करने लगते हैं तो न केवल गति की, अपितु अन्य अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न दृष्टियों के अनुसार भी हमें उसे देखने का अवसर मिल जाता है जिस स्थिति में हम उसे 'अव्यक्त' मान ही नहीं सकते। अतएव, यदि विशुद्ध दार्शनिक चिंतन का ही सहारा लिया जाय और अपने व्यावहारिक अनुभवों को दृष्टि में न रखें तो हम शंकर की अव्यक्त सत्ता के लिए वस्तुतः केवल 'अव्यक्त' जैसा विशेषण दे देना मात्र भी पर्याप्त नहीं समझ सकते, क्योंकि इस प्रकार भी हम कोई निर्णय ही कर लिया करते हैं जो किसी रहस्यानुभूति की दशा में कर पाना कभी संभव नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, जहाँ तक 'व्यक्त' सत्ता की बात है, स्वामी शंकराचार्य ने उसके संबंध में कदाचित् कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि वह कभी गतिहीन भी हो सकता है। उनकी धारणा के अनुसार तो हमें ऐसा ही जान पड़ता है कि उन्होंने भी इसमें लगभग उसी प्रकार 'गतिशीलता' एवं 'गतिहीनता' का एक साथ पाया जाना माना है जिस प्रकार एखार्ट समझते हुए प्रतीत होते हैं और इन दोनों के वर्णनों में जो कुछ अंतर लक्षित होता है वह उन दोनों के संस्कारों एवं साधनों के अनुसार स्वभावतः आ गई विशिष्ट शैलियों के कारण है। एखार्ट का यह कथन कि परमेश्वर अपने भीतर से बाहर की ओर स्वभावतः गतिशील है अथवा यह कि अंत में, वह फिर अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है शंकर का किसी के भी अव्यक्त के लिए संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसकी अव्यक्तता ही कहीं नहीं रह जाती। यह उसके व्यक्त होने की दशा में ही संभव है और इसमें कोई आपत्ति भी नहीं है। ओटो ने अपनी पुस्तक के आरंभ में, इन दोनों के दार्शनिक विचारों में अपूर्व समानता प्रदर्शित करने का स्वयं भी यत्न किया है और उसने यहां तक भी कहा है कि जिस ज्ञान के आधार पर ये दोनों लगभग एक ही परिणाम तक पहुंचते दीख पड़ते हैं उसे हम वस्तुतः Metaphysical अर्थात् विशुद्ध दार्शनिक भी नहीं कह सकते तथा उसने इसे intuitional अर्थात् प्रातिभ ज्ञान का नाम दिया है जिसके लिए साधारण ज्ञानेन्द्रियां आवश्यक नहीं और न जिसे सिद्ध करने

के लिए किसी तर्क-पद्धति का ही प्रयोग अनिवार्य है। इस लेखक के अनुसार जिस प्रकार शंकर के यहां ब्रह्म एवं ईश्वर में अंतर है उसी प्रकार एखार्ट के यहां भी Godhead एवं God में अंतर है। परंतु जब 'ब्रह्म' एवं Godhead की तुलना का प्रश्न आता है तो यह लेखक 'ब्रह्म' के लिए उन विशेषणों के भी प्रयोग करने लगता है जो अव्यक्त और निरपेक्ष सत्ता के लिए कल्पित मात्र कर दिये गए हैं और जो केवल उसकी व्यक्त दशा में ही संभव हो सकते हैं।

ओटो ने शंकर एवं एखार्ट की तुलना करते समय उनके आचार-दर्शन की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करनेका यत्न किया है। इस लेखक का इस संबंध में कहना है कि यद्यपि इन दोनों का लक्ष्य मुक्ति अथवा Salvation का ही जान पड़ता है, किंतु इनके ऐसे मोक्ष की भावना ठीक एक ही प्रकार की नहीं जान पड़ती और जहां शंकर निराशावादी जान पड़ते हैं, वहां एखार्ट आशावादी बन जाते हैं। ओटो के अनुसार "संसार एवं 'ब्रह्मनिर्वाण' दोनों एक दूसरे के नितांत भिन्न हैं। 'निर्वाण' वह दशा है जिसे विशुद्ध परे की बात कहा जा सकता है, 'संसार' को कभी निर्वाण का नाम नहीं दे सकते और इसी कारण, ब्रह्म के लिए मुक्ति केवल मरणोपरांत ही प्राप्त की जा सकती है[१]" परंतु "एखार्ट के लिए संसार पहले से ही निर्वाणरूप है और दोनों एक हो सकते हैं, उसे संसार के भीतर रहते हुए भी एक ऐसे आनंद का अनुभव होता है जो ईश्वरीय प्रकाश द्वारा आलोकित है[२]।" और इस लाभ द्वारा यह लेखक शंकर का संभवतः वंचित रहना भी अनुमान करता है। परंतु हमें ऐसा लगता है कि ओटो ने कदाचित् यहां पर भी उन सभी बातों पर पूरा विचार नहीं किया है जिनको ध्यान में लाया जा सकता था। सबसे पहली बात तो यह है कि मोक्ष वा मुक्ति की स्थिति का आनंद किसी व्यक्ति विशेष को ही मिल सकता है और यह तभी तक संभव भी कहला सकता है जब तक उसे इसकी अनुभूतियों के लिए अपनी जीवितावस्था का अवसर मिले। मृत्यु के अनंतर ऐसा संभव नहीं है। इसके सिवाय शंकर ने जिस सम्यग्दर्शन अर्थात् पूर्णदृष्टि का मुक्तावस्था में हो जाना बतलाया है वह भी केवल उसी दशा में संभव है जिसमें वैसी शक्ति वाले महापुरुष को जीवितावस्था में कोई अनुभव करने का अवसर मिल सकता है। इस दशा को वेदांत दर्शन के अनुसार, 'जीवन्मुक्ति' का नाम दिया गया भी मिलता है और इसे जीवनादर्श की कोटि में रखा जाता है। जहां तक 'संसार' शब्द के अर्थ और तदनुसार मनुष्य के बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में आते रहने की बात है, हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि ऐसे किसी आवागमन अथवा कर्मजन्य जीवन-मरण के भय से हम कभी अपने जीवन को दुःखमय ही स्वीकार कर लें। जो लोग इस बात में विश्वास नहीं करते और केवल इतना ही जानते हैं कि हमारा जीवन सीमित

---

१. Samsara and Brahma-nirvan stand in sharp contrast to one another. Nirvan is a condition purely of the beyond : samsar could never be nirvan, and therefore salvation in Brhman is for Sankara realized only after death. Mysticism East and West, p. 229.

२. For him samsara is already nirvan, and both become one; he finds his joy in the world, radiant with God's light. Mysticism East and West, p. 229.

है वे भी कभी केवल इसी कारण, चिंतित नहीं बन जाते। यदि उन्हें अपने जीवन को सुखमय बनाने की कला ज्ञात है तो वे इसके लिए यत्न करते हैं और उसमें प्रायः सफल भी हो जाया करते हैं। इसी प्रकार जिन लोगों को जीवन-मरण के चक्कर अथवा आवागमन में विश्वास है उसके लिए भी मार्ग प्रशस्त है कि वे कर्म संबंधी कठोर नियमों को दृष्टि में रखते हुए सदा कार्यशील बने रहें और कभी ऐसा न हो जाने दें जिसके कारण उनके चक्कर काटने की अवधि में विस्तार हो। इसके सिवाय निर्वाण की दशा एवं संसार के विषय में हम एक को दूसरे के नितांत विपरीत जाता हुआ भी नहीं कह सकते, क्योंकि जैसा हम इसके पहले देख चुके हैं हमारी अपनी मनोवृत्ति जब तक संसार के प्रति पूर्णतः आसक्त बनी रहती है हम वस्तुस्थिति को यथावत् समझ नहीं पाते और अज्ञानवश और का और व्यवहार करते हुए प्रायः विभिन्न दुखों के शिकार बन जाया करते हैं। किंतु, यदि हमारी उसी मनोवृत्ति में उपयुक्त परिवर्तन आ जाता है और हमें सम्यग्दर्शन जैसे साधन की सहायता मिल जाती है तो हम उसी संसार को जिसके कारण हमें अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव हो रहा था विभिन्न रूप में देखने लग जाते हैं और हमें अपने जीवन में आनंद तक उपलब्ध होने लगता है, इसी कारण किसी ने कहा भी है कि "मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः"[1]। परंतु ओटो ने इन बातों पर विचार नहीं किया है और इस लेखक ने कदाचित्, भ्रमवश न केवल इनकी उपेक्षा कर दी है, प्रत्युत इनके प्रभाव में शंकर के साथ-साथ अनेक अन्य पूर्वदेशीय रहस्यवादियों को निराशावादी तथा व्यक्तिवादी तक मान लेने की चेष्टा कर दी है।

आचार-दर्शन की दृष्टि से शंकर एवं एखार्ट की तुलना करते समय ओटो ने कतिपय अन्य प्रश्नों पर भी विचार किया है जिनमें से कम से कम दो एक औरों के विषय में भी यहां चर्चा कर लेना हमें आवश्यक प्रतीत होता हैं। इस लेखक का कहना है कि शंकर का रहस्यवाद भी, वास्तव में, जीवात्मा का ही रहस्यवाद है, किंतु हम उसे वैसा नहीं कह सकते जैसा एखार्ट के रहस्य-वाद के संबंध में कह सकते हैं। इसका कारण यह बतलाया गया है कि शंकर की जीवात्मा का स्वरूप ही उससे भिन्न है जो ईसाई एखार्ट को मान्य है अर्थात् जिसमें जीवन तथा उसकी गंभीरता की निःसीम समृद्धता पायी जाती है, जिसमें पूर्ण अनुभूति एवं उपलब्धि के तत्त्व विद्यमान है तथा जिसके अनुसार हम जीवात्मा को बाइबिल की शब्दावली में Inward man अथवा 'अंतःपुरुष' की संज्ञा भी दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसी जीवात्मा का रूप धार्मिक अंतःकरण का हुआ करता है जो सदाचार (Righteousness) के लिए सदा आर्त्त बनी रहा करती है तथा जिसके लिए ईश्वर के प्रति सदाचार का भाव बना रहना ही अपने अस्तित्व तक की आधार-शिला कहा जा सकता है। शंकर में ऐसी जीवात्मा का अभाव दीख पड़ता है जिस कारण, इस लेखक के अनुसार न केवल उनका रहस्यवाद एखार्ट के रहस्यवाद से भिन्न है, प्रत्युत वह इससे हीनतर भी है। परंतु यहां पर भी इस लेखक ने शंकर के मूल सिद्धांतों की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है। शंकर का सिद्धांत अद्वैतवाद का सिद्धांत है जिसकी मान्यताओं में न केवल परमतत्त्व की अद्वैतता मात्र सम्मिलित है, अपितु इसके सिवाय उनमें परमात्मा के साथ जीवात्मा का अभेदभाव भी आपसे आप आ जाता है जिसका एक सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि

---

१. मैत्रायण्युपनिषद्, ४, ११।

जगत् के सारे पदार्थ केवल एक ही कोटि के जंचने लगते हैं और इस प्रकार की साम्यबुद्धि के कारण हमारे लिए यहां तक भी आवश्यक नहीं हुआ करता कि हम अपने इष्टदेव समझे जाने वाले के प्रति कोई एक भाव प्रदर्शित करें तथा अन्य के प्रति अन्य बर्ताव करें। यदि वेदांत के प्रसिद्ध वाक्य 'तत्वमसि' का भाव अपने भीतर घर कर ले और हम कुछ को परमात्मा के रूप में ही देखने लग जायं तो हमारे लिए यह प्रश्न ही कहां रह जाता है कि हम ईश्वर के प्रति ईसाई सदाचार (Christian Righteousness) की कोई पृथक् कल्पना करें अथवा उसे अपने जन्मजात गुण के रूप में अपनाने का यत्न करें। 'श्रीमद्भगवतगीता' के शब्दों में, (जिस पर शंकर ने अपना भाष्य भी लिखा है) यह स्पष्ट शब्दों में कहा गया मिलता है "जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो भूतों के साथ मैत्री बनाये रखता है, जो कृपालु है, जो समत्वबुद्धि और अहंकार से रहित है.....जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है वही मुझे प्रिय है"[1] जिससे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है और इसके साथ यह सिद्ध करने में भी कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि ऐसी 'जीवात्मा को उक्त ईसाई गुणों से किसी प्रकार रहित भी नहीं कह सकते।'

'श्रीमद्भगवद्गीता' से उद्धृत किये गए इन दो श्लोकों के आधार पर हमें ओटो की उस धारणा का भी उत्तर देने के लिए कुछ सामग्री मिल जाती है जिसके अनुसार शंकर के विषय में कहा गया है कि उन्हें ईश्वर के प्रति कोई स्पष्ट प्रेम-भाव नहीं है। इस लेखक का कथन है कि शंकर के शाश्वत ब्रह्म में सत् एवं चित् के साथ आनंद का अंश भी कम नहीं है। किंतु यह उनकी विशेषता है कि वे इसके अनुसार, अपने भावों को प्रकट करना आवश्यक नहीं समझते। इसके सिवाय यदि शंकर के यहां ऐसे आनंद की अभिव्यक्ति दीख पड़ती है तो वह भी अधिकतर व्यक्तिगत जैसी ही जान पड़ती है, जहां एखार्ट द्वारा प्रकट की गई विचारधारा से स्पष्ट हो जाता है कि उनके प्रेम-भाव की व्यापकता इससे कहीं अधिक है। ओटो ने इस संबंध में प्रसिद्ध रहस्यवादी दार्शनिक प्लोटिनस की भी ईश्वर के प्रति प्रेम-भावना की चर्चा कर दी है और उसकी तुलना एखार्ट के ईश्वरीय प्रेम के साथ की है। इस लेखक का कहना है कि प्लोटिनस के ऐसे प्रेम का स्वरूप उसके सौंदर्य-बोध पर आश्रित जान पड़ता है जो ग्रीक शब्द ईरोस (Eros) के अर्थ का अनुसरण है। ईरोस कहे जानेवाले प्रेम का स्वरूप किसी ऐसे सुखास्वाद का जैसा है जिसका आधार सदा ऐन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय सौंदर्य हुआ करता है जिससे इस लेखक ने एखार्ट को अनभिज्ञ तक ठहराया है और कहा है कि इनका प्रेम उस 'अगेप' (Agape) कोटि का प्रेम कहा जा सकता है जिसे ईसाई धर्म के अनुसार प्रमुख गुणों में गिना जाता है "जिसमें मृत्यु की जैसी शक्ति के होते हुए भी उसका जैसा कोई वेग नहीं रहा करता, जो आभ्यंतरिक होता हुआ भी गंभीर शालीनता सूचित करता है और जिसमें कैंट

---

१ अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥ अध्याय १२।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगै मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥ अध्याय १२।

के 'व्यावहारिक प्रेम' के जैसा सक्रिय संकल्प भी पाया जाता है।"[१] इस लेखक के अनुसार ऐसे प्रेम का कभी शंकर वा प्लोटिनस को कोई पता भी नहीं रहा होगा। परंतु लेखक का यह कथन कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण भी कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रेम का यहां पर उसने उल्लेख किया है उसके अस्तित्व का अन्यत्र भी अभाव नहीं मान लिया जा सकता। ऐसे प्रेम की ओर कुछ न कुछ संकेत उन दो श्लोकों में ही किया गया है जो अभी श्रीमद्भगवद्गीता से उद्धृत किये गए हैं और जिनके ऊपर ध्यान देने पर ऐसे प्रेम को किसी ईसाई भाव विशिष्ट द्वारा प्रभावित ठहराने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके सिवाय इस प्रकार की भावना उस विश्व-बंधुत्व में भी पायी जा सकती है जो न केवल प्राचीन वैदिक साहित्य के अनेक स्थलों पर द्रष्टव्य है, प्रत्युत जिसका एक रूप इस्लाम धर्म में भी पाया जाता है और जो उसके सूफ़ी मतानुसार 'इश्क़ मजाज़ी' और 'इश्क़ हक़ीक़ी' के तत्त्वतः एक होने में भी देखा जा सकता है जिससे सिद्ध है कि केवल ऐसे प्रेम-भाव पर आश्रित होने के ही कारण, हम एखार्ट के रहस्यवाद को किसी विशिष्ट पश्चिमी रूप का नहीं ठहरा सकते।

रूडाल्फ ओटो द्वारा की गई इस एखार्ट एवं शंकर की तुलना तथा इसके आधार पर कल्पित की जानेवाली पश्चिमी एवं पूर्वी रहस्यवाद की पृथक् भावनाओं का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान एक अन्य ऐसे यत्न की ओर भी जा सकता है जो डी० टी० सुज़ुकी नामक एक जापानी लेखक द्वारा किया गया है और जिसका परिणाम उसकी 'Mysticism Christian and Buddhist' अर्थात् 'ईसाई तथा बौद्ध रहस्यवाद' नामक एक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। यह भी एक संयोग की ही बात कही जा सकती है कि सुज़ुकी ने भी ईसाई रहस्यवादियों में से जर्मन दार्शनिक एखार्ट को ही अपने अध्ययन के लिए चुना है और दूसरी ओर से बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय तथा विशेषकर उसके जेन सम्प्रदाय को रखा है। ऐसा करते समय इस लेखक ने एखार्ट को एक ऐसे ईसाई रहस्यवादी के रूप में देखा है जिसे असाधारण ईसाई (Extraordinary Christian) भी कहा जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए इसने बौद्ध धर्म के 'निर्वाण' एवं 'तथता' जैसे कुछ विषयों से संबद्ध प्रश्न उठाये हैं और इनकी व्याख्या करते हुए इन्हें एखार्ट द्वारा किये गए कतिपय कथनों की दृष्टि से भी परखने का यत्न किया है। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म की 'तथता' का परिचय देते हुए सुज़ुकी ने कहा है "बौद्धदर्शन को इसीलिए तथता का दर्शन, शून्यता का दर्शन अथवा आत्मैक्य का दर्शन कहा जा सकता है। यह विशुद्ध वर्त्तमान से आरंभ करता है जिसे शुद्ध अनुभव कहेंगे अर्थात् जिसके लिए हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसी दशा में अभी तक किसी ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद का जैसा कोई प्रश्न ही नहीं रहा करता और जिसे हम निरे अभाव की

---

१. "...strong as death, but no paroxysm, inward but deep humility, atonce active in willing and doing as Kants' practical love." Mysticism East and West, p. 212.

Agape: Among the primitive Christians, a love feast or feast of charity held before or after the Communion when contributions were made to the poor. Webster's Dictionary, p. 27.

सूचक स्थिति भी नहीं कह सकते।"[१] ऐसी स्थिति में न तो कोई 'चाहिए' एवं 'है' का भेद रहा करता है और न बाह्य रूप एवं भीतरी विषय के अंतर की ही बात आती है जिस कारण इसके संबंध में किसी प्रकार का निर्णय नहीं दिया जा सकता और न अभी कुछ निश्चित रूप में कहा ही जा सकता है। फिर भी ऐसी शुद्ध अनुभूति को हम नितांत निष्क्रिय और अभावात्मक नहीं ठहरा सकते, क्योंकि यह बहुत कुछ सक्रिय तथा रचनात्मक भी है। एखार्ट ने इसके विषय में कहा है "इस रूप में तुम्हारा अज्ञान कभी कोई दोष नहीं बन सकता, प्रत्युत वह तुम्हारी पूर्णता को सूचित करने लगता है और तुम्हारी निश्चेष्टता भी सचेष्टता बन जाया करती है। अतएव, यदि तुम अपने लिए पुनर्जन्म की दशा प्राप्त करना चाहते हो तो अपनी सचेष्टता को ही मार डालो तथा अपने सामर्थ्य को नष्ट कर दो जिससे वह स्थिति तुम्हारे लिए संभव हो सके।"[२] इस प्रकार, यदि पूर्णतः साधुवृत्ति अथवा विमलात्मा बन जाना संभव हो सके तो इसका अभिप्राय इतना ही होगा कि ऐसे महापुरुष में किसी प्रकार की भी अहंता का भाव शेष नहीं रह जाता और न उसे किसी प्रकार के कष्ट, क्लेश अथवा यातना का कोई भय ही सता सकता है। ऐसा 'परमहंस' सभी कुछ के प्रति पूर्णरूप से सहनशील बन जाया करता है और इस प्रकार, उससे पक्षपातहीन, समदर्शी अथवा उदासीन भी कहा जा सकता है। सुजुकी ने एखार्ट की इस आदर्श दशा को ही बुद्ध की 'करुणा' नामक मनःस्थिति से मिलती-जुलती हुई ठहराया है।

सुजुकी ने फिर ऐसे ही प्रसंग में एखार्ट द्वारा कल्पित किये गए उस सूक्ष्म क्षण (a little point) अथवा 'रहस्यात्मक स्थिति' की भी चर्चा की है, जहां तक पहुंचने की दशा में कोई साधक ईश्वर के साथ अपने मिलन की अनुभूति का नाम दे सकता है और जिसकी तुलना इस लेखक के अनुसार, उस दशा के साथ भी की जा सकती है जिसे जेन सम्प्रदाय में 'सतोरी' कहा गया मिलता है। एखार्ट ने बतलाया है "यद्यपि जीवात्मा ऐसी स्थिति में ईश्वरीय परमतत्त्व की शाश्वत सत्ता में प्रवेश कर जाती है, फिर भी यह उसके स्तर तक नहीं पहुंच पाती जिसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर ने एक ऐसा 'सूक्ष्म क्षण' छोड़ रखा है जिसमें आकर वह अपने आप की ओर मुड़ सकती और अपने को प्राप्त कर सकती है तथा इस प्रकार, उसे इस बात का बोध भी हो जा सकता है कि मैं केवल एक साधारण प्राणिमात्र भी हूं।"[३] जेन सम्प्रदाय द्वारा अनुमोदित 'सतोरी' की दशा का भी तात्पर्य एखार्ट

---

१. "Buddhist philosophy, therefore, is the philosophy of suchness, or philosophy of Emptiness, or philosophy of self-identity. It starts from the absolute present which pure experience an experience in which there is yet no difference between subject and object, and yet which is not a state of sheer nothingness." Mysticism Christian and Buddhist, p. 69.

२. Quoted in the above, at p. 71.

३. "Although it sinks in the eternity of the divine essence, yet it can never reach the ground. Therefore God has left a little point wherein the soul turns back upon itself and finds itself, and knows itself to be a creature." Quoted in Mysticism Christian and Buddhist, p. 76.

के वैसे क्षण तक पहुंच जाने से ही समझा जा सकता है, जहां हमें दोनों ओर देखने की दृष्टि मिल जाया करती है और हम एक ही साथ ईश्वरोन्मुख तथा जीवोन्मुख भी बन जा सकते हैं। यदि इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह भी कह सकते हैं "सीमित ही असीम है और असीम को ही सीमित भी कहा जा सकता है।" एखार्ट ने इस दिव्य दृष्टि को उस आंख का नाम दिया है जिससे न केवल हम परमेश्वर को देखते हैं, प्रत्युत जिससे परमेश्वर तक भी हमें देखा करता है और जो एक ही साथ देखना, जानना और प्रेम करना भी है। ज़ेन सम्प्रदाय की 'सतोरी' भी ठीक इसी प्रकार के प्रातिभ ज्ञान की ओर इंगित करती जान पड़ती है। यही संभवतः वैसी 'बोधि' की भी दशा कही जा सकती है जिसकी उपलब्धि हो जाने पर सारे दार्शनिक चिंतन की प्रक्रिया व्यर्थ हो जाती है। इसके द्वारा हमें सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है और हमारे तथा परमतत्त्व की साक्षात्-अनुभूति के बीच किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रह जाता। अतएव, एखार्ट के इस 'सूक्ष्म क्षण' की स्थिति ज़ेन सम्प्रदाय की 'सतोरी' तथा रहस्यवाद का रहस्यानुभूति जन्य प्रातिभ ज्ञान ये सभी एक समान दीख पड़ते हैं।

(२) विभिन्न रहस्यवादों का तुलनात्मक अध्ययन

रूडाल्फ ओटो तथा डी॰ टी॰ सुज़ुकी द्वारा प्रस्तुत किये गए उक्त प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि रहस्यवाद की मौलिक बातें सब कहीं और विभिन्न कालों तक में ठीक एक ही प्रकार की पायी जा सकती हैं। यद्यपि ओटो ने भारतीय दार्शनिक शंकर एवं जर्मन दार्शनिक एखार्ट की रहस्यवादी धारणाओं में कहीं-कहीं कुछ अंतर प्रदर्शित करने की चेष्टा की है, किंतु जैसा हमने अभी देखा है उसे इसमें पूरी सफलता मिलती नहीं जान पड़ती और स्वयं उसे भी अधिकतर ऐसी ही बातें मिला करती हैं जिनमें 'अपूर्व साम्य' लक्षित होता है। इसी प्रकार सुज़ुकी ने यदि उसी एखार्ट की विचारधारा को बौद्ध महायान सम्प्रदाय तथा ज़ेन सम्प्रदाय की रहस्यात्मक भावनाओं की तुलना में लाकर परखा है तो उसे भी ऐसा ही जान पड़ा है कि वास्तव में, यहां पर किसी प्रकार के स्पष्ट भेद की कल्पना करना उचित नहीं है। फलतः रहस्यवाद की सार्वभौमिकता के विषय में संदेह करने की कोई गुंजायश नहीं रह जाती और हम इस बात को स्वीकार भी कर ले सकते हैं कि यह जीवन-दर्शन अधिक से अधिक व्यापक आदर्श प्रस्तुत कर सकने में भी समर्थ है। परंतु, यदि हम रहस्यवाद के प्रारंभिक रूप अथवा इसके प्राचीनकालीन उपलब्ध परिचय से लेकर इसके क्रमिक विकास तथा देश-कालानुसार अपनाये गए इसके विभिन्न प्रकारों पर विचार करते हैं तो हमें यह भी पता चलता है कि हम इसकी सार्वभौमिकता को सदा इस रूप में स्वीकार नहीं कर सकते कि इस विषय में कुछ भी कहने का अवसर नहीं है। हम उसके आधार पर इसके अंतर्गत अनेक भेदों, उपभेदों की कल्पना भी कर सकते हैं, उनका वर्गीकरण कर सकते हैं तथा इसी प्रकार, तदनुसार वैसे वर्गों के लिए विभिन्न नाम भी दे सकते हैं। जैसा हमने अभी देखा है, यदि हम चाहें तो कतिपय लक्षणों के आधार पर इसके पूर्वी और पश्चिमी रहस्यवाद जैसे दो भेद कर सकते हैं, कालानुसार प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक रहस्यवाद के भिन्न-भिन्न नाम दे सकते हैं और यदि इसके संबंध में विभिन्न प्रचलित धर्मों के अनुसार विचार किया जाय तो इसको हिंदू रहस्य-

वाद, बौद्ध रहस्यवाद, ईसाई रहस्यवाद आदि जैसी विभिन्न संज्ञाएं भी प्रदान कर सकते हैं। परंतु ऐसा करने का अभिप्राय यह नहीं कि हम ऐसे वर्गों के कारण, रहस्यवाद के वास्तविक रूप को अनेक प्रकार से परिवर्तित हो गया पाते हैं अथवा ऐसे विभिन्न रूपों में कोई तात्त्विक अंतर ही उपलब्ध किया जा सकता है। ऐसे नवीन तथ्यों की खोज के लिए इस प्रकार का अध्ययन करना संभवतः व्यर्थ सिद्ध होगा जिनके आधार पर हमें अपनी तद्विषयक धारणा में कोई सुधार करना पड़े। हमें इसके द्वारा केवल यही लाभ होता है कि हम अपने विषय को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके ऊपर बारबार विचार करते हैं तथा इस प्रकार, हमें उसके अनेक ऐसे पक्षों पर भी पूर्ण प्रकाश पड़ता दीख पड़ता है जो हमें अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाये थे। इसके सिवाय, इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हमें इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि इस विषय को किन-किन विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है तथा किन-किन रूपों में इसका उपयोग भी किया जा सकता है। परंतु, यदि सभी धर्मों, देशों अथवा युगों के अनुसार हम रहस्यवाद के इतिहास और विकासादि का अध्ययन करना चाहें तो यह हमारे लिए अत्यंत कठिन हो जा सकता है और पर्याप्त सामग्री के अभाव में ऐसा यत्न कदाचित् सफल भी नहीं हो सकता। अतएव, हम यहां पर केवल कुछ विशिष्ट उदाहरणों को ही लेकर विचार करना चाहते हैं और उसके आधार पर ही हम इसके भविष्य की भी कल्पना प्रस्तुत करेंगे।

रहस्यवाद एवं धर्म का संबंध बराबर घनिष्ट रहता आया है और जैसा एक बार इसके पहले भी हम कह आये हैं, यदि 'धर्म' शब्द को उसके मौलिक अर्थ में लिया जाय और तदनुसार उसे किसी एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों वस्तुतः एक और अभिन्न से भी प्रतीत होने लगते हैं तथा इन दोनों में किसी अंतर का पाना अत्यंत कठिन हो जाया करता है। ऐसा क्यों होता है इसके लिए किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की परीक्षा करना हमारा यहां अभीष्ट नहीं है। हम यहां पर केवल इस बात की ओर ही ध्यान दिलाना चाहते हैं कि इन दोनों का संबंध, 'धर्म' शब्द का प्रचलित अर्थ स्वीकार करने पर भी, अत्यंत प्राचीन काल से निर्दिष्ट किया जा सकता है तथा इन दोनों का कुछ मात्रा में अन्योन्याश्रित होना तक भी सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि धर्म के क्षेत्र में स्वीकृत ईश्वर अथवा ऐसी किसी अन्य सत्ता के अस्तित्व को रहस्यवाद के क्षेत्र में भी अपनाया जा सकता है तथा इसी प्रकार, रहस्यवादात्मक अनुभूति का उपयोग धार्मिक उपासना में भी किया जा सकता है। इसी प्रकार हमें इस बात का भी पता है कि जिस जादूविद्या एवं चमत्कार-जन्य अलौकिक शक्ति का संबंध प्राचीन धर्मों के साथ जुड़ा आया है उसका कोई न कोई रूप हमें रहस्यवाद के प्रसंग में भी दीख पड़ता है। हम तो इसके पूर्व यहां तक भी देख चुके हैं कि जादूविद्या का एक छोर रहस्यवाद को छूता हुआ सा भी बतलाया जाता है। इसके सिवाय यदि 'हर्मिज के मरकत शिलाखण्ड' वाली पंक्तियों की कोई प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके तो उसमें स्वीकृत की गई सत्ता की एकता रहस्यवाद की विश्वात्मक सत्ता की एकता से अधिक भिन्न नहीं जान पड़ती। इस प्रकार, हमें ऐसा अनुमान करने का भी आधार मिल जाता है कि जिस प्रकार उक्त विद्या ने प्रचलित कार्यों में से अनेक की प्रारंभिक दशाओं में उनका साथ दिया होगा, उसी प्रकार उसका कुछ न कुछ संपर्क रहस्यवाद के साथ भी होना ठहराया जा सकता है। हर्मिज के अनुयायी 'हर्मीय समाज' (Hermetic

Communities) कहे जाने वाले वर्ग के लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे कदाचित् पहले मनुष्य थे जो अपनी कथनी एवं करनी में पूर्ण साम्य स्थापित करने के लिए सचेष्ट रहते थे, उन्हें अपनी मान्यताओं में पूरी आस्था रहा करती थी तथा उनका अनुसरण करते समय वे अपने प्राणों की बाजी लगा देना तक भी अधिक नहीं समझते थे। उन्हें ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हुआ करती थी और उनका जीवनादर्श, उसके साथ अपनी आत्मीयता का संबंध बनाये रहने में निहित था तथा इसी के आधार पर, वे संपूर्ण मानव-समाज से प्रेम करना और पवित्र जीवन-यापन करना अपना ध्येय समझा करते थे। कहते हैं कि ईसाई धर्म की अनेक बातें तथा 'कुरान शरीफ' में प्रदर्शित एकेश्वरवाद का सिद्धांत तक भी इन हर्मीय समाज के लोगों द्वारा ही अनुप्राणित हो सकते हैं।[1] इनका बहुत कुछ प्रभाव ग्रीस की दार्शनिक विचारधारा पर भी पड़ा जान पड़ता है, किंतु इन लोगों के संबंध में विस्तृत विवरण उपलब्ध न हो सकने के कारण, इस प्रकार का कोई भी कथन अंतिम रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जहां तक उपलब्ध प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, रहस्यवादी विचारधारा का एक स्पष्ट रूप इस प्राचीन समाज के लोगों को भी प्रभावित करता रहा होगा और वे संभवतः किसी रहस्यात्मक सत्ता का अनुभव भी करते रहे होंगे।

हर्मीय समाज के लोगों की ही भांति हमें मिस्र देश के प्राचीन निवासियों की विचारधारा में भी रहस्यवाद का कुछ न कुछ अंश निहित जान पड़ता है और इसका पता हमें उन प्रमाणों द्वारा चलता है जो उस देश के प्रसिद्ध 'पिरैमिडों' में उपलब्ध हुए हैं। इनके आधार पर अनुमान किया जाता है कि मिस्र देश के प्राचीन निवासी अपने राजा को देवस्वरूप मानते थे और उसके प्रति उनकी प्रायः वही भक्ति-भावना थी जिसे वे अपने 'रे' नामक श्रेष्ठ देवता के प्रति प्रदर्शित करते थे। उनकी धारणा थी कि यदि कोई व्यक्ति अपने भीतर विद्यमान ईश्वरत्व के भाव को प्राप्त कर सके तो उसे ईश्वर के साथ मिलन प्राप्त हो सकता है। उस ईश्वरत्व के भाव का आधार इस बात में निहित समझा जाता था कि जीवात्मा उस ईश्वरीय ज्योति 'रे' का ही निकटतम आत्मीय है जो सूर्य के रूप में प्रकाशित है और इसी कारण, उनके धर्म को 'प्रथम किरण का धर्म' की संज्ञा भी दी जाती थी। उनके एक अन्य मत के भी अनुसार मनुष्य का जन्म स्वर्ग एवं भूतल इन दोनों के संयोग से हुआ है जिनमें से प्रथम को नूत (Nut) नाम की माता कहा जाता था और द्वितीय को जेब (Geb) नाम के पिता के रूप में स्वीकार किया जाता था और यह समझा जाता था कि इसी कारण, हमारे भीतर दोनों प्रकार की शक्तियां वर्त्तमान हैं। इन मिस्र के निवासियों वाले धर्म की मान्यताओं में ही 'स्वर्गीय पिता' और 'स्वर्गीय माता' तथा सभी के 'शासक' और 'नियामक' ईश्वरविषयक धारणाओं का भी पता चलता है जिन्हें पीछे यहूदियों और ईसाइयों ने अपनाया[1]। इस प्रकार अपने इष्टदेव को निकट से निकट आत्मीय के रूप में स्वीकार करने की उक्त प्रवृत्ति को बल मिला जिसकी गणना रहस्यवाद की विशेषताओं में भी की जाती है। इसके सिवाय मिस्र देश के निवासियों की यह मान्यता कि देवता भी केवल एक अपेक्षाकृत अधिक महान् मनुष्य मात्र है और उसमें ऐसी कोई भी विशे-

---

१. Duncan Greenlees : 'The Gospel of Hermes' (Adyar, 1949) pp. XXI-XXIII.

षता नहीं जिसे हम अपनी साधना द्वारा उपलब्ध न कर सकें, बहुत कुछ मानव जाति के महत्त्व का परिचय देती थी और यह रहस्यवाद के अनुसार स्वीकृत उस आदर्श के ही अनुरूप थी जो इसे अधिक से अधिक पूर्णता तक विकसित होने की प्रेरणा प्रदान करता है।

अन्य प्राचीन धर्मों में से इस प्रसंग में, हम दो-तीन ऐसे औरों की भी चर्चा यहां कर देना उचित समझते हैं जो इन दिनों प्रचलित नहीं है। इनमें से एक धर्म सुमेर जाति के लोगों का था जो भी, प्रायः मिस्रियों की ही भांति देवताओं के मनुष्य की अपेक्षा केवल कुछ मात्रा में अधिक महान् होने की धारणा रखते थे और जो उनके अदृश्य रहने पर भी, उन्हें विश्व-संचालन का श्रेय दिया करते थे। उन्हें ये लोग 'अमर' कहते थे, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो, उनकी मृत्यु के अनंतर, विश्व की स्थिति में ही डांवाडोल उत्पन्न हो जाय। परंतु इन लोगों से भी, विश्व की रक्षा के लिए कहीं अधिक चिंताशील वे प्राचीन ग्रीस निवासी थे जिनके धर्मों को रहस्यमय धर्मों (Mystery Religions) की संज्ञा दी जाती है और जो विश्व की सुव्यवस्था पर ही जीवन की एकता तथा ईश्वर की एकता इन दोनों को अवलंबित मानते थे तथा जिन्हें इस बात में पूरी आस्था रही कि 'दीक्षित' होकर ईश्वर को प्राप्त कर लिया जा सकता है। इनकी दीक्षा में कतिपय ऐसी प्रतीकात्मक विधियों का समावेश था जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष कृत्यों के कहीं परे भी पड़ सकता था और जिनका लक्ष्य किसी दीक्षित व्यक्ति के भीतर रहस्यानुभूति की दशा उत्पन्न करके उसे पुनर्जन्म प्रदान कर देना रहा करता था।[1] उस डायोनिसस नामक अपने ईश्वर का मिलन प्राप्त करने के लिए जो जीवन एवं मृत्यु दोनों का ही एक समान स्वामी था, ये वैसी विधियां विशेष रूप से संपन्न किया करते थे और उसके साथ मिल जाने की दशा का अनुभव होने लगते ही ये पूर्ण आवेश में भी आ जाते थे। इन्हें उस समय एक विचित्र 'आध्यात्मिक उन्माद' हो जाया करता था जिसके प्रभाव में आकर ये उल्लासपूर्ण नृत्य तक करने लग जाते थे और यहीं से इनके पुनर्जन्म का आरंभ हुआ करता था।[2] प्राचीन ग्रीस निवासियों का इस प्रकार उन्मत्त होकर नृत्य करने लगना और भाव-विभोर हो जाना हमें उन 'मौलवी सम्प्रदाय' वाले सूफ़ी साधकों का स्मरण दिलाता है जिनके अगुआ मौलाना रूम कहे जाते हैं और जिनकी रहस्यानुभूति में कभी कोई संदेह नहीं किया जाता।

ग्रीस देश की गणना पश्चिमी देशों में की जाती है और उसके दार्शनिक विचारों की दृष्टि से उसे पश्चिम का मार्ग-प्रदर्शक भी माना जाता है। परंतु उसके प्राचीनकालीन रहस्यमय धर्मों का कोई अधिक प्रभाव उधर के लोगों पर पड़ा नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार, हम देखते हैं कि उन पर उस जरथुस्त्री धर्म का भी प्रभाव बहुत कम दीख पड़ता है जिसे भारत में 'पारसी धर्म' के नाम से अभिहित किया जाता है। जरथुस्त्र प्राचीन ईरान के निवासी थे और उन्होंने एक पैगंबर की भांति अपने धर्म का प्रचार किया। किंतु उनकी यह एक बहुत बड़ी विशेषता रही कि उन्होंने पूरे मानव समाज के लिए समानता का आदर्श रखा और उसे आचार-प्रधान रूप भी दे दिया। उनके अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह भूतल पर स्वर्ग स्थापित करने में स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधित्व करे और यहां की बुराइयों को दूर करने में उसका हाथ बटाये। इसके लिए न तो संन्यास

---

१. Dr. Term : Ancient Religions (New York, 1950), p. 172.
२. Do. pp. 174-6.

धारण करने की आवश्यकता है और न दुःखों के कारण, नैराश्य को प्रश्रय देना ही उचित है। उसे चाहिए कि अपनी मृत्यु के क्षण तक सभी प्रकार के अनिष्टों के विरुद्ध जमकर लोहा ले और इसके लिए किसी भी प्रकार के लाभ की अभिलाषा न करे। उसे केवल इस बात में ही पूर्ण संतोष हो जाना चाहिए कि मैं स्वयं ईश्वर का सहयोगी बनकर काम कर रहा हूं और यही मेरा परम कर्त्तव्य भी है[1] कि इस भूतल पर सदाचार का राज्य निर्माण करने में मैं उसका हाथ बटाऊं। इसके सिवाय जरथुस्त्र ने सबके समक्ष एक ऐसे ईश्वर का आदर्श रखा जिसे अमूर्त्त (Abstract) कहा जा सकता है। उसे न तो कोई देख सकता है, न स्पर्श कर सकता है, न सूंघ सकता है और न उसकी वाणी ही सुन सकता है। किंतु उस एकमात्र स्वामी 'अहुरमज्द' ने ही अपनी प्रज्ञा के अनुसार सभी श्रेयस्कर पदार्थों की रचना की और हम उसे केवल उसके ऐसे कार्यों के ही आधार पर जान पाते हैं।[2] जरथुस्त्र की ऐसी विचारधारा का प्रभाव अनेक अन्य धर्म प्रचारकों पर भी पड़ा और उनमें से कुछ ने इनके उपदेशों में कई बातें अपनी ओर से भी जोड़ दीं। ऐसे लोगों में से एक पैग़म्बर 'मानी' थे और वे भी जरथुस्त्र के ही देश के निवासी कहे जा सकते थे। इन दोनों की विचार-धाराओं में जो प्रमुख अंतर था उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—'जरथुस्त्र का 'मज्दी धर्म' जहां मनुष्य को यह उपदेश देता था कि यह ईश्वर के नेतृत्व में कार्य करते हुए सारी बुराइयों को संसार से दूर करने के लिए युद्ध ठान दे, वहां मानी का 'मनीषी धर्म' पवित्र आत्मा को निकृष्ट संसार से बाहर निकाल लाने का यत्न करता था। अतएव, मज्दी धर्म की दृष्टि में जहां हमारे मनोविकार दोषपूर्ण होते हैं, इसलिए आत्मा का कर्त्तव्य है कि वह शरीर को उक्त आध्यात्मिक युद्ध के योग्य बना दे, वहां मनीषी धर्म के अनुसार आत्मा को चाहिए कि वह दोषपूर्ण शरीर की ओर से विरक्त बन जाय। इस प्रकार मज्दी धर्म जहां प्रवृत्ति प्रधान था, वहां मनीषी धर्म निवृत्ति प्रधान बन गया। परंतु, इतना होते हुए भी, इन दोनों का दृष्टिकोण एक समान था और इन दोनों धर्मों को इस बात में पूर्ण विश्वास था कि ईश्वर सर्वत्र महान् आदर्शों में विद्यमान है और अंत में, श्रेय की ही विजय होगी।[3] मानी की इसमें पूरी आस्था देखी जाती है कि उचित आदर्शों का पालन करते हुए "सभी पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो सकेंगे और वे सभी ज्योति-संपन्न कण जो अभी तक कारावद्ध के जैसे पड़े थे, अंत में भौतिक तत्त्वों से पृथक् और उन्मुक्त होकर प्रकाश के राज्य में एक बार पुनः लौट आयंगे"।[4]

इन प्राचीन धर्मों की चर्चा समाप्त करने के पहले हमारे लिए उचित है कि हम इस प्रसंग में, उन ज्ञानियों या ज्ञानमार्गियों के विषय में भी कुछ विचार कर लें जिन्हें अंग्रेजी भाषा में Gnostics (नास्टिक्स) कहा जाता है और जिन्हें रहस्यवाद के विषय का प्रतिपादन करने वाले अनेक लेखकों

---

१. Duncan Greenless : The Gospel of Zarathustra (Adyar, 1951) pp. LXXXIX-XC.

२. Joseph Gaer : How the Great Religions Began (New York, 1935) p. 138.

३. Duncan Greenless : The Gospel of the Prophet Mani (Adyar, 1950) pp. CXLIII-CXLIV.

४. 'Ancient Religions', pp. 222-3.

ने अपने यहां बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अंग्रेजी शब्द Gnostic ग्रीक शब्द Gnostikos का स्थान ग्रहण करता हुआ जान पड़ता है जो स्वयं Gnosis (नासिस) संज्ञा के आधार पर बना एक विशेषण शब्द है। उस Gnosis शब्द का अर्थ ऐसे अनुभवजन्य प्रत्यक्ष ईश्वर-ज्ञान का होता है जिसमें आत्मा तथा विश्व के साथ उसके किसी संबंध का भी पूर्ण बोध हो जा सके। ऐसे 'ज्ञानी' लोगों का किसी प्रचलित धर्म विशेष के साथ संबद्ध रहना आवश्यक नहीं था और न वे ऐसे धर्मों के किन्हीं नियमों के ही पाबंद थे। इनके चिंतन की शैली, वस्तु-तत्त्व के विषय में प्रातिभज्ञान प्राप्त कर लेने तक ही सीमित रही और इसीलिए, इन्हें प्रायः 'द्रष्टा' भी कहा जा सकता था। इन्हें हम वैसे ऋषियों की श्रेणी में भी रख सकते हैं जो अपने प्रत्यक्ष अनुभव पर आश्रित रहते थे, किंतु जिन्हें अपनी विशिष्ट अनुभूति की बातों को उनके लिए उपयुक्त शब्दों के अभाव में, सर्व-साधारण की भाषा में ही प्रकट करना पड़ जाता था। इस प्रकार Gnosis नामक ज्ञान को हम वस्तुतः 'व्यक्तिगत बोध' मात्र का नाम भी दे सकते हैं और उसका आधार भी किसी आभ्यंतरिक रहस्यमयी शक्ति को ठहरा सकते हैं।[1] फिर भी, उस मूल स्रोत के सर्वथा व्यापक रहने के कारण, हम इसे पूर्णतः विश्वजनीन भी कह सकते हैं। ऐसे अनुभव-जन्य ज्ञान के आलोक में सारी बातों का रहस्य आप से आप प्रकट हो जाया करता है जिस कारण, जिन बातों को हम पहले भ्रमवश किसी एक साधारण ढंग से देखते रहते हैं उन्हें सहसा एक नवीन दृष्टिकोण से देखने लग जाते हैं और इस प्रकार हमारे अपने जीवन तक में आमूल परिवर्तन आ जाता है। हमारे इस नवीन दृष्टिकोण में इतनी बड़ी व्यापकता आ जाती है जितनी सभी कुछ को भी उनके मूल रूप में देखने में समर्थ हो सकती है और उन सबके मूलतः एक ही होने के कारण, ऐसे अनुभव में कभी व्यक्तिगत सीमा का बंधन भी नहीं आ पाता। अतएव, ऐसे नास्टिक ज्ञानियों को हम प्राचीन काल के प्रायः सभी उन्नतिशील समाजों के अंतर्गत जीवन-यापन करते हुए पाते हैं और इसी कारण, उन दिनों का कोई भी वैसा देश नहीं जहां के लोगों को अपने जीवन में इनसे कभी कोई प्रेरणा न मिली हो। ऐसे लोगों का साम्य, रहस्यवादियों के साथ, स्वयंसिद्ध समझा जा सकता है और हम यहां तक भी कह सकते हैं कि ये लोग वस्तुतः उनके कभी पथ-प्रदर्शक भी बने होंगे। परंतु आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार का व्यापक ज्ञान उपलब्ध करने वाले लोगों पर भी, क्रमशः जादूविद्या एवं चमत्कारों का प्रभाव पड़ने लग गया और ये क्रमशः तिरोहित से बनते चले गए और अंत में इनका केवल आदर्श मात्र ही रह गया जो पीछे मध्यकालीन रहस्यवादियों में दीख पड़ा।

अब तक हमने जिन प्राचीन धर्मों अथवा विचारधाराओं की चर्चा की है उनमें किसी सुव्यवस्थित रहस्यवाद का रूप नहीं लक्षित होता और, सिवाय नास्टिक लोगों की प्रातिभ ज्ञानमयी अनुभूति के अन्यत्र कहीं किसी वैसी साधना विशेष का हमें कोई स्पष्ट संकेत भी नहीं मिलता। इस कारण जो कुछ इस संबंध में अभी तक बतलाया गया है उसका केवल इतना ही महत्त्व हो सकता है कि उसके द्वारा रहस्यवाद के किसी न किसी रूप के अस्तित्व का अनुमान ऐसे प्राचीन धर्मों में भी किया जा सकता है जिनका साधारणतः कोई भी लगाव इसके साथ प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

---

1. Duncan Greenless : The Gospel of the Gnostics. (Adyar, 1958), p. XII.

परंतु, इसके आगे हम अब उन कतिपय प्रसिद्ध प्रचलित धर्मों पर भी विचार करना चाहते हैं जिनमें इस विषय को न्यूनाधिक प्रधानता दी जाती आई है तथा जिनमें से कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिनके यहां इस पर स्वतंत्र विचार तक किया गया पाया जा सकता है। इन धर्मों में से हिंदू धर्म एवं बौद्ध धर्म ऐसे हैं जिनकी एक अपनी विशिष्ट परंपरा कही जा सकती है और इसी प्रकार, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म एवं इस्लाम ये तीन ऐसे हैं जिनकी एक पृथक् परंपरा ठहरायी जा सकती है। इन पांचों के अतिरिक्त हम उस चीनी धर्म की भी चर्चा करेंगे जिसमें ताओ धर्म एवं कनफ्यूसियस द्वारा उपदिष्ट धर्म की गणना की जा सकती है और जिसके साथ चीन में प्रचलित बौद्ध धर्म तथा उसके ज़ेन जैसे एकाध सम्प्रदायों पर भी विचार किया जा सकता है। इसी प्रकार उक्त दूसरी परंपरा के धर्मों अर्थात् यहूदी धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म की चर्चा के पहले हम प्लोटिनस के उस 'नव अफलातूनी' सम्प्रदाय की भी एक रूप रेखा प्रस्तुत करने का यत्न करेंगे जिसका इन तीनों के ही ऊपर किसी न किसी प्रकार का न्यूनाधिक प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है। ऐसा करते समय हम भरसक इन सभी में उपलब्ध रहस्यवाद के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक अध्ययन भी करना चाहेंगे और इन सबके अंत में उस आधुनिक रहस्यवाद का भी कुछ परिचय देने का यत्न करेंगे जो कतिपय कवियों एवं लेखकों की उपलब्ध रचनाओं अथवा उनके द्वारा प्रकट किये गए विभिन्न उद्‌गारों में लक्षित होता है तथा जिसका अध्ययन कर लेने पर ही, हमें वस्तुतः इस बात का भी पता चल सकता है कि इस विषय का भविष्य कैसा हो सकता है और यदि यह आगे भी रह सकता है तो इसका वह स्वरूप कैसा हो सकता है।

हिंदू धर्म के ग्रंथों में सबसे प्राचीन वेद हैं जिनमें अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त देवों के प्रति की गई प्रार्थनाओं तथा विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विधान भी दिया गया दीख पड़ता है जिससे पता चलता है कि उस प्राचीन काल के लोगों की धार्मिक मनोवृत्ति कैसी रही होगी। किस प्रकार वे प्राकृतिक वस्तुओं में दैवी भावना का आरोप कर तदनुसार उनके प्रति श्रद्धाभाव प्रकट करते होंगे तथा किस प्रकार, उनको प्रसन्न करने के उद्देश्य से वे यज्ञों का अनुष्ठान करते होंगे, ये सारी बातें स्पष्ट हैं। अतएव, कुछ विद्वानों की धारणा है कि उनके ऐसे कृत्यों में भी हम रहस्यवाद के उन तत्त्वों को पा सकते हैं जो पदार्थों में रहस्यानुभूति के कारण लक्षित होते कहे जाते हैं। डॉ० दास गुप्त ने तो अपने एक भाषण में उक्त याज्ञिक विधान में उपलब्ध भावना को एक नवीन 'याज्ञिक रहस्यवाद' का नाम तक दे दिया है जिसकी ओर हम इसके पहले संकेत कर चुके हैं और बतला चुके हैं कि किस प्रकार ऐसा मत हमारी मान्यता के विपरीत जाता हुआ भी कहा जा सकता है। फिर भी, जैसा श्री अरविन्द ने एक स्थल पर कहा है वैदिक आर्यों की अग्नि जैसे देवों के प्रति प्रकट की गई भावना वस्तुतः किसी ऐसी आध्यात्मिक शक्ति की ही ओर संकेत करती है जिसे हम अत्यंत व्यापक एवं विश्वात्मक तक भी ठहरा सकते हैं। तदनुसार, यदि इसके कारण यथेष्ट गंभीर रहस्यानुभूति भी होती हो और उसमें इतनी शक्ति आ जाती हो कि वह वैसे साधक की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्त्तन ला दे सके तथा इस प्रकार उसके जीवन को विश्वात्मक सत्ता के प्रति उन्मुख भी कर सके तो उसे रहस्यात्मक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, डॉ० दास गुप्त ने ऐसे यज्ञों की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनके कारण वे उन्हें रहस्यात्मक स्वरूप देना चाहते हैं। इसमें से "एक वह 'अतीन्द्रिय गूढ़ शक्ति' है जो उन यज्ञों में निहित मानी जाती है और जो प्राकृतिक शक्तियों के आधार पर स्वीकृत मूर्त्त देवों

को प्रभावित कर सकती है तथा इसी प्रकार दूसरी वह है जो वेदों को सत्य का अंतिम मूल स्रोत मानती है और उन्हें कर्त्तव्यों का अपरिवर्त्तनीय निर्देशक भी ठहराती है।"[1] परंतु इस प्रकार की कल्पना करना रहस्यवाद की भावना को उतना अधिक व्यापक बना देना है जो इसे इसकी सीमा के बाहर भी ले जा सकता है। इस कारण हम उसे तभी स्वीकार कर सकते हैं जब हम इसको रहस्यवादी भावना के किसी प्रारंभिक एवं अविकसित रूप में मान लें।

रहस्यवाद के वास्तविक रूप का सर्वप्रथम परिचय हमें वैदिक साहित्य के उस अंश में मिलता है जिसे 'उपनिषद्' कहा जाता है। उपनिषदें अनेक हैं और उनमें दार्शनिक एवं कभी-कभी बहुत सी धार्मिक बातों का विवेचन किया गया भी मिलता है। किंतु उनकी प्रमुख विशेषता इस बात में ही पायी जाती है कि वे किसी विश्वात्मक सत्ता की एकता तथा उसके स्वरूप का निर्धारण करती प्रतीत होती है और तदनुसार वे इस बात पर विशेष बल देती हुई भी जान पड़ती हैं कि ऐसी सत्ता अथवा परम तत्त्व का यथेष्ट अनुभव प्राप्त किये बिना, हम कभी अपने जीवन को उचित आदर्श रूप नहीं दे सकते। उनका कहना है कि "वह सत्ता पूर्ण है तथा जो कुछ उसका कार्यरूप समझा जा सकता है वह भी पूर्ण है और इस दूसरे पूर्ण के उसमें लीन हो जाने पर फिर वही पूर्ण रह जाता है" जिसका तात्पर्य यह है कि वह नित्य एवं अद्वैत स्वरूप है। अतएव इस संबंध में, वहां पर इतना और भी कहा गया मिलता है कि "जगत् में जो कुछ भी स्थावर जंगम के रूपमें विद्यमान है वह सभी उसका निवास रूप है अर्थात् उनमें वह सर्वत्र ओतप्रोत है, इस कारण तू सदा अनासक्त भाव के साथ रहकर अपना जीवन-यापन कर और कभी स्वार्थपरता को प्रश्रय न दे।"[2] इस प्रकार इन दो मंत्रों द्वारा हमें रहस्यवाद की भावना के लिए स्वीकृत विश्वात्मक सत्ता की एकता, उसकी रहस्यानुभूति तथा तदनुसार किये जाने वाले आचरण का भी पता चल जाता है। इसके सिवाय जहां तक रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति विषयक अनिर्वचनीयता का प्रश्न है हमें यहां इसके भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं और कभी कभी तो यहां पर वैसी स्थिति में आकर अपनी बेचैनी एवं आर्त्तभाव प्रकट करने वाले साधक की ओर से साध्य के प्रति प्रदर्शित किसी ऐसी सुंदर मनुहार की झांकी तक मिलती है जिसकी ओर इसके पहले भी हमारा ध्यान आकृष्ट हो चुका है।[3] यदि रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता का भी कोई उदाहरण देना चाहें तो, हम 'कठोपनिषद्' के उस मंत्र का उल्लेख कर सकते हैं जिसमें कहा गया है "वह वाणी, मन अथवा चक्षु द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, उसके लिए केवल 'है' जितना कथन करने के अतिरिक्त हम और कह ही क्या सकते हैं? तथा उसे अन्यथा उपलब्ध ही कैसे कर सकते हैं।"[4] उपनिषदों में इस प्रकार भी कहा गया कई स्थलों पर मिलता है कि "यहां पर सदा

१. Dr. S. N. Das Gupta : Hindu Mysticism (Chicago, 1927) p. 18.

२. "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥
ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥"—ईशोपनिषद्, १।

३. वही, १५-१६।

४. "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुंशक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥" १२॥—अ० २, व० ६।

कर्म करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए और ऐसे कर्मों के प्रति अनासक्त भाव रखने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है।''[1]

परंतु इस प्रकार के अनासक्त भाव का अर्थ पीछे क्रमशः पूर्ण संन्यास भाव तक में भी परिणत हो गया जिस कारण विभिन्न प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न होने लगीं और महाभारत काल के यशस्वी वीर अर्जुन तक के हृदय में इस प्रकार की भावना घर कर गई कि युद्ध करना उचित नहीं। वे अपने समक्ष प्रस्तुत कर्त्तव्य वे पालन से विमुख होते जान पड़े जिस कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने यह उचित समझा कि उन्हें वस्तुस्थिति का सम्यक् बोध करा दिया जाय और उनकी मनोवृत्ति को उस परम सत्य की ओर उन्मुख कर दिया जाय जिससे उन्हें अपना मार्ग निश्चित करने में पूरी सहायता मिल सके और इस प्रकार उन्हें अपने जीवनादर्श का यथेष्ट परिचय भी प्राप्त हो जा सके। भगवान् श्री कृष्ण के प्रवचन द्वारा वीर अर्जुन यहां तक प्रभावित हुए कि उनके लिए सारे विश्व का रहस्य आपसे आप खुल गया जान पड़ा और अपनी ऐसी रहस्यानुभूति के परिणाम-स्वरूप, उन्होंने अपनी दृष्टि अपने अंतिम लक्ष्य के प्रति उन्मुख कर दी तथा इस प्रकार, अपने कर्त्तव्य का पालन करने में उन्हें कोई हिचक न हो सकी। उपनिषत् काल के लोग अधिकतर प्रबल जिज्ञासा द्वारा प्रेरित होकर वास्तविक रहस्य का पता लगाना चाहते थे जिसका कारण उनके किये गए यत्नों को हम कुछ अंशों में दार्शनिक भी ठहरा सकते हैं और उनमें कभी कभी शास्त्रीयता की भी गंध प्रतीत हो सकती है। किंतु महाभारत काल की इस अपूर्व घटना ने इस बात को पूर्णतः सिद्ध कर दिया कि ऐसे प्रश्नों का महत्त्व सर्वथा व्यावहारिक भी हो सकता है। 'गीता' में विश्वात्मक सत्ता को 'अव्यक्त' कहा गया है और उसकी निर्विशेष एकता का प्रतिपादन करते हुए उसे 'पुरुष' का रूप तक दे दिया गया है। ऐसे रहस्यात्मक तत्त्व की अपूर्वता का परिचय हमें वहां पर इस बात से भी मिल जाता है कि वीर अर्जुन को जब उसकी एक झांकी मिलती है और वह इसके कारण आश्चर्य-चकित हो जाता है तो फिर इसके फलस्वरूप, उसे एक ऐसी विचित्र शांति का भी अनुभव होने लगता है जिस से वह प्रकृतिस्थ बन जाता है और यह उसकी मनोवृत्ति में सहसा एक ऐसे किसी झकझोर के आने से ही संभव होता है जो उसे वस्तु स्थिति के अनुसार बदल सा देती है यही उसमें आमूल परिवर्तन का आ जाना है तथा इसी कारण उसके जीवन में कोई कायापलट भी हो सका है जिसे हम उसके पुनर्जन्म तक की संज्ञा दे सकते हैं और जिसकी दशा में आ जाने पर ही वह ऐसा कार्य करने की ओर प्रवृत्त हो सका है जो उसे पहले नितांत अश्रेयस्कर लगता था।

इसी प्रकार 'गीता' के रहस्यवाद की यह एक अन्य विशेषता है कि इसमें प्रदर्शित रहस्यानुभूति बहुत कुछ वैसी बौद्धिक सी ही नहीं लगती जैसी उपनिषदों में देखी जा सकती है और जिसमें मस्तिष्क एवं हृदय का पारस्परिक सहयोग न लक्षित होता हो। यह कदाचित्, 'अव्यक्त' को केवल 'व्यक्त' के ही रूपमें न देखकर उसे 'पुरुष' के व्यक्तिपरक रूपमें भी स्वीकार कर लेने के कारण है जिससे न केवल वैसे साध्य की अनुभूति में अधिक स्पष्टता ही आ जाती है, अपितु जिसके माध्यम से हमें एक ऐसा सुअवसर भी मिल जाता है जब हम अपनी वृत्ति पर श्रद्धा, भक्ति

---

१. **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति, न कर्मलिप्यते नरे॥" २॥—**ईशोपनिषद्।**

एवं प्रेम जैसे सरल मनोभावों का गहरा रंग चढ़ाने लगते हैं और इस प्रकार, उसमें क्रमशः इतनी दृढ़ता और स्थिरता आने लगती है कि वह हमारे जीवन की चिर-संगिनी तक बन जाती है। उपनिषदों में दीख पड़ने वाला 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' जैसा वाक्य ब्राह्मीस्थिति का पूर्ण परिचायक हो सकता है और उसकी पराकाष्ठा तक को सूचित कर सकता है, किंतु उसकी अनुभूति में जो बौद्धिकता का नीरसपन दीख पड़ता है वह सदा सब किसी को एकसा आकृष्ट नहीं कर सकता। इसके विपरीत 'गीता' के अंतर्गत भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा 'मय्यर्पित मनोबुद्धि' जैसी दशा में रहकर अनासक्त भाव के साथ कर्त्तव्य करने के लिए दिया गया उपदेश उससे प्रत्यक्षतः किंचित् निम्नतर कोटि की स्थिति की ओर निर्देश करता हुआ भी हमारे लिए किसी अधिक सरस एवं सांद्र अनुभव का ही आदर्श रखता है। संभवतः यही कारण है कि रहस्यवाद का औपनिषदिक रूप अधिकतर उन्हीं को आकृष्ट कर सका जिनका बौद्धिक स्तर ऊंचा रहा, किंतु उसके गीतावाले रूप को ऐसे व्यक्तियों ने भी अपनाने की चेष्टा की जो वहां तक नहीं पहुंच सकते थे। इसके सिवाय सर्वसाधारण तक के समाज को प्रभावित करने वाले इधर के भक्तिपरक आंदोलनों ने भी ऐसे रहस्य-वाद को लोकप्रिय बनाने में सहयता पहुँचाई। वैष्णव सम्प्रदाय में कदाचित् सर्वप्रथम, आरंभ होकर इसने शैव सम्प्रदाय जैसे अन्य धार्मिक वर्गों तक को पूर्ण प्रभावित किया और फिर, भक्तिभाव के अधिक प्रेमात्मक बन जाने पर इसका इतना प्रचार हो चला कि जिस रहस्यवाद को हमने कभी पहले 'बौद्धिक' जैसा विशेषण देना उचित समझा था उसने इसके कारण, न केवल मनोभावात्मक प्रत्युत शृंगारिक रूप तक ग्रहण कर लिया। इस प्रकार गीताकालीन रहस्यवाद को यदि हम किसी 'भावयोग' मात्र की संज्ञा दे सकते थे और उसकी जैसी रहस्यानुभूति की आधारभूत सत्ता को किसी स्वामी, सखा, आदि का ही जैसा रूप दे सकते थे तो इधर के मध्यकालीन रहस्यवाद का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो जाने के कारण, हम इसकी गणना 'मधुरोपासना' तक के साथ करने लग गए जिसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि बौद्धिक अनुशासन क्रमशः शिथिल पड़ता चला गया और भावावेश में वृद्धि होती जाने के कारण, वह संतुलन और संयम का जीवन जिसे कभी अंतिम लक्ष्य रूप में स्वीकार किया गया था अपनी आंखों से ओझल हो गया। जिन भक्तों एवं संतों ने ऐसी परिस्थिति के आने पर भी अपने को संभाल रखने का यत्न किया उनकी संख्या कम नहीं है और इसके अनेक उत्कृष्ट उदाहरण विभिन्न भारतीय भाषाओं के भक्ति साहित्य में अभी आज तक भी सुरक्षित हैं। परंतु, उनके नाम लेकर तथा उनकी रचनाओं का विस्तृत विवेचन कर उनमें निहित विशेषताओं को उदाहृत करने का लोभ हमें यहां समयाभाव के कारण जान-बूझ कर संवरण करना पड़ रहा है।

बौद्ध धर्म के रहस्यवाद पर विचार करते समय हमें उसके उन तीनों रूपों पर ध्यान देना पड़ सकता है जो क्रमशः स्वयं गौतम बुद्ध की व्यक्तिगत साधना एवं जीवन में, बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा में तथा उसकी महायान शाखा आदि उपशाखाओं में लक्षित होते कहे जा सकते हैं। गौतम बुद्ध ने अपने आध्यात्मिक जीवन में, सर्वप्रथम बड़ी उत्कट जिज्ञासा लेकर प्रवेश किया था। उन्हें अपने प्रारंभिक जीवन में ही कुछ ऐसे कटु अनुभव हो गए थे जिनके कारण उनका हृदय क्षुब्ध हो चुका था और वे चाहते थे कि उनके कारण उठने वाले कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान किसी प्रकार किया जा सके और उन्हें शांति मिल सके। उन्होंने इसके लिए विकट साधनाएं कीं,

अनेक बड़े व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श किया और घोर यत्नों के अनंतर जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ उससे उन्हें वस्तुस्थिति का बोध हो गया। उन्होंने अपने समक्ष प्रस्तुत सांसारिक दुखों का स्वरूप, उनका कारण तथा उन्हें दूर करने के उपाय के विषय में निर्णय कर लिया जो उनका अपना ध्येय था और जिसके मार्ग से होकर चलने को ही उन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया। इस आदर्श को उन्होंने 'निर्वाण' का नाम दिया है जिसे कभी कभी 'शून्य' के रूप में भी समझा जाता है, किंतु जिसे उन्होंने संभवतः पूर्णता के रूप में स्वीकार किया था। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण एवं शून्य में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है और जैसा हम इसके पहले भी देख चुके हैं, ये दोनों शब्द वहां पर अभाववाचक भी नहीं समझे जाते। खरहे के सिर पर सींग का 'अभाव' रहता है, किंतु वह वैसी दशा में बौद्ध धर्म के 'निर्वाण' का सूचक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जलती हुई आग बुझ जाती है और वैसी दशा को उसका 'लोप' वा 'क्षय' हो जाने की स्थिति बतलायी जाती है, किंतु बौद्ध धर्म का 'निर्वाण' उस प्रकार का भी नहीं है। इसके सिवाय कभी कभी यह भी देखा जाता है कि यदि किसी जगह कोई भी पदार्थ न हो तो उसे 'रिक्त' कहा जाता है, किंतु बौद्ध धर्म के निर्वाण' पर विचार करते समय हम इसे उस प्रकार की किसी रिक्तता के रूप में भी स्वीकार नहीं कर सकते। वास्तव में, जैसा जापानी लेखक सुजुकी ने कहा है, "बौद्ध धर्म के निर्वाण अथवा शून्य को हम किसी सापेक्षता के स्तर पर स्वीकार ही नहीं कर सकते। यह नितांत निरपेक्ष शून्य है, जहां तक पहुंचने में ऐसी सारी पारस्परिक सापेक्षताओं को असमर्थ बन जाना पड़ता है और वहां न तो ज्ञाता वा ज्ञेय रहा करता है, न जीवन वा मरण रहता है और न ईश्वर एवं जगत्, 'कुछ' एवं 'कुछ नहीं' 'हां' एवं 'नहीं' तथा 'स्वीकृति' एवं 'अस्वीकृति' जैसी परस्पर-विरोधी बातों का ही कोई प्रश्न उठ पाता है। निर्वाण वा शून्य की दशा में इसी कारण, कभी देश वा काल अथवा वस्तुतत्त्व तक का अस्तित्व नहीं रहा करता, प्रत्युत ये सभी उसके ही आधार पर संभव होते हैं और वह एक ऐसा विचित्र 'शून्यात्मक विंदु' है जिसके अंतर्गत अमित संभावनाओं को प्रश्रय मिलता है और जिसमें अशेष तत्त्व भरे रहते हैं।"[१]

इस प्रकार, 'निर्वाण' शब्द की इस रूप में की गई व्याख्या के अनुसार हमें यह समझते देर नहीं लगती कि इसका भी स्वरूप संभवतः वैसा ही हो सकता है जैसा उपनिषदों के अंतर्गत अव्यक्त वा अक्षर ब्रह्म के लिए बतलाया गया है। इन दोनों में कोई तात्त्विक अंतर नहीं हो सकता। अतएव, बौद्ध धर्म के रहस्यवाद का भी अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि हम ऐसी रहस्यमयी निर्वाण-दशा की अनुभूति उपलब्ध करें और इसके फलस्वरूप उस पूर्णता की दशा तक भी पहुंच जा सकें जो इसके अनुसार हमारे जीवन का आदर्श कही जा सकती है। गौतम बुद्ध ने इस स्थिति की उपलब्धि के लिए अपनी सारी तृष्णाओं का त्याग कर देना और परम बोधि की दशा में आ जाना आवश्यक बतलाया था। निर्वाण की यह दशा किसी साधक के जीवन-काल में ही प्राप्त की जा सकती थी और वह तदनुसार अपने समाज में आचरण भी कर सकता था। इसके लिए उसे किसी स्वर्ग में जाने अथवा वहां पर किसी अपने इष्टदेव के सान्निध्य में निवास करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अपने जीवन-काल का अंत हो जाने पर तो उसे 'परिनिर्वाण' की दशा प्राप्त हो जाती रही

१. Mysticism Christian and Buddhist, pp. 27-8.

जिसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना हमें अत्यंत कठिन जान पड़ता है और वास्तव में, हमें रहस्यवाद की चर्चा के प्रसंग में उसका कोई महत्त्व भी नहीं है। इसके लिए यहां पर केवल 'निर्वाण' शब्द के समझने तथा उसके अर्थ की व्यापकता की परीक्षा करने की ही आवश्यकता है। यों देखने पर यह केवल किसी स्थिति विशेष का ही परिचायक जान पड़ता है, किंतु यदि इस पर पूर्ण विचार किया जाय तो यह अंत में, उस परमतत्त्व का भी प्रतिनिधित्व करने लग जाता है जिसे परमात्मा एवं परमेश्वर कहा जा सकता है। यह भी एक विचित्र सी बात है कि जिस दशा को प्राप्त कर लेने पर गौतम बुद्ध को मानसिक शांति प्राप्त हो सकी थी वह वस्तुतः किसी की मानसिक शक्ति के अनुभवातीत है। हीनयान शाखा की प्रसिद्ध पुस्तक 'उदान' के अंतर्गत इस 'निर्वाण' की बड़ी विशद् व्याख्या की गई दीख पड़ती है जिसको उद्धृत करके उस पर टीका-टिप्पणी करते हुए डब्लू० टी० स्टेस नामक दार्शनिक ने लिखा है "इसके प्रथम उद्धृत अंश से पता चलता है कि निर्वाण पूर्णतः अचिंत्य है और इसे किसी भी साधारण अनुभव के माध्यम द्वारा समझा नहीं जा सकता। यह उपनिषदों के अंतर्गत बतलाये गए संकेत 'नेति, नेति' की जैसी भाषा में ही प्रकट किया जा सकता है और इसी कारण, यह स्पष्ट है कि यह रहस्यात्मक एवं असत्याभासात्मक तक भी है।"[१] अतएव, इस प्रकार की रहस्यानुभूति के विषय में भी हम यही कर सकते हैं कि निर्वाण की दशा में कोई व्यक्ति चाहे भले पूर्ववत् किसी दूसरे व्यक्ति से अपने को पृथक् न माने और इस प्रकार उसका व्यक्तित्व नष्ट भी हो जाय, किंतु यदि वैसी स्थिति की निःसीम व्यापकता की दृष्टि से देखा जाय तो वह वस्तुतः अपनी सीमित दशा से विकसित होकर असीम और अनंत की स्थिति में भी आ जाता है।

हमने 'निर्वाण' के विषय में यहां पर विस्तृत चर्चा इसलिए की है कि वास्तव में यही रहस्यवाद के लिए बौद्ध धर्म की देन भी है। अभी तक जो कहा गया है वह 'निर्वाण के उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसका वर्णन स्वयं गौतम बुद्ध द्वारा किया गया बतलाया जाता है तथा जिसके संबंध की बातें हीनयानी शाखा के अनुयायी भी स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। परंतु, महायानी शाखा के ग्रंथों का गंभीर अध्ययन करने वाले विद्वानों के अनुसार, उस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इस विषय की व्याख्या और भी अधिक सूक्ष्मता के साथ की है। महायानी पंडितों ने सारे अनर्थों की जड़ दूषित चित्त को ठहराते हुए यह बतलाया है कि यदि इसे अपने विशुद्ध रूप में ला दिया जा सके तो यही वस्तुतः हमारे निर्वाण की स्थिति का परिचायक भी बन जा सकता है। "यही अंतिम विशुद्धता है, यही एकता है और यही वह सर्वग्राही संम्पूर्णता भी जिसे हम दूसरे शब्दों में, सत्य का सारतत्त्व भी कह सकते हैं, यह जन्म-मरण से परे है और स्वयंभूत तथा शाश्वत भी है,"[२] और इस प्रकार, जिस निर्विशेष एकता की चर्चा हम लोग रहस्यवाद के प्रसंग में करते आये हैं उसमें तथा इस 'विशुद्ध चित्त' में कोई अंतर नहीं प्रतीत होता। चित्त के शुद्धीकरण की ऐसी साधना उस रहस्यवाद का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग बन सकती है जिसे हम 'अंतर्मुखी रहस्यवाद' का नाम दे आये हैं और जिसकी अनुभूति के उपलब्ध हो जाने पर उसके परिणामस्वरूप, साधक के बाह्याचरण

---

१. The Preaching of the Mystics, p. 72.

२. Do. quoted from Ashvaghosa's, Awakening of Faith, p. 79.

में भी कोई भेदभाव नहीं रह जाता। यहां तक कि जब हमें इसके अनुसार सम्यक् दृष्टि मिल जाती है तो हमें वह संसार तक निर्वाण रूप धारण कर लेता है जिसे हम पहले हेय मानते थे।

महायानी बौद्ध धर्म की इस विशेषता का परिचय देते समय हमें उसकी उपशाखा जेन सम्प्रदाय की भी कुछ बातों की चर्चा कर देना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि रहस्यवाद के प्रसंग में इसका बहुत महत्त्व है और यह विशेषकर इस कारण है कि इसकी एक धारणा विशेष जिसे जापानी भाषा में 'सतोरी' का नाम दिया गया है और जिसकी ओर हम कुछ संकेत पहले भी कर आये हैं इस संबंध में अधिक महत्त्व रखती है। हमने अभी, ईसाई दार्शनिक संत एखार्ट के साथ बौद्ध रहस्यवादियों की तुलना करते समय, उसके a little point अर्थात् 'सूक्ष्मक्षण' को ठीक 'सतोरी' की दशा के समान बतलाया था और कहा था कि इसके द्वारा हमें सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वास्तव में यह 'सतोरी' शब्द उस बोधि अथवा 'अनुहर सम्यक्-संबोधि' का ही एक अन्य नाम है जिसका वर्णन स्वयं गौतम बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे इस दशा को प्राप्त कर लेने पर किया था तथा जिसका प्रयोग उसके अनंतर उनके अनुयायी भी बराबर करते चले आये हैं। 'सतोरी' की परिभाषा देते हुए डी० टी० सुजुकी ने कहा है कि "यह किसी वस्तु के स्वरूप को उसके अंतस्तल तक प्रातिभ ज्ञान द्वारा पहुंच कर देखने लगना है जिस कारण यह ज्ञानोपार्जन की उन शैलियों से नितांत भिन्न है जिन्हें विश्लेषणात्मक अथवा तर्काश्रित कहा जाता है। वास्तव में इसका अभिप्राय उस नये संसार को अनावृत्त कर लेना है जो हमारी द्वैतपरक और भ्रमात्मक प्रक्रिया के कारण, अभी तक अज्ञात रहा है। . . . इसका संबंध जीवन की समग्रता के साथ है, क्योंकि जेन सम्प्रदाय का प्रमुख उद्देश्य अपनी आध्यात्मिक एकता की अनुभूति में न केवल कोई क्रांति, अपितु पुनर्मूल्यांकन तक ला देने का रहा करता है"[१] और उसे किसी प्रकार के क्षणिक समाधान से कभी पूरा संतोष नहीं हो पाता।

अतएव, यदि यहां पर संक्षेप में 'सतोरी' की प्रमुख विशेषताओं की भी चर्चा कर दी जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि न केवल इसके द्वारा उस विचित्र साधना वा प्रक्रिया का कुछ परिचय मिल सकेगा, प्रत्युत हमें इस बात का भी पता चल सकेगा कि उसका रहस्यवाद से क्या संबंध है। 'सतोरी' की सर्वप्रथम विशेषता इस बात में दीख पड़ती है कि यह सदा अबौद्धिक, अनिर्वचनीय तथा असंप्रेषणीय हुआ करती है और इसी प्रकार, इसकी दूसरी विशेषता, इसके उस अनुभवेन्द्रिय को काम में लाने में दीख पड़ती है जिसे प्रातिभ ज्ञान (Intuition) की शक्ति वा अंतर्दृष्टि कहा जा सकता है और जिसके सहारे यह न केवल किसी पदार्थ-विशेष को जान लेती है, अपितु इसे उसकी वस्तुस्थिति का भी परिचय मिल जाता है। 'सतोरी' की तीसरी विशेषता इसके ज्ञान की उस प्रामाणिकता में दीख पड़ती है जो सदा उसके अंतिम और पूर्ण होने की दशा में ही संभव है। अतएव, इसकी चौथी विशेषता किसी ऐसी स्वीकृतिसूचक मनोवृत्ति में पायी जाती है जिसमें किसी प्रकार की हिचक नहीं रह जाती। इसी प्रकार इसकी पांचवीं विशेषता इस भावना में परिणत होती जान पड़ती है कि जिस प्रकार का अनुभव हमें हो रहा है ठीक वही दूसरों को भी हो सकता

---

१. D. T. Suzuki : Essays in Zen Buddhism (First Series) Rider and Company, London 1926, p. 228.

है और इसी कारण, इसकी छठीं विशेषता के अनुसार इसकी अनुभूति में केवल किसी कोरे व्यक्तिगत ज्ञान का प्रश्न नहीं उठता और वह सार्वभौम सा लगा करता है। इसकी सातवीं विशेषता यह है कि इसके द्वारा हमें उस अचेतन तक की अनुभूति हो जा सकती है जिसे हम निर्विशेष कह सकते हैं जिस कारण हमें अपने भीतर हर्षातिरेक हो जाया करता है और इसकी अंतिम आठवीं विशेषता इस बात में दीख पड़ती है कि इसका अनुभव सदा आकस्मिक हुआ करता है।[१] इस प्रकार 'सतोरी' की दशा ठीक उसी प्रकार की कही जा सकती है जैसी रहस्यवादियों द्वारा प्रातिभ ज्ञान प्राप्त करने के समय हुआ करती है और इसके आधार पर इतना और भी कहा जा सकता है कि ज़ेन सम्प्रदाय की यह साधना वा प्रक्रिया स्वभावतः रहस्यानुभूति के सर्वथा अनुकूल कही जा सकती है। 'सतोरी' में सिद्धि प्राप्त करने के पहले प्रायः उन कतिपय वाक्यों के ऊपर ध्यान देने का अभ्यास किया जाता है जिनका प्रयोग सिद्ध ज़ेनी महापुरुषों द्वारा किसी प्रश्न के उत्तर में किया गया रहता है और जिसे Koan (कोअन) की संज्ञा दी गई पायी जाती है।

बौद्धधर्म का ज़ेन सम्प्रदाय चीन और जापान दोनों देशों में प्रचलित है, किंतु इसे अधिक महत्त्व जापान में ही दिया जाता है। चीन देश में रहस्यवाद की भावनाओं को प्रकट करने वाला एक अन्य धर्म भी है जिसे ताओ धर्म कहा जाता है और जिसका आरंभ संभवतः ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में हुआ था। इस ताओ धर्म का 'ताओ' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसका अभिप्राय अधिकतर 'मार्ग' शब्द के अर्थ द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किंतु यह मार्ग किसी व्यक्ति विशेष का जीवन-मार्ग है अथवा इसे विश्व-संचालन का प्राकृतिक सार्वभौम नियम कह सकते हैं, यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी इतना निश्चित है कि इस शब्द के अर्थ की व्यापकता के अंतर्गत उन सारी बातों का समावेश किया जा सकता है जो वेदांत के ब्रह्म, दार्शनिकों की निरपेक्ष सत्ता अथवा बौद्धों के निर्वाण तक जैसे शब्दों द्वारा प्रकट हो सकती हैं। 'ताओ' को हम अव्यक्त और 'शून्य' भी कह सकते हैं। इस धर्म के सर्वप्रमुख प्रचारक लाओज़े के अनुसार "यह किसी ऐसी सत्ता का नाम है जिसे हम समझ नहीं सकते, जो पूर्ण है और जो स्वर्ग एवं भूतल दोनों के पूर्व भी विद्यमान था। यह निःशब्द और निराकार है और यही एकमात्र ऐसी वस्तु है जो न तो नष्ट हो सकती है, न परिवर्त्तित हो सकती है और न जिसमें कोई विकार ही आ सकता है। यह सर्वव्यापक है और इसे सबकी माता भी कह सकते हैं। मैं इसका नाम नहीं जानता, किंतु इसे 'ताओ' मात्र कह देता हूं और यदि मुझे इसके लिए कोई दूसरा नाम भी देना पड़े तो केवल 'महान्' शब्द का प्रयोग कर सकता हूं।" "मनुष्य पृथ्वी के नियमों द्वारा संचालित होता है, पृथ्वी स्वर्ग के नियमों द्वारा संचालित होती है और स्वर्ग 'ताओ' द्वारा संचालित हुआ करता है।"[२] इस प्रकार इस 'ताओ' शब्द को हम एक ही साथ परमतत्त्व के अव्यक्त एवं व्यक्त दोनों रूपों का बोधक मान सकते हैं। ताओ धर्मियों ने इसे 'वास्तविक एकता' अथवा 'असंभवों का मिलन' जैसा कोई नाम भी दिया है जिसके अनुसार

---

१. D. T. Swzuki : Essays in Zen Buddhism (Second Series) London 1950, pp. 28-34.

२. A. Govindacharya Swamin : A Metaphysiqe of Mysticism (Mysore 1923) के पृष्ठ ३१५ पर उद्धृत।

हम इसका 'गीता' के 'द्वंद्वातीत' का जैसा होना भी अनुमान कर सकते हैं। यह एक ऐसी शाश्वत सत्ता है जिसके लिए हम किसी व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते और इसे केवल 'सत्' मात्र भी कह सकते हैं। ताओ की एकता से द्वैतता उत्पन्न होती है, द्वैतता से त्रैतता का आविर्भाव होता है और अंत में फिर उसके द्वारा बहुत्व भी प्रकट हो जाया करता है। इस कारण, अपनी साधना द्वारा, इसके विपरीत क्रम से बहुत्व की ओर से एकत्व अथवा 'ताओ' की ओर बढ़ना और उसे उपलब्ध कर लेना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होगा। ताओ को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को पूर्ण बोध हो जाता है और वह सदा के लिए एकत्व का जीवन यापन करने लग जाता है।

अतएव, ताओ धर्म की 'ताओ' नामक सत्ता की रहस्यमयता सिद्ध हो जाती है तथा हमें इसकी उस एकता का भी पता चल जाता है जिसका स्वरूप हमारी पूर्वकथित विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता से भिन्न नहीं ठहराया जा सकता। ऐसी एकता की स्थिति का पूरा अनुभव कर लेना तथा इस प्रकार, अपनी ऐसी रहस्यानुभूति के ही आलोक में अपना जीवन-यापन करना, ताओ धर्म के अनुसार सब किसी का परम कर्त्तव्य होना चाहिए, क्योंकि इसी को मानव जीवन का परमोत्कृष्ट आदर्श भी कहा जा सकता है। साधारण जीवन में हमें 'यह' और 'वह' तथा 'मैं' और 'तू' की जैसी अनेक द्वंद्वात्मक भावनाएं काम करती दीख पड़ती हैं, किंतु इनका अवसान ताओ-परक जीवन में हो जाता है और हम इस प्रकार किसी ऐसी स्थिति में आ जाया करते हैं जिसमें विशुद्ध एकत्व तक का आभास नहीं हो पाता। हमें उस समय, वस्तुतः कोई वैसा ज्ञान नहीं होता जो सापेक्षताजन्य कहलाता है और जिसके हमारे अपने साधारण जीवन में रहने पर ही हमें अनेक भ्रांतियां हो जाया करती हैं। इस प्रकार व्यक्ति एवं विश्व की वास्तविक एकता की अनुभूति, चीन के एक अन्य धर्म कनफ्यूशियस के भी अनुसार, सभी का लक्ष्य होना चाहिए। परंतु, उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में हमें इन दोनों धर्मों के बीच कुछ अंतर भी लक्षित होता है। ताओ-धर्मी जहां साधारण ज्ञान की उपेक्षा करता जान पड़ता है, वहां कनफ्यूशियस का अनुयायी नैतिक आचरणपरक उपदेशों का विशाल संग्रह प्रस्तुत करता रहता है। इस दूसरे के अनुसार नैतिक आचरण के द्वारा किसी व्यक्ति के स्वार्थ में क्रमशः कमी आने लगती है और अंत में, उसके लिए 'मैं' और 'तू' का भेद भी मिट जाता है जिस कारण ऐसी साधना को भावावेश पर आश्रित भी कह सकते हैं, जहां ताओ-धर्मी अधिकतर हृदय की अपेक्षा अपने मस्तिष्क का ही अनुसरण किया करता है। इसलिए प्रथम धर्म के अनुसार जहां प्रवृत्ति मार्ग को प्रश्रय देना अभीष्ट रहता है, वहां द्वितीय के अनुसार निवृत्ति मार्ग का महत्त्व बढ़ जाया करता है।[१]

इस प्रकार भारतीय रहस्यवादी हिंदू धर्म एवं बौद्ध धर्म अथवा चीनी ताओ धर्म की रहस्य-परक धारणाओं में विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता। हिंदू धर्म का रहस्यवादी जहां अपनी परमतत्त्वमयी सत्ता को किसी अव्यक्त सत् के रूप में स्वीकार करना चाहता है और फिर उससे क्रमश. व्यक्त ईश्वर तथा उसके व्यक्तित्व-संपन्न सगुण रूप तक की कल्पना कर लेता है, वहां ताओ-धर्मी अपने ताओ के क्रमशः विभक्त होते जाने की चर्चा करता है और इन दोनों प्रकार के

---

१. History of Philosophy Eastern and Western (London, 1952), pp. 569-70.

साधकों का अँतिम लक्ष्य फिर वैसी अद्वैत सत्ता में अंतर्भुक्त हो जाने का ही जान पड़ता है जिससे बौद्ध धर्म के 'निर्वाण' की ओर अग्रसर होनेवाले किसी रहस्यवादी साधक को भी स्वभावतः सहमत होना पड़ता है। इनकी धारणाओं में जो कुछ अंतर प्रतीत होता है वह केवल इतना ही जान पड़ता है कि हिंदू रहस्यवादी जहां अपने लक्ष्य को केवल 'सत्ता' मात्र का ही स्वरूप प्रदान करना चाहता है, वहां बौद्ध रहस्यवादी उसे 'निर्वाण' की स्थिति कहा करता है तथा उसी को ताओ धर्मी 'ताओ' अर्थात् किसी मार्ग का नाम दे देता है। परंतु ऐसा अंतर कभी वास्तविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह केवल किसी एक ही वस्तु को भिन्न दृष्टियों से देखने के कारण भी हो सकता है। हिंदू रहस्यवादी जिस वस्तु की केवल एक भावना मात्र बना लेता है और उसकी अनुभूति की स्थिति में आ जाना चाहता है, वहां पर बौद्ध रहस्यवादी उसे प्रत्यक्षतः किसी स्थिति वा दशा के ही रूप में स्वीकार करके आगे बढ़ता है तथा उसी को अंत में, ताओ रहस्यवादी न केवल वैसी दशा की उपलब्धि, अपितु तदनुसार निर्मित मार्ग का दृष्टिकोण की कल्पना मात्र कर लेना भी अपने लिए पर्याप्त मान लेता है। इसी प्रकार वैसी रहस्यानुभूति के आधार पर किसी रहस्यवादी साधक के तद्रूप बन जाने के विषय में भी इन तीनों धर्मों के अनुयायियों में कोई विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता और न तदनुसार उसके आचरण में ही कोई मतभेद लक्षित होता है। इन तीनों प्रकार के रहस्यवादियों में हमें यहां तक भी साम्य जान पड़ता है कि ये संसार के प्रति अपनी कोई अच्छी भावना नहीं बना पाते, प्रत्युत इसे कभी विनश्वर, कभी क्षणिक और कभी दुःखमय जैसा समझते हुए इससे यथासंभव पृथक् बने रहने की ही चेष्टा करते हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये इसके प्रति घृणा प्रदर्शित करते हैं, प्रत्युत यह कि ये इसके सुधारने के लिए उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा भी किया करते हैं।

प्लोटिनस (सन् २०५-२७० ई०) जिसने पश्चिमी रहस्यवादियों में से कई के लिए पथ-प्रदर्शक का काम किया मूलतः मिस्र देश का निवासी था और वहीं के अलेग्जांड्रिया विश्वविद्यालय में शिक्षा पाकर उसने भारत की यात्रा करने का भी संकल्प किया था। हमें इस बात का यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं कि वह इसे कहां तक पूरा कर सका, किंतु उसकी विचारधारा से पता चलता है कि वह यहां के ज्ञान से अवश्य परिचित रहा होगा। उसके किसी धर्मविशेष का अनुयायी होने का भी हमें पता नहीं, किंतु इतना स्पष्ट है कि वह स्वभावतः धार्मिक वृत्ति का ही व्यक्ति रहा होगा। उसकी परमतत्त्व-विषयक धारणा विश्वात्मवाद वा सर्वचेतनवाद अर्थात् Pantheism को स्वीकार करती जान पड़ती है और यह उसे 'एकमात्र' भी बतलाती है, किंतु हम उसे वेदांत के शुद्ध चेतन रूप ब्रह्म का भी स्वरूप नहीं प्रदान कर सकते। उसके संबंध में हम केवल अद्वैत भर कह सकते हैं और यदि उसे किसी ईश्वर के रूप में स्वीकार करना हो तो यह केवल इसी लिए हो सकता है कि वह सभी कुछ का मूल स्रोत एवं लक्ष्य भी है। किंतु प्लोटिनस का वह 'एक' सृष्टि की रचना नहीं करता, प्रत्युत उसके अनुसार सारे विश्व का उद्‌भव आप से आप हो गया है जिससे सिद्ध है कि यह भी तत्त्वतः वही है जो उक्त 'एक' है। उस एक से इस जगत् का उद्‌भव किसी क्रम के अनुसार होता है और वह किसी चेतन रूप से क्रमशः भौतिक रूप में आ जाता है और यदि उस मूल स्रोत को हम सूर्य के रूप में स्वीकार कर लें तो कह सकते हैं कि वहां से उसकी किरणें चलती हैं और वे क्रमशः मंद पड़ती चली आती हैं। इसलिए जिस प्रकार वह क्रम ऊपर से नीचे की ओर

चलता है उसी प्रकार साधक इसके विपरीत चलकर उसको फिर उपलब्ध कर ले सकता है। प्लोटिनस की यह एक विशेषता है कि अपने कथनानुसार उसने स्वयं भी साधना करके वैसी स्थिति को कई बार प्राप्त किया है। उसका इस विषय में कहना है—"अतएव, यही देवताओं तथा आध्यात्मिक और आनंदित मनुष्यों का जीवन है, इसके द्वारा सभी सांसारिक बंधनों से मुक्ति मिल जाती है। इसके साथ मानवीय हर्ष का कोई सम्मिश्रण नहीं रहा करता और इसे 'किसी एक एकाकी का उस एकाकी और अद्वितीय की ओर उड़ान' कहा जा सकता है।"[1] अतएव, प्लोटिनस का वह 'एक भी विश्वात्मक सत्ता की एकता के जैसा ही लगता है और उसकी ओर अग्रसर होने तथा उसे प्राप्त' करने की प्रक्रिया को भी हम प्रायः उसी कोटि में रख सकते हैं जिसमें कम से कम 'ताओ' की ओर बढ़ने वाले साधकों की साधना को रखा जा सकता है। परंतु प्लोटिनस के 'एकाकी के प्रति एकाकी की उड़ान' जैसे कथन से प्रतीत होता है कि उसके आदर्श में भूतल वा संसार के कल्याण की भावना न होगी और वह किसी ऐसी स्थिति को उपलब्ध करने का ही प्रयास करना चाहता होगा जो अभौतिक और कदाचित् स्वर्गीय जैसी हो। उसने हमारा ध्यान तीन प्रमुख तथ्यों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया है जिनमें से एक यह है कि वस्तुतत्त्व स्वभावतः आध्यात्मिक है, दूसरा यह कि उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना असंभव नहीं है तथा तीसरा यह कि विश्व 'एक' कल्याणमय और पवित्र है।"[2]

परंतु प्लोटिनस की सबसे बड़ी विशेषता कदाचित् परमतत्त्व को केवल 'एक' का संख्यात्मक रूप देने में निहित समझी जा सकती है। प्रसिद्ध है कि हज़रत इब्राहीम की जाति के लोग बहुदेववादी और मूर्तिपूजक थे और उनके पिता 'तेरह' ऐसी मूर्तियों के अंधभक्त तक बन गए थे। किंतु हज़रत इब्राहीम ने ही सर्वप्रथम, ऐसी अनेक मूर्तियों को अपने हाथों नष्ट करके उन्हें एक देववाद का मार्ग सुझाया। इस हज़रत इब्राहीम के वंशज वे यहूदी लोग कहे जाते हैं जिनकी जाति ने सर्वप्रथम, मूर्तिखंडन एवं एक देववाद के मत का प्रचार किया। हमें यहूदियों के इस एकदेववाद को प्लोटिनस की उक्त एकाकी सत्ता के लिए आदर्श स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है, किंतु इतना निश्चित है कि उसके ऐसे दार्शनिक सिद्धांत द्वारा उन्हें पीछे बहुत बड़ा बल मिला होगा और उसके कारण एक अन्य एकदेववादी धर्म इस्लाम भी अवश्य प्रभावित हुआ होगा तथा उसकी इसने कुछ और बातें भी ग्रहण की होंगी। यहूदी धर्म पैग़म्बरवादी था जिस कारण उसमें रहस्यवादात्मक भावनाओं के प्रवेश करने की गुंजायश कम हो सकती थी। इसके सिवाय इस धर्म के भीतर जो परमात्मतत्त्व के प्रति किसी सम्राट वा महान् शासक का आदर्श काम करता था उसके कारण भी इसमें रहस्यवाद की कई बातों का समावेश नहीं किया जा सकता था और न उन्हें किसी प्रकार अपनाया ही जा सकता था। उदाहरण के लिए, परमेश्वर के प्रति वैसी भावना रहने के कारण

---

१. "And this, therefore, is the life of the gods and the divine and happy men, a liberation from all earthly concerns, a life unaccompanied with human pleasure and there the flight of the Alone to the Alone." Quoted in Mystics and Mysticism (Madras, 1951) by P. N. Shrinivasachari, p. 99.

२. Dr. W. R. Inge : Mysticism in Religion, p. 109.

यहूदी रहस्यवादियों ने उसके साथ मिलन को कभी, उसमें विलीन होने अथवा उसके तद्रूप हो जाने जैसा नहीं माना। वे बराबर उससे अपने को कुछ न कुछ दूरी पर ही रखते आये जिस कारण उनके रहस्यवाद को Throne Mysticism अर्थात् 'सिंहासनपरक रहस्यवाद' की जैसी संज्ञा देते हुए प्रो० स्कोलेम (Scholem) ने बतलाया है कि "उसका आदर्श 'एज़कील' में वर्णित सिंहासन पर आसीन ईश्वर की आकृति का स्वरूप का दर्शन-मात्र कर लेना"[1] कहा जा सकता है और इसी कारण, उनकी अनुभूति के वर्णन में भी हमें बाह्याडंबर की ही चर्चा मिलेगी। हम उसे अंतर्मुखी रहस्यवाद का नाम नहीं दे सकते, प्रत्युत उसमें द्वैतवादी भावनाओं की पूरी झलक तक भी देख सकते हैं। 'कबाली' धर्म-ग्रंथ 'ज़ोहर' को पढ़ने से तो पता चलता है कि यहूदी रहस्यवाद की अनेक बातों को गुप्त रखने का भी प्रचलन रहा होगा। इस ग्रंथ में ईश्वरीय सत्ता के दस गुणों का उल्लेख किया गया है और ईश्वर के सृष्टि के पूर्व वाले रूप को निराकार एवं असीम बतलाया गया है जो अज्ञेय भी है।

यहूदी रहस्यवादियों में बहुत से ऐसे लोगों की गणना होती है जो चासिडिम (Chassidim) अर्थात् पवित्र कहे जाते हैं। इन्होंने पूर्वी यूरोप के धर्मांध यहूदियों के विरुद्ध आंदोलन आरंभ किया था और अपने धर्म के अंतर्गत सुधार लाने का भी यत्न किया था। इन लोगों में ही प्रसिद्ध बालशेम (Baalshem) का नाम आता है जिसने ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा विशेषकर उसकी सर्वांतरस्थता का उपदेश दिया है जिसका एक परिणाम यह होता है कि उसकी सार्वभौमिकता को सिद्ध करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। बालशेम के ही एक शिष्य का कथन है कि "जैसे अपनी प्रियतमा के आभूषणों तक में किसी प्रेमी को उसके सौंदर्य का दर्शन हुआ करता है, उसी प्रकार ईश्वर के सच्चे प्रेमी की दृष्टि में, यह सारा दृश्यमान जगत् अपने रचयिता एवं स्वामी के अलौकिक ऐश्वर्य को घोषित करने लग जाता है।"[2] यह सभी कुछ उसकी महानता का अनंत और सुव्यवस्थित व्यक्तीकरण है और यह उसके अगाध प्रेम का भी परिचायक है। बालशेम के अनुसार अपने समग्र जीवन को ईश्वर की सेवा में लगा देने का अभिप्राय यह है कि इसके लिए कोई विशिष्ट दृष्टिकोण बना लिया जाय और अपने क्षुद्र से क्षुद्र कार्य को भी ऐसे अच्छे ढंग से पूरा किया जाय कि वह उसके सर्वथा उपयुक्त ठहराया जा सके। मूल यहूदी धर्म के ग्रंथों में भी इस प्रकार की बातों को न्यूनाधिक महत्त्व दिया गया मिलता है, किंतु इस पर क्रमशः अनेक टीकाटिप्पणियों के हो जाने के कारण, ये उतनी स्पष्ट नहीं हो पातीं और बहुत से धार्मिक नियमों का अंधानुसरण किया गया भी दीख पड़ता है। ईश्वर की इच्छा को जानने के लिए मनुष्य को दो साधन दिये गए हैं जिनमें से एक बुद्धि है और दूसरी प्राचीन पैग़म्बरों की वाणी है। इन दोनों की सहायता से हमें उस ईश्वरीय नियम का ज्ञान हो जा सकता है जिसे तोरा (Torah) अर्थात् 'ईश्वरीय विधान' कहा जाता है और जिसका पालन अनिवार्य है। यह 'तोरा' चीनी 'ताओ' का जितना व्यापक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह किसी शासक के आदेश-मात्र का प्रतिनिधित्व

---

१. G. G. Scholem : Major Trends in Jewish Mysticism (London, 1913) p. 33.

२. Solomon Schechter : Studies in Judaism (New York 1958), p. 187.

करता है जहां उस दूसरे के लिए कहा जा सकता है वह न केवल स्वयं निर्मित और स्वयं प्रचारित है, प्रत्युत उसमें स्वयं नियामक का व्यक्तित्व धारण कर लेने की शक्ति भी निहित है।

इस प्रकार हमें जान पड़ता है कि यहूदी रहस्यवाद का स्वरूप अपने आप एक नये ढंग का है। इसमें विश्वात्मक सत्ता किसी रहस्यात्मक रूप की कही जाती हुई भी, अपने पूर्ण और स्पष्ट व्यक्तित्व में दीख पड़ती है और अनेक प्रकार की रहस्यमयी अलौकिक शक्तियों द्वारा संपन्न प्रतीत होती हुई भी, अधिकतर किसी शक्तिशाली नियंता के रूप में शासन करती कही जाती है। उसमें अनंत गुणों का समाहार है और वह सर्वव्यापी सर्वांतर्यामी जैसे विशेषणों के लिए उपयुक्त भी है, किंतु वह किसी समाज विशेष की ओर अथवा विशेषकर अपने 'निर्मित' तोरा का अनुसरण करने वालों की ओर आत्मीयता प्रदर्शित किया करती है। इसके सिवाय इसकी उपलब्धि का वर्णन हमें उस रूप में करने की आवश्यकता नहीं पड़ती जिस रूप में विशुद्ध रहस्यानुभूति का वर्णन किया जाता है, प्रत्युत इसके किसी मूर्त्त देवता के रूप में अनुभूत होने के कारण, इसके काल्पनिक 'दर्शन' का सौभाग्य प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार, इसके आदेशों का पालन करते समय हमें कभी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हम उनके द्वारा पूर्णतः अनुप्राणित होकर अपना आचरण अथवा व्यवहार आप से आप करते जा रहे हैं, प्रत्युत हमें सदा ऐसा लगता है कि वह कहीं ऊपर से आकर हमें संचा-लित कर रहा है और हमें इसकी आवश्यकता नहीं कि उसके वास्तविक मर्म वा उद्देश्य को भली-भाँति समझ वा हृदयंगम कर लें। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के जीवन में भी हमें अपने पूर्ण आदर्श का बोध हो जा सकता है और हमें अपने साध्य के आलोक द्वारा आलोकित बनकर जीवन-यापन करने तथा उसे सर्वत्र अनुभव करने का स्वभाव भी पड़ जा सकता है। परंतु इस प्रकार की अनुभूति को हम अधिक से अधिक उस रहस्यवाद का ही रूप दे सकते हैं जिसे हमने बहिर्मुखी बतलाया था।

जैसा इसके पहले भी संकेत किया जा चुका है कि यहूदी धर्म की यह मौलिक विशेषता थी कि उसमें उन अनेक बातों का समावेश किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता था जिन्हें हमने भारतीय रहस्यवाद अथवा चीनी रहस्यवाद तक का आवश्यक अंग माना है। उसकी रहस्यमयता केवल गुप्तरूपता में परिणत हो जाती थी और किसी अलौकिकता का रूप धारण कर लिया करती थी तथा उसकी अपने लक्ष्य की प्राप्ति भी उसके अधिक से अधिक सान्निध्य तक में पहुंच जाने तक ही सीमित रह जाती थी। इसी प्रकार जिस विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता की अनुभूति को प्रकृत रहस्यवाद का अनिवार्य अंग सा समझा जाता है वह भी वहां पर किसी व्यक्ति के संख्यापरक एकत्व के ज्ञानमात्र का ही रूप धारण कर लिया करती थी। यहूदी धर्म की इन कतिपय विशेष-ताओं का प्रभाव हमें उन अन्य धर्मों पर भी पड़ता लक्षित होता है जो उसकी परंपरा में प्रतिष्ठित समझे जाते हैं और जिनमें क्रमशः ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म आते हैं तथा जिनके रहस्यवादात्मक स्वरूप को बहुत बड़ा महत्त्व दिया जाता भी दीख पड़ता है। इन दोनों में से प्रथम अर्थात् ईसाई धर्म का प्रचार यीशु ख्रीष्ट के उपदेशों तथा आदर्शों पर किया गया कहलाता है तथा इसी प्रकार दूसरे अर्थात् इस्लाम धर्म की उत्पत्ति एवं विकास का संबंध भी हज़रत मुहम्मद के व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ समझा जाता है। इस प्रकार इन दोनों धर्मों के लिए अपने अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा, किन्हीं ऐसे धर्म ग्रंथों के आधार पर ही की गई दीख पड़ती है जिनमें इनके संस्थापकों के उपदेशों का

सारतत्त्व संगृहीत हो। परंतु, जहां तक इन दोनों के अंतर्गत रहस्यवादी भावनाओं के अंतर्भुक्त होने की बात है, उनके अस्तित्व को इनके संस्थापकों से लेकर उनके पीछे आनेवाले अनेक आदर्श महापुरुषों के सात्विक जीवन द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है तथा इसके लिए हमें अनेक ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण दिये जाते हैं और अनेक ऐसी जीवनियों की चर्चा की जाती है जिनके आधार पर हमें इन दोनों धर्मों की रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त करने तथा उनका मूल्यांकन कर पाने तक का अवसर मिल जाता है। परंतु ये सामग्रियां इतनी अधिक हैं कि इनमें से केवल विशिष्ट अंशों को चुनकर कुछ कहने का प्रयास करना भी हमारे लिए संभव नहीं है। अतएव, हम यहां पर केवल इतना ही यत्न करेंगे कि इन धर्मों के रहस्यवादी महापुरुषों का कोई पृथक्-पृथक् परिचय न देकर केवल उनमें लक्षित होने वाली कतिपय प्रमुख बातों की ही ओर संकेत कर दें और इस प्रकार अपने विषय के प्रतिपादन में उससे सहायता लें।

ईसाई धर्म के सर्वप्रथम प्रचारक यीशु ख्रीष्ट के लिए कहा जाता है कि उन्होंने वस्तुतः दो प्रकार के संदेश दिये थे जिनमें से एक का उद्देश्य साधारण ईसाई जीवन के उपयुक्त सिद्ध हुआ, किंतु दूसरे के द्वारा ईसाई रहस्यवाद के आदर्श की प्रतिष्ठा भी की गई। इस प्रकार यीशु मसीह का एक महत्त्व इस बात में देखा जाता है कि उन्होंने अपने देवत्व के रूप में हमारे सामने 'ख्रीष्ट' वाले स्वरूप को रखा और दूसरा उनके उस आदर्श मानवीय आचरण में पाया जाता है जिसका उपलब्ध विवरण हमें उनके किसी एक आदर्श सिद्ध पुरुष के रूप में परिचित कराता है। यदि इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जाय तो हम इस प्रकार भी इसे प्रकट कर सकते हैं कि उनके प्रथम रूप का प्रचार विशेषतः, उनके अनुयायी सेंट पाल द्वारा दिये गए अनेक प्रवचनों के अनुसार हुआ और दूसरे का आधार इसी प्रकार, सेंट जेम्स के अनुयायियों द्वारा प्रचारित उन उपदेशों का सार बन गया जिनमें उस महापुरुष के आदर्श आचरण की महत्ता पर विशेष बल दिया गया था। इस दूसरे प्रकार के रूप की कुछ विशिष्ट सामग्री हमें सेंट जान के संदेश (St. John's Gospels) में उपलब्ध होती है जो New Testament (बाइबिल) का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और जिसका निष्कर्ष इस प्रकार दिया जा सकता है "अपनी आत्मशुद्धि द्वारा अपने हृदय को विशुद्ध एवं निर्मल बनाकर उसमें आदर्श यीशु ख्रीष्ट के प्रति अगाध श्रद्धा एवं प्रेम प्रतिष्ठित करो और उसके माध्यम द्वारा ईश्वरीय प्रेम की उपलब्धि हो जाने पर उसमें अपने को इतना तन्मय कर दो कि तुम्हें अपने आप तक का बोध न हो सके और इस प्रकार एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण बन जाने पर तदनुसार आचरण करते हुए क्रमशः अपने लक्ष्य तक पहुंच जाओ और परमेश्वर के शाश्वत सान्निध्य का अंत में, अनुपम सुख प्राप्त कर लो।"

ईसाई रहस्यवाद के विशेषज्ञों ने इस प्रकार की आध्यात्मिक साधना की कुछ क्रमिक अवस्थाओं का भी वर्णन किया है जो इस प्रसंग में बड़े महत्त्व की समझी जा सकती है तथा जिनका एक परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है: प्रथम अवस्था रूपांतरण (Conversion) की है जिसमें साधक अपने को सभी ओर से खींचकर यीशुख्रीष्ट की ओर उन्मुख कर देता है और उनके प्रति अपने को अनुरक्त बनाने लग जाता है, इसी प्रकार उसकी दूसरी अवस्था में यह अपनी आत्मशुद्धि (Purgation) में प्रवृत्त हो जाता है। फिर इसके फलस्वरूप उस तीसरी अवस्था का अवसर आता है जिसमें स्वर्गीय मंदिर के पट खुलते हुए से प्रतीत होते हैं और हमें कोई झांकी भी मिल जाती

है और हमारे भीतर क्रमशः वह प्रेमाग्नि (Fire of Love) प्रज्वलित हो उठती है जो उसकी चौथी दशा को सूचित करती है। इसी प्रकार पांचवीं अवस्था के प्राप्त हो जाने पर हमें किसी मधुरत्व (Sweetness) की अनुभूति भी होने लग जाती है और अंत में, उसकी छठी अवस्था के आ जाने पर हमारी ऐसी दशा भी हो जाती है जिसमें हम उल्लास के गीत (Jubilant Song) की संगीतिमयता में आत्मविभोर हो उठते हैं। इन छहों अवस्थाओं का परिचय रिचर्ड रोल नामक चौदहवीं शताब्दी के एक ईसाई संत की पुस्तक The Mending of Life अर्थात् 'जीवन का निर्माण' के आधार पर दिया गया है जिसका उल्लेख डंकन ग्रीनलीस नामक लेखक ने अपनी पुस्तक The Gospel of the Mystic Christ में किया है[1], इस साधना की विभिन्न अवस्थाओं के विशद् वर्णन अन्यत्र भी किये गए मिलते हैं और जैसा हमने इसके पहले भी देखा है वहां इनके नाम भी कुछ भिन्न से लगते हैं।

परंतु यीशु ख्रीष्ट के व्यक्तिगत रहस्यवाद अथवा जिस रहस्यवाद की अनुभूति उन्हें स्वयं हो सकी होगी उसकी दशा की उपलब्धि की साधना का रूप स्वभावतः ऐसा नहीं हो सकता और न कम से कम, हमें इसके लिए कोई प्रामाणिक सामग्री ही अभी तक मिल सकी है। बहुत से लोगों की तो धारणा यहां तक भी देखी जाती है कि जो वाक्य यीशु ख्रीष्ट के मुख से इस प्रकार कहलाये गए हैं "मैं और मेरे पिता एक हैं", "जिस किसी ने मुझे देखा है उसने स्वयं उसको देख लिया है" तथा "मैं अपने पिता में हूं और वह पिता मुझ में है"[2] आदि वे Johannine Jesus अर्थात् सेंट जान द्वारा कल्पित यीशु के ही हो सकते हैं और उनका ऐतिहासिक यीशु ख्रीष्ट से कोई संबंध न होगा। इस कारण ईसाई रहस्यवाद का आरंभ, यीशु के समय से न होकर पीछे वाले उनके अनुयायियों के समय में ही हुआ होगा। इसी प्रकार ऐसे लोगों को इस बात में भी संदेह होता है कि इसका आरंभ सेंट पाल से हुआ होगा जिसका कहा हुआ वाक्य "मैं जीवित हूं, किंतु मैं नहीं प्रत्युत स्वयं ख्रीष्ट मुझमें जीवित हैं,"[3] प्रसिद्ध है तथा जिसके लिए यह भी कहा जाता है कि उसने दमिश्क की ओर जाते समय मार्ग में अलौकिक दृश्य देखे थे और वैसे शब्द भी सुने थे। वास्तव में जैसा इन लोगों का कथन है, ईसाई, यहूदी अथवा इस्लाम जैसे ईश्वरवादी धर्मों में किसी ऐसे वास्तविक रहस्यवाद की गुंजायश भी नहीं हो सकती जो भारतीय वेदांत अथवा प्लोटिनस की विचारधारा के अनुसार प्रतिष्ठित सर्वात्मवादी धर्मों के भीतर पाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि रहस्यवाद की विश्वात्मक सत्ता एक ऐसा तत्त्व है जिसमें परमतत्त्व एवं विश्व को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता और इसीलिए, वहां रहस्यानुभूति के लिए पूर्ण अवसर प्रस्तुत रहता है, किंतु ईश्वरवाद की दशा में ईश्वर एवं जगत् इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् मान लिया जाता है और इनमें से प्रथम को व्यक्तित्व भी प्रदान कर दिया जाता है जिस दशा में वैसी संभावना ही नहीं हो सकती। यहां पर इस प्रसंग में, हमारे लिए यह भी स्मरणीय है कि प्लोटिनस ने वैसी सत्ता को

---

१. (Adyar, 1951) pp. CXI-CXXI.

२. "I and my father are one", "He who has seen me has seen the father" and "I am in the father and the father in me."

३. "I live yet not I but Christ liveth in me."

यद्यपि One अर्थात् एकमात्र के रूप में बतलाया था, किंतु उसने इस प्रकार का कथन केवल उसके व्यक्तीकरण की सुगमता के लिए ही कर दिया था। इस 'एक' का अभिप्राय वह नहीं था जिसके आधार पर उसे कोई मूर्त्त रूप भी प्रदान कर दिया जाय जैसा कि यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के अनुयायियों ने अपने यहां कल्पना कर ली।

विलियम स्टेस नामक लेखक का अनुमान है कि इस प्रकार की एकत्व संबंधी धारणा के कारण, न केवल ईश्वर एवं जगत् के पृथक्-पृथक् मान लेने का आधार प्रस्तुत हो गया और इस प्रकार द्वैतभाव को प्रश्रय मिल गया जो रहस्यवादी मत के सर्वथा प्रतिकूल था, अपितु इसके कारण उन धर्मों के भीतर दो प्रकार की धारणाएं भी बनती जाती जान पड़ीं जिनमें से एक के अनुसार ईश्वर के साथ मिलन (Union with God) का अर्थ जहां रहस्यवाद के वास्तविक सिद्धांत के अनुसार, ईश्वर के रूप में विलीन हो जाना भी हो सकता था, वहां दूसरे के अनुसार ऐसा समझना विधर्म ठहराया गया और उसका अभिप्राय केवल 'उसके साथ ध्येय की समानता' अथवा 'समानता मात्र के ही अनुसार मिलन' का संभव होना मान लिया गया और इस बात को भी केवल उन्हीं लोगों ने स्वीकार किया जो रहस्यवाद को महत्त्व देते थे।[1] वास्तव में इन धर्मों के अनुयायियों के भीतर दो ऐसे वर्ग भी प्रतिष्ठित हो गए जिनमें से एक को कट्टरपंथी एवं दूसरे को सुधारपंथी कहा जा सकता था। इसी प्रकार इन धर्मों के अनुयायियों की रहस्यानुभूति के स्वरूप में भी, एक ऐसा परिवर्त्तन हो गया जिसके कारण रहस्यवाद का एक नवीन रूप दीख पड़ने लगा और उसकी विशेषता इसके प्रेमपरक बन जाने में लक्षित हुई। इसके पहले परमतत्त्व वा विश्वात्मक सत्ता के प्रति केवल ज्ञान-परक अनुभव का संभव होना स्वीकार किया जाता था, किंतु अब से उसके प्रति प्रेम का प्रदर्शन भी किया जाने लगा और ईसाई एवं मुस्लिम सूफ़ी साधकों में से अनेक ऐसे लोग भी दीख पड़ने लगे जिनका भावावेश में आकर बेसुध हो जाना अथवा उसके प्रति दाम्पत्य भाव को प्रकट करने लगना एक सामान्य लक्षण सा बन गया। परंतु ईश्वर के प्रति प्रेमभाव प्रकट करने का एक परिणाम यह भी हुआ कि न केवल उसके भी हमारे प्रति वैसे ही स्नेह प्रकट करने की कल्पना की जाने लगी, अपितु इसके आधार पर किसी एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति भ्रातृभाव का प्रदर्शित करने लगना भी स्वभावतः कहीं अधिक संभव बन गया।

ईसाई रहस्यवादियों में से प्रमुख लोगों में सर्वप्रथम, डायोनीसियस एयरो पाजाइट (Dynonisius Aeropagite) का नाम लिया जाता है जिसका आविर्भाव पांचवीं ईसवी शताब्दी के आस-पास हुआ था और जो विशेषकर इसलिए प्रसिद्ध है कि उसने परमतत्त्व के रूप को निषेधात्मक बतलाया था। उसका कहना था कि वास्तव में ईश्वर के लिए हम किसी भी विशेषण का प्रयोग नहीं कर सकते और उसे केवल Super-essential Darkness अर्थात् एक ऐसे अंधकार के रूप में समझ सकते हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों की अनुभव शक्ति के बाहर होगा। फिर भी वह ऐसे ईश्वर को कोई नाम देना भी अनुचित नहीं समझता था, क्योंकि उसका कहना था कि इसके द्वारा हम उस अज्ञेय तत्त्व को ज्ञेय बना ले सकते हैं। डायोनीसियस के अनंतर आने वाले प्रमुख ईसाई रहस्यवादियों में मिस्टर एखार्ट का नाम लिया जाता है जिसका जन्म सन् १२६० ई०

---

१. The Teachings of the Mystics, pp. 126-30.

में जर्मनी में हुआ था और जिसकी दार्शनिक योग्यता तथा जिसके ज्ञानपरक रहस्यवाद की चर्चा हमने उसके साथ स्वामी शंकराचार्य की विचारधारा और फिर बौद्ध धर्म के महायान एवं जेन सम्प्रदायों के मतों की तुलना के प्रसंग में की थी। एखार्ट को संभवतः हिंदू अथवा बौद्ध धर्मों का कोई विशेष ज्ञान नहीं था, किंतु फिर भी उसके सिद्धांतों में उनके साथ समानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। एखार्ट ने ईश्वर को अज्ञेय मानते हुए उसे 'मरुभूमि' की संज्ञा दी है और उसने यह भी कहा है कि, जहां इस रूप में हम केवल Godhead वा परमात्मतत्त्व की एकता का होना अनुमान करते हैं, वहां ईसाइयों के त्रिदेव (Trinity) विषयक कल्पना को उसके भावात्मक रूप में स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार एक तीसरा प्रमुख ईसाई संत जानवान रुइस ब्रोक नामक फ्लेमी रहस्यवादी था जिसका जन्म सन् १२९३ ई० में हुआ था और जिसने ईसाइयों द्वारा वर्णित आध्यात्मिक विचार की स्पष्ट कल्पना कदाचित् सर्वप्रथम की थी। इसने अज्ञेय तत्त्व को कभी-कभी 'नग्नत्व' के रूप में ठहराया है और कभी-कभी तो उसके साथ केवल द्वैतभाव का ही प्रदर्शन किया है, किंतु फिर कभी-कभी उसे विश्वात्मक एकता (Pantheistic Unity) के रूप में भी स्वीकार कर लिया है। एक चौथे प्रमुख ईसाई रहस्यवादी के रूप में हम एविला की संत टेरेसा (St. Teresa of Avila) की गणना कर सकते हैं जिसका जन्म स्पेन देश के अंतर्गत सन् १५१५ ई० में हुआ था और जिसने अपनी रहस्यानुभूति का वर्णन अत्यंत मार्मिकता के साथ किया है। संत टेरेसा स्त्री थी, किंतु उसने अपने समसामयिक संत क्रासवाले जान (Saint John of the Cross) के साथ ईसाई कार्मेलाइट सम्प्रदाय की उन्नति के लिए बड़ा कार्य किया। यह महिला संत स्वभावतः अधिक भावावेश में रहा करती थी और ईश्वर के साथ मिलन को "दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का एक हो जाना" समझा करती थी और यह उसकी अनुभूति के अनंतर इस प्रकार कह उठती थी कि "हे मेरे स्वामी, तू कितना भला है, सदा तेरी जय हो।" इसने रहस्यवादात्मक अनुभूति की कतिपय भूमिकाओं का वर्णन करते हुए, उसे इसके लिए भीतरी महल में प्रवेश पाने का एक रूपक प्रस्तुत किया है और ईश्वर के साथ संयोग वा मिलन को 'आध्यात्मिक प्रणय' का रूपक देते हुए उसकी 'मंगनी' आदि की पृथक्-पृथक् चर्चा भी की है। संत जान का जन्म सन् १५४२ ई० में हुआ था और वह एक बहुत योग्य साधक के साथ-साथ, वैसी साधना के वर्णन को सुंदर एवं सुव्यवस्थित रूप देने वाला भी रहा। वह रहस्यानुभूति संबंधी ध्यान की प्रक्रिया में किसी मानसिक चित्र का भी वर्तमान रहना अनिवार्य नहीं मानता और उसकी सबसे प्रसिद्ध कल्पना उस 'अंधकारपूर्ण रात' (Dark Night of the Soul) की है जब जीवात्मा अपने को परमात्मा से वियुक्त पाकर बेचैन और विवश बन जाया करती है, किंतु जिसकी दशा में उसके लिए आना अपनी आत्मशुद्धि के लिए परमावश्यक भी हुआ करता है।

इन कतिपय ईसाई रहस्यवादियों के नाम यहां पर केवल उदाहरणस्वरूप ले लिये गए हैं और इस प्रकार यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि किस प्रकार इनकी धारणा एवं अनुभूति की अनेक बातें वास्तविक रहस्यवाद के समान और असमान कही जा सकती हैं। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि इन ईसाई संतों का ईश्वर को स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने की चेष्टा करना, उसके साथ संयोग को किसी मानवीय व्यक्ति के साथ संयोग जैसा रूप दे देना, इसके द्वारा उत्पन्न होने वाली रहस्यात्मक अनुभूति के लिए साधना विशेष का उपक्रम करके उसकी विभिन्न क्रमिक भूमिकाओं

की कल्पना करना तथा अपने ईश्वर की ओर से वियुक्त होकर तड़पने लगने की जैसी कल्पना कर उसका विस्तृत वर्णन करने लगना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण प्रकृत रहस्यवाद का रूप, यहां पर बहुत कुछ परिवर्तित हो गया सा प्रतीत होता है और वह उससे भिन्न तक भी लगने लग जाता है। परंतु संयोग की बात है कि ऐसे रहस्यवाद की ही अधिक चर्चा होने लगने के कारण, सर्वसाधारण की धारणा भी इधर केवल इसी को वास्तविक रहस्यवाद का रूप स्वीकार करती आई है और इससे भिन्न दीख पड़ने वाले रहस्यवाद के प्रति प्रायः उपेक्षा प्रदर्शित की गई है तथा उसका मूलस्वरूप क्रमशः विस्मृत तक होता चला गया है। इस बात का एक अन्य प्रमाण हमें इस्लाम धर्म के सूफ़ी साधकों की रहस्यानुभूति के वर्णन तथा उसके विवेचन में भी मिलता है। हमें उससे पता चलता है कि किस प्रकार सूफ़ी रहस्यवादियों ने न केवल ईश्वर को अधिकतर ईसाईयों की भांति, कोई स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, प्रत्युत उससे अपने वियुक्त हो जाने की कल्पना करके उन्होंने अपनी विरहयातना को भी अत्यंत उग्र रूप दे डाला है। इन सूफ़ी साधकों की यह धारणा कि ईश्वरीय प्रेम (इश्क़ हक़ीक़ी) तथा सांसारिक प्रेम (इश्क़ मजाजी) में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है, प्रत्युत दूसरे की साधना द्वारा हमें पहले की स्थिति को प्राप्त करने में विशेष सुविधा और सहायता तक मिल सकती है एक ऐसी बात है जिसके दो भिन्न-भिन्न परिणाम दीख पड़े हैं। एक ओर जहां, उन दोनों प्रेमों के एकसमान होने के कारण, सांसारिक प्रेम के स्तर का भी ऊंचा हो जाना तथा इसके कारण, मानवीय जीवन में आध्यात्मिक भावना का प्रवेश पाना संभव बन गया है, वहां दूसरी ओर ईश्वरीय प्रेम के सांसारिक प्रेम के स्तर त क खिंच आने के कारण, वैसे जीवन में सुंदर संयम और पवित्रता का सदा बना रहना अत्यंत कठिन भी लगने लगा है। इसके सिवाय, सूफ़ी संतों के भीतर उतने Righteousness वा सदाचार की मनोवृत्ति के न पाये जाने के कारण, वे उतना ठोस सामाजिक कल्याण का कार्य भी नहीं कर सके हैं और न उसमें अपने को उतना व्यस्त रख सके हैं जितना ईसाई संत असीसाई के फ्रांसिस (St. Francis Assisi) आदि करने में समर्थ हुए हैं और इसके फलस्वरूप इनकी साधना बहुत कुछ व्यक्तिगत होकर भी रह गई है। दोनों धर्मों के रहस्यवादियों ने अपनी-अपनी भावनाओं का प्रचार अपनी-अपनी परंपराओं के अनुसार किया है और ये दोनों अपने को उन साम्प्रदायिक बातों से बहुत कम बचा पाये हैं जो उनके अपने-अपने धर्मग्रंथों में निहित समझी जा सकती है।

परंतु एक बात बहुत विलक्षण है जिसकी ओर हमारा ध्यान प्रायः नहीं जाया करता। इस्लाम धर्म अपने को कट्टर एकेश्वरवादी मानता है और इसके विपरीत सर्वात्मवाद का उपदेश देनेवाले कतिपय सूफ़ी रहस्यवादियों की वहां पर भर्त्सना एवं दुर्गति तक भी की गई दीख पड़ती है, किंतु जिस प्रकार ऐसे लोगों में वहां ऐसी भावना को प्रश्रय दिया गया जान पड़ता है वैसा ईसाई धर्म में संभव नहीं हुआ है। ऐसे ईसाई संत कदाचित् बहुत कम मिलेंगे जिन्होंने सूफ़ी अबू यज़ीद बिस्तामी (मृ० सन् ८७५ ई०) के शब्दों में "मेरी जय हो, मैं क्या ही महान् हूं" कहकर अपनी आध्यात्मिकता के उच्च स्तर को प्रकट किया हो अथवा एक दूसरे ऐसे ही सूफ़ी अल् हल्लाज (मृ० सन् ९२२ ई०) की भांति 'अन् अल् हक़' जैसे शब्दों का उच्चारण करते हुए सूली पर प्राणोत्सर्ग कर दिया हो। इसका एक कारण स्टेस ने इस्लामधर्म के भीतर किसी ऐसी शक्तिशाली संस्था का अभाव होना बतलाया है जैसी रोम की Catholic Church रही है और जिसने केन्द्रीय शासक

का काम किया है। परंतु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसी किसी संस्था के रूप में, हम किसी अंश में 'इस्लामी खिलाफ़त' को भी मान ले सकते हैं। इसलिए हमें तो इसकी जगह ऐसा अनुमान करना, कहीं अधिक उचित समझ पड़ता है कि उक्त सूफ़ी सर्वात्मवादियों के आचारण को भारतीय विचारधारा से अधिक प्रेरणा मिली होगी जो बात ऐसे उन कतिपय सूफ़ियों के जीवन-वृत्तों से भी प्रमाणित की जा सकती है। सूफ़ी रहस्यवादियों की एक यह भी विशेषता है कि उन्होंने अपने भावों को अधिकतर काव्यात्मक रूप दिया और उन्होंने केवल उन्हें गद्यात्मक वर्णनों के रूप में प्रकट करके अथवा उनका उपदेशों द्वारा प्रचार कर के ही नहीं छोड़ दिया। यहां तक कि काव्य-रचना करते समय उन्होंने विशेषकर कथा-रूपकों का भी प्रयोग किया जिनके उदाहरण ईसाइयों के यहां उतनी संख्या में नहीं मिला करते। इसके सिवाय, इन सूफ़ी रहस्यवादियों ने ऐसे दृष्टांतों में अपने इष्टदेव परमात्मा को अधिकतर किसी ऐसी सुंदरी स्त्री का भी रूप दे दिया जो उसके प्रेमी साधक को अधिक से अधिक आकृष्ट कर सकती थी जिसकी उपलब्धि की अनवरत चेष्टा में वे न केवल अपने सभी स्वार्थों, अपितु प्रिय प्राणों तक की आहुति, हंसते-हंसते कर दे सकते थे।

अबू यज़ीद बिस्तामी तथा अल् हल्लाज केअतिरिक्त कई अन्य ऐसे सूफ़ी भी हो गए हैं जिनकी गणना रहस्यवादियों में की जाती है। बसरा की राबिया (मृ० सन् ८०२ई०) एक सूफ़ी महिला थी जिसे सेंट टेरेसा की भांति परमात्मा के रंग में मस्त कहा जाता है। उसका सारा जीवन परमात्मा का स्मरण करते-करते तथा उसके सान्निध्य में अपने को बनाये रहते बीता। इसी प्रकार फ़रीदुद्दीन अत्तार (मृ० सन् १२२९ ई०) जिसकी चर्चा हम इसके पहले 'आध्यात्मिक यात्रा' के प्रसंग में कर आये हैं, एक महान् रहस्यवादी समझा जाता हैऔरउससे भी अधिक प्रसिद्धि जलालुद्दीन रूमी नामक एक अन्य सूफ़ी कवि की है जिसका देहांत सन् १२७३ ई० में हुआ था और जिसकी 'मसनवी' नामक रचनाएं सूफ़ीमत के गूढ़ रहस्यों को भी दृष्टांतों के आधार पर प्रकट करने में बहुत उपयुक्त समझी जाती हैं। रूमी के लिए यह भी कहा जाता है कि उसने किसी ऐसे 'मौलवी सम्प्रदाय' की स्थापना भी की थी जिसके द्वारा उसने कीर्तन एवं भावावेश को महत्त्व प्रदान किया था। इब्न उल् अरबी (मृ० सन् १२४० ई०) ने उसके कुछ पहले से ही 'इंसान् उल् कामिल' अर्थात् 'पूर्ण मानव' के आदर्श का निरूपण कर रखा था और जैसा हम इसके पहले भी देख चुके हैं, उसने इस प्रकार किसी जीवन-दर्शन की ओर भी संकेत किया था। सूफ़ी मत के अनुयायियों ने ऐसे पूर्ण मानव के आदर्श परही अपने पीरों और नबियों के प्रति भक्तिभाव का प्रदर्शन भी आरंभ किया जो ईसाई लोगों द्वारा अपने संतों के प्रति प्रदर्शित श्रद्धाभाव एवं गुणगान से अधिक भिन्न नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सूफ़ी लोगों की रहस्यवादी प्रवृत्ति भी जितनी बाह्य बातों की ओर बढ़ती गई उतनी आंतरिक साधना अथवा आत्मविकास की ओर उन्मुख न हो सकी, जिस कारण न तो उसका ठीक उद्देश्य पूरा हो सका और न उसमें वह व्यापकता ही आ पाई। फलतः सूफ़ी रहस्यवाद भी क्रमशः उसी प्रकार साम्प्रदायिक रूप धारण करता चला गया जिस प्रकार ईसाइयों का रहस्यवाद करता आ रहा था और इनके द्वारा स्वीकृत मान्यताओं पर क्रमशः रूढ़िवादिता का आवरण भी पड़ता आया। इस प्रकार जिस रहस्यवाद को हमने 'धार्मिक' विशेषण देकर उसका वर्णन आरंभ किया

था उसमें न तो मौलिक धार्मिकता रह गई और न उसमें पूरी रहस्यात्मकता ही आ पाई।

(३) आधुनिक रहस्यवाद और उसका भविष्य

हमने यहां तक अधिकतर उन रहस्यवादियों की ही चर्चा की है जो या तो प्रचीन काल के वा मध्यकालीन के थे अथवा जिनकी रहस्यवादी भावना पर किसी धर्म विशेष वा साम्प्रदायिकता का भी रंग चढ़ा हुआ कहा जा सकता है। हमने इसके साथ ही यह भी देखा है कि प्राचीन कहे जाने वाले रहस्यवादियों वा उनके अनेक अनुयायियों तक की रचनाओं में हमें रहस्यवाद के उस पक्ष की प्रधानता मिलती है जिसे 'ज्ञानपरक' कहा जा सकता है और भक्तिपरक वा प्रेमतत्त्वपरक पक्ष की प्रधानता पीछे दीख पड़ने लगती है। इसके अतिरिक्त, हम यह भी देख आये हैं कि मध्यकालीन रहस्यानुभूति का रूप उतना प्रातिभ वा Intuitional न होता हुआ, अधिकतर कतिपय क्रमिक साधना-भूमियों पर आश्रित रहता है और वह स्वभावतः धार्मिक उपासना की कोटि का भी कहा जा सकता है। इस प्रकार जिस रहस्यवाद के रूप को हमने पहले पहल पाया और जिसको वास्तविक ठहराकर हमने उसके क्रमिक विकास का अध्ययन आरंभ किया वह हमें अपनी दृष्टि से क्रमशः ओझल और तिरोहित होता प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत हमने जैसा अभी संकेत किया है, रहस्यवाद के विषय पर लिखने वाले अनेक पंडितों की इधर ऐसी धारणा बन गई भी जान पड़ती है कि सच्चा रहस्यवाद केवल वही हो सकता है जिसके उदाहरण हमें मध्यकालीन भक्ति-साहित्य के अंतर्गत मिलते हैं, चाहे वह भक्ति विशुद्ध श्रद्धामूलक रूप में हो अथवा उसका आधार गंभीर प्रेम रहता आया हो। ज्ञानाश्रित भक्ति वा ऐसी भावना जिसमें ज्ञान एवं प्रेमाभक्ति का मधुर सम्मिश्रण हो उनके लिए संभव नहीं प्रतीत होती और न उन्हें यही समझ पड़ता है कि किस प्रकार ऐसी भक्ति हो ही सकती है जिसके लिए कोई मूल आधार न हो अथवा किस प्रकार किसी निर्गुण, निराकार वा अनिर्वचनीय तत्त्व की हमें कोई अनुभूति ही हो सकती है अथवा वह किसी प्रकार हृदयंगम ही किया जा सकता है। अतएव हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम कतिपय ऐसे उदाहरण भी ढूंढ़ निकालने का यत्न करें जिनमें न तो भक्ति-भावना की कोई रंगीनी झलकती हो और न रहस्यानुभूति की आधारभूत सत्ता को किसी प्रकार का मूर्त्तत्व प्रदान करने की आवश्यकता का ही अनुभव होता है। इसके सिवाय हम ऐसे उदाहरणों द्वारा इस बात की संभावना को भी सिद्ध करना चाहेंगे जिसके आधार पर वास्तविक रहस्यवाद का धार्मिक भी होना आवश्यक नहीं हो सकता, प्रत्युत इसका मूल्यांकन अकेले मनोवैज्ञानिक स्तर पर किया जा सकता है और इसे 'अधार्मिक' तक माना जा सकता है।

प्रो० जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Varieties of Religious Experiences के अंतर्गत ऐसी कई अनुभूतियों का परिचय दिया है जिनमें से हम केवल कुछ को चुनकर यहां प्रस्तुत करेंगे और फिर अंत में, उन पर तथा कतिपय ऐसे दूसरों पर भी अपने विचार प्रकट करेंगे। प्रो० जेम्स ने किसी कनाडा निवासी वैज्ञानिक डॉ० आर० एम० बक (Dr. R. M. Bucke) की व्यक्तिगत अनुभूति का विस्तृत विवरण उद्धृत किया है जिसको संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है—"मैंने तथा मेरे कतिपय मित्रों ने संध्या का समय काव्य एवं दर्शन पर वार्त्तालाप करते

हुए बिताया था और फिर आधी रात को हम लोग पृथक्-पृथक् हुए थे। मैं अपने निवासस्थान पर उन बातों द्वारा प्रभावित होकर आया और मेरा चित्त शांत था, किंतु मुझे अचानक ऐसा जान पड़ा कि मुझे लाल-लाल बादलों ने घेर लिया है। पहले ऐसा लगा कि कहीं आग लग गई है, किंतु फिर ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह सभी कुछ अपने भीतर की घटना है, फिर तो मुझे आत्मोत्कर्ष का भी ज्ञान हुआ। मुझे हर्ष हुआ और किसी अनिर्वचनीय मानसिक प्रकाश का अनुभव भी हुआ। अन्य बातों के साथ मुझे ऐसा लगने लगा कि विश्व में निर्जीव तत्त्व नहीं है, प्रत्युत किसी सजीव तत्त्व का साक्षात्कार हो रहा है और मैं शाश्वत जीवन से अवगत हो रहा हूं. . . .ऐसा दृश्य मेरे सामने केवल कुछ ही सेकंडों के लिए रहा, किंतु उसका मुझ पर स्थायी प्रभाव पड़ा"।[1] डॉ॰ बक ने इस अनुभव को (Cosmic Consciousness) अर्थात् 'विश्वात्मक चेतना' का नाम दिया है और उसके मुख्य लक्षण इस प्रकार दिये हैं—"इसका प्रमुख लक्षण ऐसी विश्वविषयक चेतना अर्थात् सारे ब्रह्मांड के ही जीवन और व्यवस्था का बोध हो जाता है जिसके साथ एक मानसिक प्रबुद्धता रहा करती है और उसी के कारण किसी व्यक्ति को अपने उच्चस्तरीय ज्ञान का भान हो पाता है और वह अपने नैतिक उत्कर्ष को प्राप्त करके नये जीवन में प्रवेश कर जाता है।"[2] इस लेखक का यह भी कथन है "विश्वात्मक चेतना को. .किसी प्रकार अतिप्राकृतिक वा असाधारण नहीं समझना चाहिए और न इसके विषय में यही मान लेना उचित होगा कि यह स्वभावतः घटित हो जाने के कारण, किसी वैसे प्रकार की हो सकती है।"[3]

इसी प्रकार जेम्स ने फिर प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि लार्ड टेनिसन की रहस्यानुभूति का परिचय देने के लिए उसके किसी पत्र से इस प्रकार उद्धृत किया है, "मैं बहुधा अपने बचपन से ही एक प्रकार की 'जागृत समाधि' (Waking trance) का—क्योंकि मैं उसके लिए कोई इससे अधिक उपयुक्त शब्द का व्यवहार नहीं कर सकता—अनुभव, अपने एकांत में रहने की दशा में करता आया हूं।. . . . .अचानक, जैसे अपने व्यक्तित्व की चेतना की तीव्रता के ही कारण, वह अनुभव किसी असीम सत्ता में आपसे आप लीन होता और क्रमशः मंद पड़ता प्रतीत हुआ। इस प्रकार की अनुभूति किसी भ्रांति के कारण अस्पष्ट लगने वाली न होकर स्पष्ट से स्पष्ट एवं निश्चित से निश्चित तथा वाणी से नितांत परे की भी थी और वैसी दशा में स्वयं मृत्यु तक हास्यास्पद एवं असंभव बन गई थी। व्यक्तित्व का इस प्रकार लोप होना (यदि उसके लिए ऐसा कहा जा सके) किसी 'क्षय' (Extinction) का जैसा नहीं लग रहा था, क्योंकि यही वास्तविक जीवन भी है।"[4] इस कवि का यह भी कथन है कि यह अपनी दशा का सम्यक् वर्णन न कर सकने के कारण अपने को लज्जित भी समझता था। वह कहता है, "मैं शपथ खाकर कहता हूं कि इसमें किसी भ्रांति की गुंजायश नहीं है यह कोई अव्यक्त हर्षोन्माद नहीं है, प्रत्युत यह एक सर्वातिशायी

१. p. 399.

२. p. 398.

३. W. T. Stace : Mysticism and Philosophy, p. 26.

४. Varieties of Religious Experience, p. 384.

चमत्कार है और अपने चित्त के नितांत निर्मल बन जाने पर ही यह संभव भी हो सका है।"[1]

इसके अतिरिक्त जेम्स ने जे०ए० साइमंड्स की अनुभूति को भी उद्धृत किया है जो संक्षेपतः इस प्रकार है "इसकी दशा में क्रमशः किंतु वेग के साथ, देश, काल, संवेदन तथा अपने अनुभव के उन सभी अंशों का लोप हो चला जिन्हें हम लोग अपने आपका अंग मानते हैं. . . .और अंत में, केवल विशुद्ध निर्विशेष और भावात्मक आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रह गया। विश्व बिना आकार का एवं शून्यवत् प्रतीत होने लगा. . . . .इस प्रकार की समाधि मुझे बहुधा अपनी अट्ठाइस वर्ष की अवस्था तक लग जाती रही और उसके कारण मुझे क्रमशः सभी कुछ का मिथ्यापन जान पड़ता आया?"[2] साइमंड्स को इस प्रकार की अनुभूति पसंद नहीं थी जिसका कारण देता हुआ वह कहता है—"मैं उसे स्वयं अपने प्रति भी स्पष्ट रूप में बतला नहीं सकता था और न मेरे पास इस समय भी ऐसे शब्द हैं जिनके द्वारा मैं उसे बोधगम्य रूप दे सकूं"।[3] जेम्स ने इस प्रकार के उद्धरणों का विश्लेषण करते हुए इनमें किसी व्यक्ति की उस प्रवृत्ति का पता लगाने की चेष्टा की है जिसे 'धार्मिक' कहा जा सकता है, किंतु जिसके किसी धर्मविशेष वा सम्प्रदाय विशेष के साथ संबद्ध न होने के कारण उसमें प्रयुक्त 'धर्म' शब्द की व्याख्या उसके केवल अत्यंत व्यापक तथा उसके मौलिक अर्थ में ही की जा सकती है। जेम्स को ऐसे उदारहणों के द्वारा धार्मिक अनुभूति की दशा में निर्मित हो जाने वाली मनोवृत्ति विशेष का परिचय देना मात्र रहा जिसका उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया। अतएव, इस प्रकार की मनोवृत्ति के लिए यह अनिवार्य नहीं कि इसमें कोई प्रसंग ईश्वर वा परमात्मा का भी लाया जाय।

डबल्यू० टी० स्टेस ने भी इसी प्रकार, किन्हीं आर्थर कोयस्लर (Arthur Koestler) तथा एन० एम० नामक दो व्यक्तियों की ऐसी रहस्यानुभूतियों का वर्णन किया है और उनसे कुछ उद्धरण दिये हैं। कोयस्लर का कहना है कि "जहां तक मैंने अभी तक बतलाया है यह सभी बौद्धिक स्तर की बातें हैं. . . . .किंतु यदि अंतर्मुखी बनकर देखा जाय तो उसका परिणाम शब्दों द्वारा प्रकट करने योग्य नहीं रह जायगा। इसके सिवाय उन अनुभवों में से एक दूसरे के विरुद्ध जाता भी जान पड़ेगा, क्योंकि हम लोग यहां पर ऐसे स्तर तक पहुंच जाते हैं जहां पर सभी बातें, जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों द्वारा एक दूसरी के साथ जोड़ दी गई दीख पड़ेगी।"[4] "वैसी स्थिति में 'मैं' का अस्तित्व भी नहीं रह जाता, क्योंकि वह किसी विश्वात्मक जलाशय के संसर्ग में आ जाता है अथवा उसमें अपने को लीन कर दिया करता है, यद्यपि इस प्रकार की अनुभूति के फलस्वरूप "कोई ऐसी शांति भी मिल जाया करती है जिसे समझ पाना संभव नहीं है।"[5] आर्थर कोयस्लर एक कम्यूनिस्ट रहा जिसे स्पेन के 'सिविल वार' के अवसर पर जेनरल फ्रैंकों की ओर से इस बात के लिए अभियुक्त

१. Memoirs of Alfred Tennyson, Vol. II, p. 473 (quoted)
२. Varieties of Religious Experience, pp. 385-6.
३. Mysticism and Philosophy, p. 284.
४. Mysticism and Philosophy, p. 270.
५. Do. pp. 314-5. उद्धृत

ठहराया गया कि वह भेदिया का काम करता था। उसे तनहाई की कोठरी में रखा गया, जहां पर उसे बराबर इस बात का अनुभव होता रहा कि किस प्रकार प्रत्येक रात को उधर से बंदियों को ले जाया जा रहा है और उन्हें शवस्थान के निकट गोली मार दी जा रही है, इस कारण इस व्यक्ति को वैसी अनुभूति किसी भयार्त्त की दशा में ही हुई होगी। यह प्रत्यक्षतः अंतर्मुखी अनुभूति रही और इसे हम पूर्णरूप से विकसित स्तर की नहीं कह सकते। फिर भी इसके द्वारा किये गए उसके वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार कोई रहस्यानुभूति किसी व्यक्ति के जीवन में काया-पलट ला देती है और उसकी मनोवृत्ति में परिवर्त्तन कर देती है।

स्टेस ने जिस 'एन० एम०' की वैसी अनुभूति का उल्लेख किया है वह कोई अमेरिकन था जो उस लेखक का परिचित रहा और जिसकी बातों को उसने न केवल उसके लिखित नोटों के आधार पर, प्रत्युत उसके साथ वार्त्तालाप करके भी लिपिबद्ध किया है और उनकी पूरी जांच-पड़ताल कर ली है। एन० एम० को अपनी अनुभूति में सारे पदार्थ अचानक विचित्र रूपों में दीख पड़ने लग गए और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे उनमें से प्रत्येक का कोई भीतरी रहस्य है और उसमें मेरे ही जैसा जीवन भी है जिसके कारण वह अत्यंत सुंदर समझ पड़ रहा है। ऐसी साधारण वस्तुओं जैसे बिल्ली और भिड़ से लेकर फूटी बोतलों तक में कोई एक ही प्राण स्फुरण करता प्रतीत हो रहा था और उनमें से प्रत्येक अपने किसी भीतरी आलोक से आलोकित थी। इस प्रकार एन० एम० की यह अनुभूति उस प्रकार की थी जिसे हमने बहिर्मुखी का विशेषण प्रदान किया था। एन० एम० ने जो अपनी इस अनुभूति की व्याख्या स्वयं की है उसके अनुसार उसका कथन है "मुझे अब यह बात समझ में आ गई कि मेरी अपनी ईश्वरानुभूति संबंधी कल्पना कितनी निराधार और असंगत बन चुकी थी, क्योंकि अब मुझे यह निश्चय हो गया कि जो कुछ उस रूप में देखने की मैं कभी आशा करता था उसे मैंने अब उसके वास्तविक रूप में देख लिया। आश्चर्य तो यह है कि वह वस्तु सिवाय उस जगत् के और कुछ भी नहीं थी जिसका मैं प्रतिदिन अनुभव किया करता हूं। मुझे कहना चाहिए कि मेरा यह अनुभव 'धार्मिक' कोटि का है, किंतु फिर भी मैं इसका संबंध किसी ऐसे धर्म वा सम्प्रदाय के साथ जोड़ना असंगत समझता हूं जिनकी संस्थाएं चल रही हैं। मेरी तो यहां तक अपनी धारणा है कि जितने सुव्यवस्थित धर्म वा सम्प्रदाय दीख पड़ते हैं वे स्वभावतः रहस्यवादी भावना के विरुद्ध पड़ते हैं।"[१] उसका अन्यत्र यह भी कहना है "सभी पदार्थों का अस्तित्व है इतना ही पर्याप्त है इससे अधिक पाने की अभिलाषा अपने अज्ञान की सूचक है। इतना ही सर्वात्मवाद का भी अभिप्राय है, यदि उसे किसी दार्शनिक क्षेत्र तक भी न घसीटा जाय। यह सबसे अच्छा है कि किसी गूढ़ अर्थ की चर्चा न की जाय और केवल इतना ही कहा जाय कि पहले किसी रिक्तता का संवेदन हुआ करता है और तब किसी की समझ में आता है कि सब कुछ पूर्ण ही पूर्ण है।[२]

अतएव, इन आधुनिक व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् अनुभूतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि उन्हें केवल मनोवैज्ञानिक तथ्यों के रूप में देखा जाय तो हमें यही प्रतीत होगा कि

---

१. Mysticism and Philosophy pp. 73-4 (quoted)

२. Do, p. 75 (quoted)

जिस रहस्यानुभूति के स्वरूप में हम यहां निरूपित करना चाहते है उसमें मौलिक रूप का धार्मिक अर्थात् साम्प्रदायिक होना अनिवार्य नहीं है और न इसके लिए किसी काल्पनिक आधार का होना ही आवश्यक है। निष्कर्ष यह कि रहस्यानुभूति का विशुद्ध रूप किसी ऐसी मानसिक दशा को सूचित करता है जिसका परिचय मनोविज्ञान की दृष्टि से और वैज्ञानिक ढंग से कराया जा सकता है और उसका धार्मिक कहा जाना उसके किसी ऐसे व्याख्याता की अपनी उन धारणाओं पर निर्भर है जो उसमें या तो अपने निजी संस्कारों अथवा पूर्व प्रचलित परंपराओं के आधार पर बन गई रहा करती हैं।

इस प्रकार, यदि हम ऐसी रहस्यात्मक अनुभूति के विषय में आज तक बतलायी गई बातों को प्राचीन काल से लेकर आज तक की उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर देखते हैं और उन पर विचार करने लगते हैं तो हमें पता चलता है कि जिस जीवन-दर्शन को हमने 'रहस्यवाद' का नाम दिया है उसे वास्तव में, किसी काल वा युग विशेष की बात नहीं कह सकते और न हम उसके संबंध में यही कह सकते हैं कि उसका उपयोग किसी देश विशेष अथवा समाज विशेष में ही किया जाने योग्य है। हमने अभी तक इतना और भी स्पष्ट कर देने की चेष्टा की है कि उसके विषय में, किसी पूर्वी और पश्चिमी अथवा हिंदू, ईसाई, बौद्ध, इस्लामी, यहूदी अथवा अन्य किसी ऐसे विभिन्न वर्गों के अनुसार वर्गीकरण की कल्पना करना भी कभी युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। ऐसी अनुभूति का स्वरूप स्वभावतः अत्यंत व्यापक है जिसकारण उसके विषय को हमें उसके विशुद्ध मौलिक रूप में स्वीकार करना चाहिए तथा उसकी प्रत्येक युक्ति की परीक्षा, उसकी अपनी मनोवैज्ञानिक दशा में ही की जानी चाहिए। ऐसा करने पर ही हम उसके वास्तविक महत्त्व का कोई मूल्यांकन कर सकते हैं तथा केवल उसी दशा में हम उसे सार्वभौम भी ठहरा सकते हैं। हमें उसी दशा में यह कहने का कोई समुचित आधार भी मिल सकता है कि ऐसी अनुभूति प्रत्येक मानव के जीवन में हो जा सकती है, क्योंकि इसकी संभावना केवल किसीअंतर्दृष्टि मात्र की अपेक्षा करती है जिसका किसी व्यक्तिविशेष में ही पाया जाना अनिवार्य नहीं। यह इसी प्रकार, किसी भी व्यक्ति के जीवन में ऐसा आमूल परिवर्त्तन ला दे सकती है जिसके लिए उसका किसी सुनिश्चित मत के द्वारा अनुप्राणित भी रहना आवश्यक नहीं और न इसका कोई ऐसी परिणाम ही अपेक्षित है जिसके फलस्वरूप उसे कोई काल्पनिक दिव्य पद अथवा लोक मिल जा सके। इसके सिवाय हमने यह भी देखा है कि ऐसी अनुभूति का हमारी अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर आश्रित रहना भी आवश्यक नहीं है प्रत्युत इस प्रकार की अलौकिक ज्योति अथवा अनाहत शब्द आदि के अनुभव कभी-कभी भ्रांति-जन्य भी हो सकते हैं तथा इनका न तो चिरस्थायी बना रहना और न हमारे जीवन में कोई व्यापक परिवर्त्तन ला सकना ही कभी संभव हो सकता है।

इसी प्रकार, जहां तक ऐसी दृष्टि के आधार पर कहा जा सकता है, रहस्यवाद का वास्तविक रूप हमें उन अनेक साधनाओं के परिणामस्वरूप लक्षित नहीं होता जो गुप्त विद्याओं पर आधारित रहा करती है। प्रायः समझा जाता है कि तिब्बती लामा धर्म की गुप्त साधनाएं मंगोलियन शामनी धर्म की रहस्यमयी प्रक्रियाएं, भारतीय शाक्त सम्प्रदायादि के तांत्रिक अनुष्ठान तथा अन्य ऐसे धार्मिक वर्गों द्वारा अनुमोदित गुप्त क्रियाओं के विविध रूप ऐसी रहस्यानुभूति का कारण बन सकते हैं और उनका परिणाम भी कोई ऐसा ही हो सकता है जैसा हमें रहस्यवादजन्य मनोवृत्ति में

दीख पड़ता है। परंतु इस प्रकार की धारणा बना लेना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार की गुह्यता हमें इन विभिन्न तांत्रिक साधनाओं में देखने को मिलती है वह अधिकतर कृत्रिम एवं कल्पित रहा करती है। यदि किसी मंगोलियन 'शमन' के लिए कहा जाय कि वह अपनी गुप्तशक्ति के द्वारा दूर से दूर स्थानों तक पहुंच जाता है, यदि कोई लामा अपनी अलौकिक शक्ति के बल पर किसी प्राकृतिक दृश्य में विचित्र विकार उत्पन्न कर सकता है अथवा यदि कोई शक्ति साधक किसी प्रकार की सिद्धि में अपनी सफलता दिखला सकता है तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसे रहस्यानुभूति हो चुकी है। वह तो किसी ऐसी रहस्यमयी शक्ति का प्रयोग भर करना जानता है जिसमें उसे अपनी दीक्षा के कारण दक्षता मिली है और जिसे केवल इसीलिए, 'गुह्य' कहा जाता है कि उसका मौलिक रहस्य किसी पर प्रकट नहीं है। ऐसी साधनाएं जिनका परिणाम विविध सिद्धियों में प्रकट होता है तथा जिनका संबंध केवल अलौकिक कृत्यों तक से रहा करता है और जिनके लक्ष्य का किसी न किसी प्रकार सीमित होना ही सिद्ध किया जा सकता है, कभी उस रहस्यानुभूति की कोटि में नहीं लायी जा सकती जिसकी हम अभी चर्चा कर चुके हैं तथा जिसके लिए हमने अभी सार्वभौम तक बन जाना स्वीकार किया है। इसकी तुलना में हम उनके संबंध में केवल इतना ही कह सकते हैं कि वे विद्याएं उस जादूविद्या अथवा रहस्यमयी शक्ति के उपलब्ध करने की उस कला के ही वर्ग में गिनी जा सकती हैं जिसे प्राचीन काल में विशेष महत्त्व दिया जाता था और जिसका उद्देश्य विशिष्ट अधिकार उपलब्ध करना मात्र था। उसकी रहस्यमयता केवल इस बात में निहित रही कि उसके मूल स्रोत को किसी प्रकार निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता था, किंतु जिसे फिर भी हम उस विश्वात्मक सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते जिसको हमने अभी एक एवं अद्वितीय कहा है तथा जिसकी निर्विशेष एकता की रहस्यानुभूति का परिणाम हमने जगत् के प्रति किसी अत्यंत उदार वृत्ति का निर्मित हो जाना भी बतलाया है।

परंतु श्री अरविन्द की धारणा इस प्रकार की जान पड़ती है कि वैसी रहस्यानुभूति अथवा उसके परिणाम को भी हम उस आदर्श पद तक पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते जिसे उन्होंने आध्यात्मिक विकास द्वारा परिणमित होने वाले अतिमानव के विश्व में ही संभव माना है। तदनुसार उन्होंने पूर्वोक्त रहस्यवाद को भी केवल व्यक्तिगत उपलब्धि तक ही सीमित कहा है और यह भी कहा है कि ऐसे रहस्यवादी धर्म का लक्ष्य जितना भी महान् हो इसमें एक मौलिक दोष यह है कि इसमें हमें विश्व की पूरी अखंड एकता का बोध नहीं हो पाता और इसकी दशा में वैसा व्यक्ति जगत् से पृथक् सा लगता हुआ प्रतीत होता है जो कभी आदर्श विकसित रूप का सूचक नहीं कहा जा सकता। इसमें वह शक्ति नहीं जिसके द्वारा जीवन में आपसे आप सक्रियता आ सके और जो उसके व्यक्तीकरण को सहसा पूर्ण रूप से उद्दीप्त कर सके। इस दशा में केवल किसी व्यक्ति विशेष का विकास न होकर पूरे विश्व का उन्नयन होगा। वह दशा किसी ऐसे रहस्यवादी धर्म के व्यक्तिगत उत्कर्ष को प्रकट न करके उस पूर्ण विश्व का उत्कर्ष सूचित करेगी जिसे उनके अनुसार अतिमानव के विश्व में ही देखा जा सकता है। यह एक सर्वस्वीकृत सिद्धांत है कि जैसे हम अपने व्यक्तिगत विकास द्वारा ऊपर आते चले जाते हैं वैसे ही वैसे हमारे लिए किसी अन्य व्यक्ति की ओर से तथा अपने पूरे समाज की ओर से भी किसी भेदभाव कीं संभावना भी घटती चली जाती है। इस प्रकार हमारा व्यक्तित्व, एक प्रकार से अधिक से अधिक विस्तृत रूप धारण करता चला जाता है और

हमें ऐसा बोध होने लग जाता है जैसे हमारे लिए कोई भी ऐसी श्रेयस्कर बात नहीं हो सकती जो दूसरे के लिए भी न हो जिसका एक परिणाम यह होता है कि हमारी अपनी प्रत्येक चेष्टा सबके लिए की जाने लग जाती है और हमें उसके कारण किसी अपार आनंद का अनुभव भी होने लग जाता है। अतिमानव के विश्व में लगभग इस प्रकार की ही अनुभूति एवं चेष्टा के पाये जाने की संभावना की जाती है और ऐसे विकास के पीछे कोई वैसी नैतिक प्रेरणा काम करती नहीं जान पड़ती जैसी साधारणतः देखी जाती है, प्रत्युत यह "विश्व की आध्यात्मिक सत्ता के आत्म-प्रकाशन की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणामस्वरूप बनकर आपसे आप किसी अतिनैतिक (Supra ethical) प्रेरणा के द्वारा अस्तित्व में आ जाया करता है।"[1]

वास्तव में, इस प्रकार का आदर्श अत्यंत महान् है और इसकी कल्पना हमें सदा अपूर्व उत्साह द्वारा प्रेरित कर सकती है तथा इसके आधार पर हमारी अपनी वृत्ति ऐसी भी बन जा सकती है जिसे विश्वात्मक कहा जा सकता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इस बात में देखी जाती है कि इस प्रकार का विकास अपने आप स्वभावतः अस्तित्व में आ सकता है और इसके लिए किसी लक्ष्य की सिद्धि अपेक्षित नहीं है। किंतु, फिर वैसी दशा में उसके लिए हमें किसी प्रकार की चेष्टा वा साधना करने की भी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसके लिए हमें इस प्रकार का कथन करने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती "यदि रहस्यवाद के द्वारा मानव समाज में परिवर्त्तन लाना संभव है तो यह केवल उसी दशा में हो सकता है जब इसके कारण धीरे-धीरे क्रमशः प्रत्येक व्यक्ति में आवश्यक परिवर्त्तन होता चला जाय।"[2] जैसा फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी बर्गसां ने अनुमान किया है तथा जिसे उसने अपने 'क्रियाशील धर्म' (Dynamic Religion) का नियम ठहराते हुए उसके अनुसार रहस्यवाद के प्रति बहुत बड़ी आस्था प्रकट की है। हमें तो ऐसा लगता है कि चाहे जिस दृष्टि से भी देखा जाय अर्थात् यदि हम इस प्रश्न को श्री अरविन्द की धारणा के अनुसार हल करना चाहें अथवा उसके ऊपर वैसे साधारण रूप में विचार करें जैसा बर्गसां के उक्त कथन द्वारा सूचित होता है, हमें रहस्यवाद का महत्त्व कम होता हुआ नहीं दीख पड़ता। जिस रहस्यवादात्मक दृष्टिकोण के द्वारा स्वयं परमेश्वर तक वस्तुतः केवल विशुद्ध सत्ता का एक ऐसा रूप धारण कर लेता है जिसमें सारे उच्चातिउच्च आदर्शों का सारतत्त्व भी आ जाता है और जिसके कारण वह हमारे लिए अपने जीवन का अंग तक बन जाता जान पड़ता है तथा जिसके आधार पर हमें स्वयं अपने विश्वात्मक होने तक का संदेह नहीं रह जाता उसका मूल्य कभी कम नहीं आंका जा सकता। यदि इसे किसी उच्चतम आदर्श की उपलब्धि के मार्ग में केवल 'पड़ाव' की संज्ञा भी दी जाय उस दशा में भी हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। हम तो इसके आधार पर किसी ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं, जहां पर यह रहस्यवाद किसी धर्म विशेष का रूप ग्रहण करता हुआ भी अपने लिए किसी परमात्मतत्त्व का अस्तिव अनिवार्य नहीं मानता

1. Studies in Aurobindo's Philosophy.

2. "If mysticism is to transform humanity it can do so only by passing on, from one man to another, slowly, a part of itself." The two Sources of Morality and Religion (New York, 1935) p. 235.

और न इसीलिए, किसी ससीम एवं असीम के पूर्ण पारस्परिक मिलन को भी कोई वैसा महत्त्व देना चाहता है जिससे सभी विषमताओं का लोप हो सके। हमारे समक्ष वर्त्तमान विश्व का विकसित रूप क्या और कैसा होगा इसकी कोई धारणा बना लेना हमारे लिए स्वाभाविक है और जिस प्रकार उसकी दशा में आज का मानव अथवा भविष्य का अतिमानव पारस्परिक व्यवहार कर सकता है उसकी कोई रूपरेखा भी प्रस्तुत की जा सकती है। परंतु, यदि यह कहा जाय कि वैसी किसी भी दशा वा स्थिति के परिणमित होने में रहस्यवाद का वह रूप हमें यथोचित सहयोग प्रदान कर सकता है जिस पर हमने अभी तक विचार किया है तो यह कदाचित् अत्युक्ति न होगी।

अतएव रहस्यवाद का आरंभ चाहे जिस प्रकार हुआ हो, उसने अपने क्रमिक विकास के इतिहास में चाहे जो जो भी रूप ग्रहण किये हों तथा उसके विषय में चाहे जो कुछ भी कल्पना की जा सकती हो, उसके भविष्य को अंधकारपूर्ण ठहराना कभी उचित नहीं कहला सकता। हम तो यहां तक भी कहेंगे कि जिस प्रकार हमने उसे यहां पर किसी जीवन-दर्शन के रूप में देखा है, उसी प्रकार उसका उपयोग किसी दिन उस रूप में भी किया जा सकेगा जिसे 'जीवन में सत्य का प्रयोग' कहा जा सकता है।

परिशिष्ट

(क) कुछ चुने हुए रहस्यवाद विषयक उद्धरण

१. भारतीय साहित्य :—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ५।१।१॥ बृहदारण्यकोपनिषद
ईशा वास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः कस्यचिद्धनम् ॥१॥
हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" ॥१६॥
—ईशोपनिषद्

"यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥२।१॥
नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद, नो न वेदेति वेद च ॥२।२॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्" ॥२।३॥—केनोपनिषद् ।
"श्रवणायापि बहुभिर्यो नलभ्यः शृण्वतोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥१।२।७॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२।३।९॥
नैव वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र, कथं तदुपलभ्यते" ॥२।३।१२॥—कठोपनिषद् ।
"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं, ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥२।२।११॥
बृहच्चतद्दिव्यमचिन्त्यरूपं, सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च, पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥३।१।७॥
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३।२।३॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परंपुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१४॥
सयो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं, गुहाग्रन्थिभ्योऽमृतोभवति" ॥३।२।८॥
—मुण्डकोपनिषद्

"असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ॥६।१॥—तैत्तिरीयोपनिषद् ।
सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तस्मादसतः सज्जायत" ॥६।२।१॥
—छान्दोग्योपनिषद् ।

"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा
न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतो ऽन्यदार्तम् ॥३।४।२॥
तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरमेव
मेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं
तद्वा अस्यैतदाप्तकाममाप्तकाममकामंरूपंशोकान्तरम्" ॥४।३।२१॥
—बृहदारण्यकोपनिषद् ।

"सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥३।१६॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च " ॥६।११॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ।

"इहैव तैर्जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योति रेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं, ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥५।२४॥
कामक्रोधवियुक्तानां, यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं, वर्तते विदितात्मनाम् ॥५।२६॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं, योगी विगत कल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं, मत्यन्तं सुखमश्नुते" ॥६।२८॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ।
"मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल,
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवता मेषः प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्संग वशोपजात सुकृतोद्रेक स्फुरन्निर्मल,
ज्ञानापास्त समस्तमोहमहिमालीये परे ब्रह्मणि " ॥
—भर्तृहरि ।

"सत्यपि भेदापगमे नाथ त वाहं, न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रोहि तारङ्गः" ॥—शंकराचार्य ।
"जाते समरसानन्दे, द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
सम्बन्ध इव दम्पत्योः जीवात्म परमात्मनो।" ॥—कश्मीर कविः ।

"मेरा हृदय निरंतर अपनी उड़ान भरा करता है, वह कभी बादलों के साथ भ्रमण करता है, कभी पहाड़ियों में दौड़ लगाता है, कभी समुद्र की लहरों के साथ नृत्य करता है, कभी पुष्पों के साथ हास्य विनोद करने लगता है और कभी-कभी अंधकार से स्वप्न देखने में लग जाता है, क्योंकि ऐसे ही स्थलों पर इसे अपने उस प्रियतम से भेंट होती है जो इसे कहीं दूर से पुकारा करता जान पड़ता है" ॥

"आकाश के तारों का रहस्य जानने के उद्देश्य से मैं बहुधा उनकी ओर टकटकी लगाये देखा करता था। मुझे कभी नहीं जान पड़ता था कि वे बूंदों की जैसी वस्तुएं क्या हो सकती हैं। परंतु, जब मैं उन पर मुग्ध होकर शांतिपूर्वक लेट गया तो मेरे मौन हृदय से एक स्वर-लहरी जागृत हुई और मुझे विदित हो गया कि "युगों से चमकते आते हुए ये तारे, रात्रि के असीम प्रांगण में जड़े हुए केवल स्फुल्लिग मात्र नहीं हैं, ये वे पुष्प हैं जिन्हें स्वर्गस्थ व्यक्तियों ने उस अज्ञात की वेदी पर चुनकर समर्पित कर दिये हैं।" ॥

"हे समुद्र, तू इतना चंचल क्यों हो रहा है ? तू क्यों इतना फेनिल है और दिन रात उद्विग्न सा प्रतीत होता है ? क्या तू भी तो उसी की खोज में व्यस्त नहीं जिसके लिए मेरा हृदय तड़प रहा है ?" ॥

"मेरे सारे कष्ट दूर हो गए और मेरे हृदय में अब शांति को स्थान मिल गया, क्योंकि संसार के हास्य एवं रुदन और नरक की यातनाओं तथा स्वर्ग की आनंदमयी क्रीड़ाओं के ही बीच, मेरे कानों ने मेरे उस अप्रतिम प्रियतम के स्वर-संकेत सुन लिये हैं जो जीवन के चित्र-विचित्र जन-संकुल से होता हुआ, निरंतर अदृश्य रूप में भ्रमण करता रहता है।" ॥—नम्म आड़वार।

"मैंने हाथी को आता देखा जिसके साथ उसकी प्रेमपात्री हथिनी भी रही; मैंने उनके श्रीचरण देखे और उनकी अदृष्ट और अदृश्य छवि देख ली" ॥

"उनके श्रीचरणों की छाया मुझे अनिंद्य वीणा, संध्याकालीन चंद्रमा, मलय पवन, बसंत काल एवं भ्रमर-गुंजरित वाणी में स्पष्ट दीख पड़ती है" ॥

"वह गीत की मधुर स्वर-लहरी है, सुमन की सुगंधि है, वह न तो पुरुष है न स्त्री, न उसका कोई रंग है न रूप, वह मेरी आंखों की तारिकास्वरूप है ॥

"मैं स्वयं अपने से अनभिज्ञ हूं और मुझे यह भी पता नहीं कि तुम क्या हो इतना नहीं जानता हूं कि तुम स्वामी हो और मैं तुम्हारा दास हूं" ॥—अप्पर नायनमार।

"तुमिइ सागर आमिइ तरी, तुमि खेयोआर माझि ।
कूल ना दिया डुबाओ यदि, तातेइ आमि राजि ।
तोमा हइते कूल कि बड़ भरम कि आमार ?" ॥

(अर्थात् तुम समुद्र हो और मैं छोटी सी नाव हूं जिसे खेने वाले केवट भी तुम्हीं हो,

अतएव, यदि मुझे पार तक न पहुंचा कर अपने में डुबो दोगे फिर भी मैं इसे स्वीकार कर लूंगा। मेरा इसमें भ्रम क्या है और मुझे भय भी किस बात का है ? क्या उस पार तक पहुंच जाना मेरे लिए तुझमें अपने को मग्न कर देने से कहीं अधिक श्रेयस्कर हो सकता है।) ॥

—गंगाराम बाउल।

"At the gates of the Transcendent stands that mere and perfect spirit described in the Upanishads, luminous, pure, sustaining the world...without flaw of duality, without sear of division, unique, identical, free from all appearance of relation and multiplicity,—the pure Self of the Advaitins, the inactive Brahman, the Transcendant Silence. And the mind when it passes those gates suddenly...receives a sense of the unreality of the world and the sole reality of the Silence which is one of the most powerful convincing experiences of which the human mind is capable." ॥

"For if evolution is the progressive manifestation by Nature of that which slept or worked in her, involved, it is also the overt realisation of that which she secretly is...If it be true that spirit is involved in Matter and apparent Nature is secret God, then the manifestation of the divine in himself and the realisation of God within and without are the highest and most legitimate aim possible to man upon earth." ॥

—'The Life Divine' (Sri Aurobindo)

'विश्व यखन निद्रामगन, गगन अंधकार;
के देय आमार वीणारं तारे, एमन झंकार।
नयने घूम निल केड़े, उठे बसि शयन छेड़े,
मेले आंखि चेये थाकि, पाइने देखा तार।
गुञ्जरिया गुञ्जरिया, प्राण उठिल पूरे,
जानिने कोन विपुल वाणी, बाजे व्याकुल सुरे।
कोन वेदनाय बुझि ना रे, हृदय-भरा अश्रु भारे,
परिये दिते चाइ काहा रे, आपन कण्ठहार ॥
जगते आनंद-यज्ञे आमार निमंत्रण।
धन्य हल धन्य हल मानव-जीवन।
नयन आमार रूपेर पूरे, साध मिटाये बेड़ाय घुरे,
श्रवण आमार गभीर सुरे, हयेछे मगन।
तोमार यज्ञे दियेछे भार, बाजाइ आमि बांशि।
गाने गाने गेंथे बेडाइ, प्राणेर कान्ना हासि।
एख समय हयेछे कि ? सभाय गिये तोमाय देखि,
जयध्वनि शुनिये याब, ए मोर निवेदन" ॥—'गीतांजलि' (रवीन्द्र)

"As a particle of gold becomes one with gold, as a ray of light merges in light. . . as pieces of ice constitute the Himalaya mountain, similarly, the individual selves make God. The waves may be small, and yet they are one with the ocean. . . Experience, such as this is real devotion"

"The enjoyer and the object of enjoyment the seer and the object of sight, become merged in the one unbroken whole, it is as if fragrance were to become a nose and smell itself, or a sound to become an ear and hear itself, or a mirror to become an eye and see itself."

"As I went to see God, my intellect stood motionless, and as I saw Him, I became Himself. . . As a dumb man cannot express the sweetness of nectar, so also I cannot express my internal bliss." —Jnandeva.

"God's form can be seen even by a blind man, and a dumb man can communicate even in a deaf man's ears the knowledge of God. An ant shall devour the whole universe by its mouth, says Namdeva, only we shall have to verify all these things in our own experience." —Namdeva.

"It is by thy support that I move on the way. Thou bearest all my burden. Thou puttest meaning into my meaningless words. Thou hast taken away my shame and put courage into me." —Tukaram.

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देखा मांहि ।।
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।
कहिबे को सोभा नहीं, देखे ही परमान ।।
पांनी ही तें हिम भया, हिम हो गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ।।
नींव विहूना देहुरा, देह विहूना देव ।
कबीर तहां बिलंबिया, करै अलख की सेव।।
देवल मांही देहुरी, तिल जेता बिस्तार।
माहैं पाती मांहि जल, मांहै पूजनहार।।
अंक भरै भरि भेटिया, मन नहिं बांधै धीर।
कहै कबीर वह क्यों मिलै, जब लग दोय सरीर ।।
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउ ।
गले राम की जेवरी जित खैंचे तित जाउं ।।
मेरा मुझ में किछु नहीं, जो किछु है सो तोर।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मोर ।।

अबरन कौं क्या बरनिए, मोपे बरनि न जाइ।
अबरन बरनै बाहिरा, करि करि थका उपाइ ॥

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ ।
बूंद समानी समुंद में, सो कत हेरी जाइ ॥
हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ ।
समुंद समाना बूंद में, सो कत हेरा जाइ ॥
कबीर एकै जानिया, तौ जाना सब जांण।
जे वो एक न जानिया, तौ सबही जांण अजांण ॥

दुइ दुइ लोचन पेखा । हौ हरि बिन और न देखा ॥
नैन रहे रंग लाई । अब बेगल कहन न जाई ॥
हमरा भर्म गया भय भागा । जब राम नाम चितु लागा ॥
बाजीगर डंक बजाई । सब खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांग सकेला । अपने रंग रंगै अकेला ॥
कथनी कहि भर्म न जाई । सब कथि कथि रही लुकाई ॥
जाकौ गुरु मुखि आप बुझाई । ताके हिरदै रह्या समाई ॥
गुरु किंचित किरपा कीनी । सब तन मन देह हरि लीनी ॥

उलटि जात कुल दोऊ बिसारी । सुन्न सहज महि बुनत हमारी ॥
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित मुल्ला छाड़े दोऊ ॥
बुनि बुनि आप आप पहिरावौं । जहं नहिं आप तहां हौ गावौं ॥
पंडित मुल्ला जो लिखि दिया । छाड़ि चले हम कछू न लीया ।
रिदै खलासु निरखि ले मीरा । आपु खोजि खोजि मिलै कबीरा ॥

अब हम सकल कुसल करि माना, स्वांति भई तब गोव्यंद जाना ॥टेक॥
तन में होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
जमथैं उलटि भया है राम, दुख बिसर्‌या सुख कीया विश्राम ।
वैरी उलटि भये हैं मीता, साषत उलटि सजन भये चीता ॥
आपा जांनि उलटि ले आप, तौ नहीं व्यापै तीन्यूं ताप ॥
अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जाना जीवत मूवा ॥
कहै कबीर सुख सहज समाऊं, आप न डरौं न और डराऊं ॥६२॥

रे मन जाहि जहां तोहि भावै, अब न कोई तेरै अंकुस लावै ॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रामा, हरिपद चीन्हि कियो विश्रामा ॥
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ग्यांन जहां तहां सोई ।
लीन निरंतर वपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया ॥६३॥

—कबीर ग्रंथावली (कबीर)

"गाइ गाइ अब का कहि गाऊं। गावनहार को निकटि बताऊं।।टेक।।
जबलग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यौ आस नहीं तनकी, तब को गावन हारा ।।
जब लग नदी न समुद समावै तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मनं मिल्यौ राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा ।।
जब लग भगति मुकति की आसा, परम तत्त्व सुनि गावै ।।
जहं जहं आस धरत है यह मन तहं तहं कछू न पावै ।।
छाड़ै आस निरास परम पद, तब सुख सति करि होई ।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्त्व अब सोई ।।
—रैदास की वाणी (रैदास)

"आपे रसिया आपि रसु, आपे रावण हारु ।
आपे होवे चोलड़ा, आपे सेज भतारु ।।
रंगि रता मेरा साहिबु, रवि रहिया भर पूरि ।।टेक।।
आपे माछी मछुली, आपे पाणी जालु ।
आपे जालु मण कड़ा, आपे अंदरि लालु ।।
आपे बहु विधि रंगुला, सखी ए मेरा लालु ।
नित रवै सोहग्गणी, देखु हमारा हालु ।।
प्रणवै नानकु वेनती, तू सरवरु तू हंसु ।
कउलु तू है कवीआ तू है, आपे वेखि विगसु" ।।—आदि ग्रंथ
(गुरु नानक देव) ।

"थकित भयो मन कह्यो न जाई, सहज समाधि रह्यो ल्यौ लाई ।।टेक।।
जे कछु कहिये सोचि बिचारा, ग्यान अगोचर अगम अपारा ।
साइर बूंद कैसे करि तोलै, आप अबोल कहा करि बोलै ।।
अनल पंष परै परि दूरि, ऐसै राम रह्या भरिपूरि ।।
इन मन मेरा ऐसे रे भाई, दादू कहिवा कहण न जाई" ।।६६।।
"प्रीति जु मेरे पीव की पैठी पिंजर मांहि।
रोम रोम पिव पिव करै दादू दूसर नांहि ।।६७।।
चर्म दृष्टि देषै बहुत, आतम दृष्टी एक ।
ब्रह्म दृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देष ।।६८।।
दादू नैन बिन देखिवा, अंग बिन पेखिवा, रसननि बोलिवा ब्रह्म सेती ।
श्रवण बिन सुणिवा, चरण बिन चालिवा, चित्त बिना चित्यवा सहज एती ।।
सोई सेवग सब जरै, जेता रस पीया ।
दादू गूझ गंभीर का, परकास न कीया" ।।—दादू ग्रंथावली (दादू) ।

"साधो सहज समाधि भली, गुर प्रताप जा दिन से जागी दिन दिन अधिक चली ।।

जह जंह डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा ॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खांव पिवौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ॥
आंख न मूदौं कान न रूंधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारौं।
सबद निरंतर सौं मन लागा, मलिन वासना त्यागी ॥
ऊठत बैठत कबहुं न छूटै ऐसी तारी लागी।
कहैं कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई" ॥

—कबीर साहब की शब्दावली (१ भाग)

"प्याज का झिलका छुड़ाते-छुड़ाते अंत में प्याज कुछ शेष नहीं रह जाता वैसे ही न इति न इति कह कर संसार को ब्रह्म से पृथक् करने लगने पर अंत में ब्रह्म को छोड़ और कुछ शेष नहीं रह जाता। यह दृश्यमान जगत् कुछ नहीं केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥"—श्री रामकृष्ण परमहंस

"यह डर से मिहर आ चमका, अहाहा, अहाहा।
उधर मह बीम से लपका, अहाहा, अहाहा ॥
हवा अठखेलियां करती है, मेरे इक इशारे से।
है कोड़ा मौत पर मेरा, अहाहा, अहाहा ॥
इकाई जात में मेरी, असंखों रंग हैं पैदा।
मज़े करता हूं मैं क्या क्या, अहाहा, अहाहा ॥
कहूं क्या हाल इस दिल का, कि शादी मौज मारे है।
है एक उमड़ा हुआ दरिया, अहाहा, अहाहा ॥
यह जिस्मे राम ऐ बदगो, तसव्वर महज़ है तेरा।
हमारा बिगड़ता है क्या, अहाहा, अहाहा" ॥—स्वामी रामतीर्थ।
'जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं, उस दिलवर की फुलवारी है।
कहीं सब्जी की हरियाली है, कही फूलों की गुलकारी है ॥
दिनरात मगन खुश बैठे हैं और आस उसी की भारी है।
बस आपही वह दातारी है, और आपही वह भंडारी है ॥
हर आन हंसी हर आन खुशी हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए फिर क्या दिलगीरी है बाबा" ॥
तनहा न उसे अपने दिले तंग में पहचान।
हर बाग़ में हर दश्त में हर संग में पहचान ॥
हर आन में हर बात में हर ढंग में पहचान।
आशिक़ है तो दिलवर को हर रंग में पहचान" ॥—नज़ीर।

"बेहिजाबी यह कि हर जर्रः में जिलवा आशिकार ।
तिसपै घूंघट यह कि सूरत आज तक नादीदः है" ॥—आसी ।
"तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता" ॥—मोमिन
"न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता ।
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता" ॥
"जबकि तुझ बिन नहीं कोई मौजूद ।
फिर यह हंगामा अय खुदा क्या है" ॥ गालिब
"ज़िंदगी क्या है अनासिर में ज़हूरे तरतीब ।
मौत क्या है इन्हीं अजज़ा का परीशां होना" ॥—चकवस्त ।
"सदियों फ़िलासफ़ी की चुनां ओ चुनीं रही ।
लेकिन खुदा की बात जहां थी वहीं रही" ॥—अकबर ।

२. चीनी और बौद्ध साहित्य—

"वाणी से कहा जाने वाला 'ताओ' यथार्थ में ताओ नही है (वह केवल अनुभवगम्य है) । जिस गुण का नामतः निर्देश किया जा सके वह उसका यथार्थ लक्षण नहीं है। पृथ्वी और स्वर्ग से पहले जो था वह 'अव्यक्त' है। व्यक्त वस्तुमात्र का मूल है" ॥

"ताओ' असीम है। जो कुछ है उसकी अगाधता से उत्पन्न होता है। . . . . . मैं नहीं जानता वह किससे उत्पन्न हुआ। वह ईश्वर से भी पुरातन है" ॥

"सरलता का अर्थ है, देखने पर जो देखी नहीं जाती वह, एकांतता का अर्थ है, सुनने पर जो सुनाई नहीं पड़ती वह; सूक्ष्मता का अर्थ है, हाथ लगाने पर स्पर्श नहीं हो पाता वह; इस प्रकार आकलन करने योग्य न होने से इन्हें एक माना जा सकेगा और वही 'ताओ' है। वह ऊपर तेजस्वी नहीं नीचे गाढ़ अंधेरा नहीं। उसके कार्य अनंत है, फिर भी वह अनाम है। वह स्वयं ही निकलकर स्वयं में प्रवेश करता है। वह अदृश्य का रूप और अव्यक्त का आकार है। वह गुह्य का गुह्य है" ॥

"एक मात्र ताओ का—अग्राह्य और अचिंत्य ताओ का—अनुसरण ही महान् धर्म है। अग्राह्य, अचिंत्य होते हुए भी उसमें साकारता है। अग्राह्य अचिंत्य होते हुए भी उसमें वस्तु मात्र है। गूढ़ गंभीर होते हुए भी उसमें सुसंबद्ध सत्तत्व है। अनादिकाल से उसका स्वभाव अविकृत है" ॥

"पृथ्वी और स्वर्ग की सत्ता के पूर्व प्रकृति में एक आद्य वस्तुतत्त्व था। वह प्रशांत और अगाध था। वह स्वयंभू था, एकरूप था। वह सर्वव्यापी था, असीम था। उसे विश्व की जननी ही मानना चाहिए। मैं उसका नाम नहीं जानता, फिर भी उसे मैं 'ताओ' कहता हूं। यदि गुण निर्देश करने के लिए विवश होना पड़े तो मैं उसे 'अनंत' कहूंगा, अनंत होने के कारण 'अचिंत्य' कहूंगा और अतर्क्य होने के कारण 'अगम्य' कहूंगा तथा अगम्य होने से सर्वव्यापी (विभु) होगा" ॥

"शुद्ध धर्माचरण 'धर्माचरण' के नाम से पहचाना नहीं जाता, इसलिए, वही उसकी धर्मशीलता का सार है।.....शुद्ध धर्माचरण स्वाभाविक होता है और वह अपनी ओर गुणश्रेय आने नहीं देता" ॥

"जो मानव मूर्त्त धर्म रूप बन जाता है, वह छोटे बालक सा हो जाया करता है" ॥

"जिसे 'ताओ' का ज्ञान हो जाता है, वह उसके विषय में कोई वाद-विवाद नहीं करता। जो उसके विषय में वादविवाद करता है उसे उसका ज्ञान ही नहीं रहता" ॥

"मैं आत्म-निरीक्षण करता हूं, इसीलिए दूसरों को जानता हूं ॥

जो पंडित होते हैं वे 'ताओ' को नहीं जानते।.....यह ताओ अनायास (सहज) कर्म करने वाले ज्ञानी पुरुष के ही अनुभवगम्य हुआ करता है॥—'ताओ तेह' (लाओज़े)।

"अपने भीतर दृष्टि डालकर देखो और पता लगालो कि तुम्हें कौन सी शक्ति विशेष दी गई है। उसका अभ्यास करो और उसको दूसरों के लिए प्रयोग में लाओ" ॥

"सर्वप्रथम अपने जीवन के लक्ष्य से परिचित हो जा और उसके अनंतर दृढ़ विश्वास के साथ आगे बढ़ो। संकल्प कर लेने पर अपने चित्त को सदा शांत और संतुलित बनाये रहो।"
—कन्फ्यूसियस

"हे सारि पुत्त, इस प्रकार सभी वस्तुओं के स्वभावतः शून्य रूप होने के कारण, उनका न तो आदि है और न अंत ही। वे न तो सदोष है और न दोष-रहित तथा न तो अपूर्ण हैं और न पूर्ण। न तो शून्य की दशा में उनका कोई रूप है, न वेदना, न स्पर्श है, न भेदाभेद का बोध और न कोई ज्ञान ही है। न आंख है, न कान है, न नाक है, न जीभ है, न स्पर्श की योग्यता है और न मन है ॥—महाप्रज्ञापारमिता हृदय।'

'"सतोरी' वास्तव में, 'अनुत्तर सम्यक् संबोधि' का ही एक अन्य नाम है जिसका प्रयोग, तथागत द्वारा निरंजना नदी के तीर पर बोधि वृक्ष के नीचे, किये जाने के अनंतर उनके अनुयायियों ने भी किया।......इसे हम वह अंत ष्टि कह सकते हैं जो प्रत्येक वस्तु के सारतत्त्व तक आपसे आप प्रवेश कर जाती है और वह विश्लेषणात्मक वा तर्काश्रित ज्ञान के सर्वथा विपरीत है। इसके द्वारा एक प्रकार से, उस एक नवीन जगत् का प्रत्यक्षीकरण हो जाया करता है जिसका हमारी द्वैतोन्मुख व भ्रांत बुद्धि को इसके पहले कोई पता नहीं था" ॥—सुज़ुकी।

३. ईरानी साहित्य—

"असरा रे अज़लरा न तू दानी व न मन।
वी हर्फ़े मुअम्मा न तू खानी व न मन॥
हस्त अज पसे पर्दा गुफ़्तगूए मनो तू।
चूं पर्दा बर उफ़्तद न तू मानो ब न मन॥—उमर ख़य्याम।

सृष्टि के रहस्यों का पता न तुझे है न मुझे है और वह ऐसी पहेली है जिसे न तो तू सोच सकता है और न मैं ही। ये जितनी बातें हैं वे सभी में और अन्य के भेदभाव के कारण उत्पन्न हैं यदि यह पर्दा उठ जा सके तो फिर हम दोनों एक हो जायँ॥

"हमां चीज रा ता न जोई न याबी।
जुज़ीं दोस्तरा ता न याबी न जोई॥
यक़ीं दां कि तू ऊ न बाशी व लेकिन।
चो तू दरमियाना न बाशी तू ऊई॥

अगर मुश्ताक़े दीदारी व दायम।
उमीदे दीद ने दीदार दारी॥
जे दीदारत न पोशी दस्त दीदार।
बबीं दीदार गर दीदार दारी॥

राज़े अज़ल अंदर दिले उश्शाक़ निहानस्त।
ज़ां रोज़ ख़बर याफ़्त कसेरा कि अयानस्त॥"

हम व चश्मे शाह रूए शाह ख़ाही दीदो बल।
दीदा अंदर कारे शाह कुन कोरए बदख़ाहरा"॥–सनाई

"नरगिसो गुल रा चे परस्ती व बारा:
एज़े तो हम नरगिसो हमगुल वदारा॥–निज़ामी
दोस्तीए सूरती ऐ मुख़्तसर। दुश्मनी गरदद हमा बा यक दिग़र॥
आं कि ऊरा दोस्तीए ग़ैबी दस्त। दोस्ती ईनस्त कज़ बे ऐबी अस्त॥
–फ़रीदुद्दीन अत्तार।

अन्य वस्तुएं खोज द्वारा पायी जा सकती हैं, किंतु आश्चर्य है, जब तक तू उस प्यारे को न पा जायगा उसकी खोज ही नहीं करेगा। विश्वास रख कि वह तुझमें सदैव विद्यमान है और यदि तू बीच में से दूर हो जायगा तो केवल वही रह जायगा॥

यदि तेरे हृदय में उसके दर्शनों की लालसा है और यह तेरा अभीष्ट है तो तू स्मरण रख कि वह तेरी दृष्टि से छिपा नहीं है, यदि ज्ञान के नेत्र हैं तो उसे देख ले॥

सृष्टि के आदि संबंधी रहस्य प्रेमियों के हृदय में गुप्त हैं और इसके रहस्य को वही जान सकता है जिस पर वह प्रकट होता है॥

उसका मुख केवल उसी के नेत्रों से देखा जा सकता है, इस कारण अपनी आंखें उसे देकर उसके शत्रु को अंधा कर दे अर्थात् अपनी दर्शन-शक्ति को उसे ही समर्पित करके अपनी विवशता स्वीकार कर ले॥

तू उपवन में जाकर नरगिस और गुलाब के फूलों पर क्यों मोहित हो रहा है? ये दोनों स्वयं तेरे प्रेम में मतवाले हो रहे हैं॥

सूरत पर आसक्त हो जाने को तू अपने आप से शत्रुता करना समझ ले। प्रकट मैत्री पारस्परिक वैमनस्य की पोषक है। अदृश्य की मैत्री ही सच्ची मैत्री है॥

मकानम् लामकां बाशद् निशानम् बेनिशां बाशद।
न तन बाशद न जां बाशद, के मन अज़ जाने जानानम्॥
दुई अज़ खुद बदर करदम्, यके दीदम् दो आलम रा।
यके जोयम् यके दानम्, यके बीनम् यके खानम्॥
होवल अव्वल होवल आखिर, होवल ज़ाहिर होवल बातिन।
बजुज़ याहू व यामनहू, कसे दीगर न मी दानम्॥
अगर दर उम्र खुद रोज़े, दमे ब तो बर आवुर्दम।
अज़ां वक़्तो अज़ां सायत, जे उम्रे खुद पशेमानम्॥
—मौलाना रूमी

"मोहक्क़िक़ रा कि दर वहदत शुदूदस्त।
न खुश्तीं नजरत वरनूरे वजूदस्त॥
दिले कज़ मारफ़त नूरे सफ़ा दीद।
ज़े हर चीज़े कि दीद अव्वल खुदा दीद॥

हक़ीक़त कज़ ता आमुन शुद मोअय्यन।
तू ऊरा दर इबारत गुफ़्तई मन॥
मनो तू आरिज़े ज़ाते वजूदेम।
मुशव्वक़ हाय मिशकाते वजूदेम॥
दरीं मशहद यके शुद जम्वो अफ़राद।
चो वाहिद सारी अन्दर ऐने आदाद॥

मेरा स्थान वह है जो कोई स्थान ही नहीं है और न मेरा पता किसी पते में है। न मैं शरीर हूं और न प्राण हूं, प्रत्युत मैं प्राणों का भी प्राण हूं। मैंने अपने मस्तिष्क तथा हृदय से द्वैत का विचार निकाल डाला है। मैं एक ही को ढूंढ़ता हूं, उसी से परिचित हूं, वही एकमात्र मेरी दृष्टि में है और उसी का नाम लेता हूं वही आदि है और वही अंत, वही प्रकट है और वही गुप्त। मेरा वही सर्वस्व है। यह भी तू ही है और वह भी तू ही है, इसके अतिरिक्त मैं अन्य किसी को नहीं जानता। यदि मैंने अपने जीवन में तुझे भूल कर एक भी सांस ली है तो उस समय और उस घड़ी के लिए आज मैं पछता रहा हूं॥

जिस निरीक्षक को अद्वैत पूर्णतया प्रकट है उसकी प्रथम दृष्टि अस्तित्व की चमक पर ही पड़ती है। जिस ज्ञानी ने परमेश्वर का साक्षात् करके उसकी आभा देख ली है उसे प्रत्येक वस्तु में उसी की ज्योति दीख पड़ती है॥

जो रहस्य वास्तविकता के रूप में परिणत हो गया है उसी को तुमने अपने शब्दों में 'मैं' कहा है। 'मैं' और 'तू' सब उसी अस्तित्व से संबद्ध हैं और अस्तित्व के दीपक की जालियां मात्र हैं। इस स्थान में मूल और शाखाएं सब एक ही दिखायी पड़ रही हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे इकाई में सभी अंक आ जाते हैं॥

तुई तू नुस्खए नक़्शे इलाही।
बजू अज़ खेश हर चीजे कि खाही॥

जनाबे हज़रते हक़ रा दुई नेस्त।
दरां हज़रत मनो माओ तुई नेस्त॥

क़दीमो मोहदिस अज़ हम खुद जुदा नेस्त।
कि अज़ हस्तीस्त बाक़ी दायमा नेस्त॥

दरूने हर तने जानेस्त पिन्हां।
वज़ेरे कुफ़ ईमानेस्त पिन्हा॥–शब्सतरी।

"ब खयालश मवाद मंज़रे चश्म।
जां कि ई गोशा खासे खिलक़ते ऊस्त॥

मियाने काबओ मैखानः हेच फ़र्क़ नेस्त।
बहर तरफ कि नज़र मी कुनी बराबर ऊस्त॥

दर इश्के कि खानक़ाहो खराबात फर्क नेस्त।
हरजा के हस्त परतवे रूए हबीब हुस्न॥

अयां न शुद कि चिरा आमदम कुजा बूदम्।
दरेग़ो दर्द कि ग़ाफ़िल ज़े कारे खेशतनम्॥

जब तूने समझ लिया तो जाकर अपना विचार कर। ईश्वर के भेद सब तुझी में निहित हैं। जो कुछ तू चाहे स्वयं अपने ही भीतर खोज कर देख ले॥

ईश्वर के सामने द्वैत का चिन्ह भी नहीं पाया जाता। उसके राज्य में 'मैं', 'हम' और 'तू' इत्यादि कुछ भी नहीं है॥

शाश्वत् और नाशमान् दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं है, क्योंकि मृत्यु जीवन से ही उत्पन्न है॥

प्रत्येक शरीर में एक प्राण छिपा हुआ है और नास्तिकता के पर्दे में एक प्रकार की आस्तिकता अंतर्निहित है॥

मैं चाहता हूँ कि मेरे नेत्रों में उसकी शोभा के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु को कोई स्थान न रहे। यही एक ऐसा कोना है जो उत्तम पूजागृह कहला सकता है॥

काबे में और शराबखाने में कोई अंतर नहीं है। जिस तरफ भी तुम्हारी दृष्टि जायगी वह सामने आ जायगा॥

साधुओं के निवास स्थान और शराबखाने के प्रेम में तनिक सा भी अंतर नही हैं। किसी भी जगह पर क्यों न हो यार के मुख का उज्ज्वल प्रतिबिंब रहता है॥

यह रहस्य प्रकट नहीं होता कि मैं कहां था और यहां क्योंकर आ गया। खेद तो इस बात का है कि मैं अपने ही भेद से नितांत अनभिज्ञ हूं॥

मियाने आशिक़ो माशूक़ हेच हायल नेस्त।
तु खुद हिजाबे खुदी 'हाफ़िज़' अज़ मियांबर खेज॥–हाफ़िज़

"हस्तिए वाजिब यके आमद वज़ात।
हस्त तआयुत ज़े शयूनो सिफ़ात॥
बह्र यके मौज हज़ारां हज़ार।
रुए यके आईनाहा बेशुमार॥

रुखसारे तू बे नकाब दीदन न तवां।
दीदारे तू बहिजाब बीदन न तवां॥
दर खुद हमारा चू जावदां मी वीनद।
अज़ दीदनेशां बुरूं ज़े खुद मुसतरानीस्त॥–जामी।

४. शामी और निकटवर्ती साहित्य—

"अय खुदा, अगर मैं नरक के डर से तुम्हारी उपासना करता होऊं तो मुझे उसकी आग में जला देना और अगर स्वर्ग की अभिलाषा से करूं तो मुझे स्वर्ग से वंचित कर देना, लेकिन अगर मैं सिर्फ तुम्हारे ही लिए ऐसा करूं तो मुझे अपना सौंदर्य अवश्य दिखलाना॥

"क्या शरीर का विवाह? तो मेरा अब शरीर ही कहां रह गया है? शरीर को तो मैंने अपने प्रियतम परमेश्वर को अर्पित कर दिया है, यह शरीर तो बस उसी के अधीन है और उसी के कार्य में बराबर लगा हुआ है॥

"अय नौजवान, आज तू एक साधारण सी सिर की पीड़ा के कारण, अपने ललाट पर पट्टी क्यों बांधे हुए है और चारों तरफ मेरे प्रियतम की निष्ठुरता को विज्ञापित करता है? जब तक तू भला चंगा था तब तक तू कौन सा चिन्ह धारण करके उसकी कृपा का प्रदर्शन करता रहा? अरे, यह पट्टी खोल दे और किसी को यह कदापि न पता चलने दे कि मेरा प्रियतम कभी दया रहित भी हो सकता है॥

ख्वाजा हसन बसरी का कथन "सच्चा प्रेमी वह है जिसे यदि परमेश्वर कष्ट देता है तो वह उसे धैर्य-पूर्वक सहन कर लेता है और इसकी कोई शिकायत नहीं करता", वास्तव में, अहंता पर आधारित है और इसी प्रकार मलिक दीनार के इस कथन में भी कमी रह जाती है, "यदि सच्चे प्रेमी को खुदा से कष्ट मिलता है तो इसे वह हर्षपूर्वक वरदान के रूप में स्वीकार कर लेता है।" मेरे

भगवान और भक्त के बीच कोई भी पर्दा नहीं। बस ऐ 'हाफ़िज़' तो खुद ही पर्दा है, अपनी खुदी के पर्दे को हटा दो॥

वह एक मात्र है और उसके रूपों में किसी प्रकार का अंतर नहीं है। सबका मूलतत्त्व एक ही है; समुद्र एक है किंतु लहरें लाखों की संख्या में हैं, मुख एक है और दर्पण अगणित हैं॥

जब तक तेरे मुख पर नकाब न पड़ा हो उसका दिखायी देना असंभव है और तेरी सूरत बिना किसी पर्दे के दृष्टि में आ ही नहीं सकती॥

विचार से तो सच्चा प्रेमी वह व्यक्ति कहला सकता है जो खुदा के इश्क़ में इतना ग़र्क़ रहा करता है कि उसे किसी पीड़ा और प्रसन्नता में भेद कर पाने की कोई शक्ति ही नहीं रहा करती और न वह कभी इस प्रकार तमीज़ कर पाता है।

"अय मेरे मालिक, इस जगत् का जो कुछ भी अंश तूने मेरे लिए, वरदान के रूप में सुरक्षित रखा हो उसे तू अपने शत्रुओं को प्रदान कर दे और जो कुछ तू स्वर्ग के किसी अंश के रूप में, मुझे देना चाहता है तू उसे अपने मित्रों को दे दे। मेरे लिए तो केवल तू है पर्याप्त है, मैं तेरे सिवाय अन्य किसी भी वस्तु को अपने लिए लेना नहीं चाहती। —राबिया बसराविनी।

"हम तुमसे किसी भी वस्तु की याचना नहीं कर सकते, क्योंकि तू हमारे अभावों को उनके जन्म लेने से पूर्व ही जानता है।

तू ही हमारी आवश्यकता है और हमें अपने आप को अधिक से अधिक देकर तू हमें सब कुछ दे दिया करता है।

"मैंने सत्य को पा लिया' ऐसा मत कहो, प्रत्युत यह कहो कि मैंने अपने मार्ग पर चलते हुए आत्मा के दर्शन किये हैं;

क्योंकि आत्मा सभी रास्तों पर चलती है। आत्मा एक ही लीक पर नहीं चलती, न वह नरकुल की भांति उगा करती है;

आत्मा असंख्य पंखुड़ियों वाले कमल के सदृश अपने आपको विकसित किया करती है।।

"जब तुम प्रेम करो तो तब यह न कहो 'ईश्वर मेरे हृदय में हैं' प्रत्युत यह कहो, मैं ईश्वर के हृदय में हूं—खलील जिब्रान।

"Cease to seek God in creation and things like these, and seek Him from thyself. and learn who it is that absolutely appropriates everything in thee and says : "My God, my mind, my understanding, my soul, my body". Then learn whence is sorrow, and rejoicing, and love, and hate, and being unwillingly awake, (and sleeping when would not) and getting angry against one's will and falling in love when one would not. Now if Thou enquire exactly into these things, thou shalt find Him in thyself—one and many like the atom—(thus) finding that way (out) from thyself."

"Hear us then...O deathless Father and God of the hidden things, and only Light and Life...the Silence and Love and Fountain of the Universe...Hear our prayer whereby we have prayed to the one hidden in every place."

—Gnostics.

"Often-times when I awoke out of the slumber of the body and came to a realising sense of myself and retiring from the world outside, give myself up to inward contemplation, I behold a wonderful Beauty; I believe that

I really belong to a higher and better world, and still I develop within me a glorious life and become one with the godhead. And by this means, I receive such an energy of life that that I rise far above all other things of even the intelligible world; what then must he experience who now beholds the Absolute Beauty in and for itself in all its purity, without corporeal shape, freed from all bondage to space and time ! And this, therefore, is the life of the gods and of divine and happy man, a liberation from all earthly concerns a life unaccompanid with human pleasure and there is the flight of the Alone to the Alone."

—Plotinus.

"Sometimes, when I have come to my work empty, I have suddenly become full; ideas being in an invisible manner showered upon me, and implanted in my from on high; so that through the influence of divine inspiration. I have become greatly excited, and have known neither the place in which I was, nor those who were present, nor myself, nor what I was saying, nor what I was writing; for then I have been conscious of a richness of interpretation, an enjoyment of light, a most penetrating insight, a most manifest energy in all that is lost in God ? Does the soul find herself or not ? To this I will answer as it appears to me, that the soul finds herself in the point where every rational being understands itself with itself. Although it sinks in the eternity of the divine essence, yet it can never reach the ground. Therefore God has left a little point wherein the soul turns back upon itself and finds itself, and knows itself to be a creature."

"For a man must himself be One, seeking unity both in himself and in the One, which means that he must see God and God only, And then he must 'return', which is to say, he must have knowledge of God and be conscious of his knowledge."

—Meister Ekhart.

"Take Lord and receive all my freedom, my memory, my understanding, and all my will, all that I have and possess. Thou givest it to me. to thee Lord I return it. All is Thine, dispose of it wholly according to Thy will. Give me Thy love and grace, they are sufficient for me."

—Ignatuis Loyola.

"Note that, when I speak of seeing God, I am referring to the way in

which, as I have said, He allows Himself to the apprehanded in this kind of union."

"In the orison of union the soul is fully awake as regards God, but wholly asleep as regards things of this world and in respect of herself. During the short time the union lasts was to be done; having such effect on my mind as the clearest ocular demonstration would have on the eyes."

—Philo.

"As the appearance of the bow that is in the cloud in the day of rain, so was the appearance of the brightness round about. This was the appearance of the likeness of the glory of the Lord. And when I saw it, I fell upon my face and I heard a voice of one that spake."

—Old Testament (Ezekiel).

"Thou hast beset me behind and before, and laid thine hand upon me.

If I ascend up into heaven, thou art there; if I make my bed in hell, behold, thou art there.

Yea, the darkness hideth not from thee; but the night shineth as the day ; the darkness and the light are both alike to thee."

—Psalm 139 (Old Testament).

५. ईसाई साहित्य—

"I can of mine own self do nothing : as I hear, I judge; and my judgement is just; because I seek not mine own will, but the will of the father which hath sent me."

"For I came down from heaven, not to do mine own will, but the will of him who hath sent me.

He that loveth his life shall lose it; and he that hateth his life in this world shall keep it unto life eternal."

—St. John's Gospel (New Testament).

"I live, not I, but the Christ lives in me."

—St. Paul.

"The union of the soul with God is far more inward than that of the soul and body...Now, I might ask, how stands it with the soul that she is as it were deprived of every feeling, and even if she would, she could not think of any single thing."

"One day, being in orison, it was granted me to perceive in one instant how all things are seen and contained in God. I did not perceive them in

their proper form, and never the less the view I had of them was of a sovereign clearness, and has remained vividly impressed upon my soul. It is one of the most signal of all the graces which the Lord has granted me...The view was so subtle and delicate that the understanding cannot grasp.

—St. Teresa.

"We receive this mystical knowledge of God clothed in none of the kinds of images, in none of the sensible representations, which our mind makes use of in other circumstances...The more infused, intimate, spiritual, and supersensible it is, the more does it exceed the senses, both inner and outer, and impose silence upon them...The soul then feels as if placed in a vast and profound solitude, to which no created thing has access, in an immene and boundless desert, desert the more delicious the more solitary it is. There, in this abyss of wisdom, the soul grows by what it drinks in from the wellsprings of the comprehension of love."

—St. John of the Cross.

"The treasure of treasures for the soul is when she goeth out of the somewhat into that Nothing out of which all things may be made. The soul here saith, 'I have nothing', for I am utterly stripped and marked; 'I can do nothing', for I have no manner of power, but am as water poured out; 'I am nothing', for all that I am is no more than an image of Being, and only God is to me 'I Am',; and so sitting down in my own Nothingness, I give glory to the eternal Being, and 'will nothing' of myself, that so God may will all in me, being into me my God and all things."

—St. Boehme.

"See a world in a grain of sand
And a Heaven in a wild flower,
Hold Infinity in the palm of his hand,
And Eternity in an hour",

—Blake.

"Moreover, something is or seems,
That touches me with mystic gleams,
Like glimpses of forgotten dreams—
Of something felt, like something here;
Of something done, I know not where,
Such as no language may declare."

"Flower in the crannied wall
I pluck you out the crannies
Hold you here, root and all in my hand
Little flower, but if I could understand
What you are, root and all and all in all,
I should know what God and man is."

"I have never had any revelations through anaesthetics, but a kind of waking trance—this for look of a better word—I have frequently had, quite up from boyhood, when I have been all alone. This has come upon me through repeating my own name to myself silently, till all at once, as it were out of the intensity of the consciousness of individuality, individuality itself seemed to dissolve and fade away into boundless being, and this not a confused state but the clearest, the surest of the surest, utterly beyond words —where death was an almost laughable impossibility—the loss of personality (if so it were) seeming no extinction, but the only true life. I am ashamed of my feeble description. Have I not said the state is utterly beyond word?"

"By God Almighty ! there is no delusion in the matter! It is no nebulous ecstacy, but a state of transcendant wonder, associated with absolute clearness of mind."

—Tennyson.

"When I walk the fields, I am oppressed now and then with an inmate feeling that everything I see has a meaning, if I could but understand it. And this feeling of being surrounded with truths which I cannot grasp amounts to indescribable awe sometimes...Have you not felt that your real soul was imperceptible to your mental vision, except in a few hallowed moments."

—Charles Kingsley

"God is seen God in the star, the stone and the soul and every soul is theophany."

—Walt Whitman.

"The One remains, the many change and pass;
Heaven's light for ever shines, earth's shadows fly
Life like a dome of many coloured glass
Stains the white radiance of eternity."

—Shelley

"God is the only reality and we are real only as far as we are in His order and He is in us.

—Patmore

"To acknowledge God and to live are one and the same thing. God is what life is, Well, then ! live, seek God, and there will be no life without Him."

—Tolstoy

"I know an officer on our police force who has told me that many times when off duty, and on his way home in the evening, there comes to him such a vivid and vital realisation of his oneness with this Infinite Power, and this Spirit of Infinite Peace so takes hold of and so fills him, that it seems as if his feet could hardly keep to the pavement, so buoyant and so exhilarated does he become by reason of his inflowing tide."

—Trine

६. आधुनिक साहित्य

"Cosmic consciousness in its more striking instances is not simply an expansion or extension of the self-conscious mind with which we are familiar, but the superaddition of a function as distinct from any possessed by the average man as self-consciousness is distinct from any function possessed by one of the higher animals."

"The prime Characteristic of cosmic consciousness is a consciousness of the cosmos, that is, of the life and order of the universe. Along with the consciousness of the cosmos there occurs an intellectual enlightenment which alone would place the individual on a new plane of existence—would make him almost a member of a new species. To this is added a state of moral exaltation, an indescribable feeling of elevation, elation, and joyousness, and a quickening of the moral sense which is fully as sticking, and more important than is the enhanced intellectual power. With these come what may be called a sense of immortality, a consciousness of eternal life, not a conviction that he shall have this, but the consciousness that he has it already."

—R. M. Bucke

'One reason why I disliked this kind of trance was that I could not describe it to myself. I cannot even now find words to render it intelligible. It consisted in a gradual but swiftly progressive obliteration of space, time, sensation and the multitudinous factors of experience which seem to qualify

what we are pleased to call our Self. In proportion as these conditions of ordinary consciousness were subtracted, the sense of an underlying or essential consciousness acquired intensity. At last nothing remained but a pure, absolute, abstract self."

—J. A. Symons

"The reflections I have put down so far were all still on the rational level...But as we proceed to others in an inward direction, they will become more embarrassing and more difficult to put into words. They will also contradict each other—for we are moving here through strata that are held together by the cement of contradiction."

"The I ceases to exist because it has established communication with or been dissolved in the universal pool."

—Arthur Koestter

"My immediate reflections on the expereince at the window were as follows : I saw how absurd had been my expectations of a vision of God. I mean my notions of what such a vision would consist in. For I had no doubt that I had seen God, that is, had seen all there is to see; yet it turned out to be the world that I looked at every day...I should say that though I should regard my experience as a 'religious' one I have no patience whatever with organized religion and do not regard my experience as lending support to any of its dogmas. On the contrary I regard organized religious as by its very nature hostile to the spirit of mystcism."

"The room in which I was standing looked out onto the back yards of a Negro tenement. The buildings were decrepit and ugly, the ground covered with boards, rags and debois. Suddenly every object in my field of vision took on a curious and intense kind of existence of its own, that is, everything appeared to have our 'inside '—to exist as I existed, having inwardness, a kind of individual life, and every object, seen under this aspect, appeared exceedingly beautiful. There was a cat out there with its head lifted, effortlessly watching a wasp that moved without moving just above its head. Everything was urgent with life,...which was the same in the cat, the wasp, the broken bottles and merely manifested itself differently in these individuals (which did not therefore cease to be individuals however). All things seemed to glow with a light that came from within them."

"I experinced a complete certainty that at that moment I saw things

as they really were, and I was filled with grief at the realization of the real situation of human beings, living continuously in the midst of all this without being aware of it. This thought filled my mind and I wept. But I also wept over the things themselves which we never saw and which we made ugly in our ignorance, and I saw that all ugliness was a wounding of life."

"It is enough that things are; a man who is not content with what is simply does not know what is. That is all that pantheism really means when it is not tricked out as a philosophical theory. It would be best not to talk of meaning at all, but to say that there is a feeling of emptiness and then one sees, and then there is fullness."

—N. M.

(ख) सहायक साहित्य

(१) वैज्ञानिक विश्लेषण, दार्शनिक निरूपण और मूल्यांकन

(अंग्रेजी)

१. Arientero : Mystical Evolution.
२. Barret, W. F. : On the Threshold of the Unseen.
३. Bennett, C. : A Philosophical Study of Mysticism (Oxford, 1931).
४. Bergson, H. : The Two Sources of Morality and Religion (1960).
५. Blood, B. P. : The Anaesthetic Revelation and the Gist of Philosophy (New York, 1874).
६. Brinton, H. M. : The Mystic Will (New York, 1930).
७. Brown, W. : Personality and Religion (1945).
८. Boad, C. D. : Religious Philosophy and Psychical Research (New York, 1953).
९. Buckhan : Mysticism and Personality.
१०. Bucke, R. M. : Cosmic Consciousness (A Study in the Evolution of Human Mind) (Philadelphia, 1905).
११. Carpenter, E. : The Art of Creation (London, 1921).
१२. Chaudhary, R. : Vedant and Sufism.
१३. Cairroil, A. : Man the Unknown (London, 1921).
१४. Costler, G. : Yoga and Western Psychology (London, 1949).
१५. Das : Mystic Experience.
१६. Dasgupta, N. N. : Attention and Mystic Discipline.
१७. Date, V. H. : Yoga of the Saints (Poona, 1944).
१८. Fainges, A. : Mystical Phenomena (London, 1926).
१९. Fletcher, S. : Some Difficulties of Unbelief.
२०. Gandhi, M. K. : My Experiments with Truth.
२१. Gobindacharya : A Metaphysique of Mysticism (Madras, 1923).
२२. Greenless, D. : Gospel of Mani (Adyar).
२३. Greenless, D. : Gospel of the Gnostic, (Adyar).
२४. Greenless, D. : Gospel of Vedant (Adyar).

२५. Gregar, G. : Aesthetic Experiences in Religion (London, 1947).
२६. Guenther, H. V. : Yuganaddha (Varanasi, 1952).
२७. Gupta, N. K. : The Approach to Mysticism (Madras, 1946).
२८. Haldane, R. B. : The Pathway to Reality.
२९. Herbert, N. G. : The Relationship between the Mystical and Scientific Psychology (St. Louis).
३०. Herman, E. : Meaning and Value of Mvsticism (London, 1915).
३१. Holmes, E. : Experience of Reality : A Study of Mysticism.
३२. Howley, J. : Psychology of Mystic Experience.
३३. Hughes, T. H. : Philosophic Basis of Mysticism (1937).
३४. Inge, W. R. : The Philosophy of Plotinus (New York, 1948).
३५. Jacobs Hans: Western Psychotherapy and Hindu Sadhna (London, 1961).
३६. James, W. : The Will to Believe (New York, 1897).
३७. James, W. : Varieties of Religious Experience (1929).
३८. Jha, G. N. : The Philosophical Discipline (Calcutta, 1920).
३९. Jinarajadasa, C. : The Nature of Mysticism.
४०. Joly, H. : Psychology of the Saints (London, 1898).
४१. Jung, C. G. : Psychology of Religion (1938).
४२. Kingsland, W. : Rational Mysticism.
४३. Kirtikar, V. J. : Studies in Vedanta (Bombay, 1924).
४४. Knight, D. : Mysticism, Freedom and Scientific Psychology (St. Louis)
४५. Koestler, A. : The Invisible Writing (New York, 1934).
४६. Laotze : The Simple Way (Tr. Goru Gold).
४७. Lejuine, P. : Introduction to the Mystic Life.
४८. Leuba, J. H. : The Contents of Religious Consciousness (The Monist. Vol. XI, 536, July, 1901).
४९. Leuba, J. H. : The Psychology of Religious Mysticism (London, 1925).
५०. Longman, H. A. : The Religion of the Naturalists.
५१. Macmmy, J. : The Structure of Religious Experience (London, 1936).
५२. Masechet : Studies in the Psychology of the Mystics.
५३. Marilain, J. : The Range of Reason (London, 1953).
५४. Marquith, J. M. : Introduction to Comparative Mysticism (1949).
५५. Massey, C. C. : Values for Mysticism.
५६. Mukerji, R. K. : The Theory and Art of Mysticism (Asia Publishers)

५७. Newlyn, N. G. : The Relationship between the Mystical and the Sensible World.

५८. Parcute : Mystical Life.

५९. Pratt, J. B. : The Religious Consciousness.

६०. Prel, Carl du : Philosophy of Mysticism.

६१. Pringle-Pathson : The Philosophy of Religion (Oxford, 1930).

६२. Radhakrishnan, S. : An Idealist View of Life.

६३. Radhakrishnan, S. : The Hindu View of Life (1931).

६४. Radhakrishnan, S. : The Reign of Religion in the Contemporary Philosophy.

६५. Rejece, C. : Essays on the Basis of the Mystic Knowledge.

६६. Royce, J. : The World and the Individual, 2 Vols. (London, 1900).

६७. Rudolph, Otto : Mysticism East and West (New york, 1951).

६८. Russel, B. : Religion and Science.

६९. Rust, B. : Religion and Science (1947).

७०. Saunders, A. : Mystical State : Its Nature and Phases.

७१. Seer, Barraas : Mysticism and Truth.

७२. Selbie, W. : The Psychology of Religion (1926).

७३. Sharpe, A. : Mysticism: Its True Nature and Value.

७४. Stace, W. T. : Mysticism and Philosophy (1961).

७५. Stace, W. T. : Religion and the Modern Mind.

७६. Stace, W. T. : Teachings of the Mystics (Mentor, 1960).

७७. Starbuck, E. T. : The Philosophy of Religion (London, 1951).

७८. Steiner, : Mystic and Modern Thought.

७९. Stiernotte : Mysticism and the Modern Mind.

८०. Streeter : The Sadhu : A Study in Mysticism and Practical Religion (Oxford).

८१. Sweitzer, A. : The Decay and Restoration of Civilization (London, 1953).

८२. Thomas, J. A. : Science and Religion (1927).

८३. Thouloss, R. H. : An Introduction to the Psychology of Religion (Cambridge University, 1950).

८४. Thouloss, R. H. : The Experience of Divine Immanence in Nature.

८५. Thurman : Mysticism and the Experience of Love,

८६. Tirtha Ram : In the Woods of God Realization.
८७. Toyanbee, A. : An Historian's approach to Religion (New York, 1956).
८८. Trine, R. W. : In Tune with the Infinite.
८९. Underhill, E. : Practical Mysticism (London, 1915).
९०. Walker, K. : Diagnosis of Man (Penguin, 1962).
९१. Ward, James : Naturalism and Agnosticism.
९२. Watkins, E. I. : The Psychology of Mysticism (London, 1919).

अन्य भाषा

१. जितेन्द्र नाथ सेन: शब्द ब्रह्म ओ ब्रह्मानुभूति (बंगला, कलकत्ता)
२. ताओ उपनिषद् (चीनी महापुरुष लाओत्से का 'ताओ तेह किंग')
३. बाबा नगीनासिंह वेदी : वेदानुवचन (लखनऊ, १९५०)
४. वेंकटेश्वर शर्मा : अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन (पटना, १९५७)
५. शिवव्रतलाल वर्मा: अद्भुत उपासना योग (उर्दू, इलाहाबाद)
६. श्री अरविन्द: पूर्णयोग (बंगला)

(२) धार्मिक स्वरूप, साधना और आदर्श

१. Abelson, J. : Jewish Mysticism (London, 1913).
२. Al Ghazzali : Confessions (Wisdon of the Past Series).
३. Al Ghazzali : The Alchamy of Happiness (Wisdom of the Past Series).
४. Augustine, St. : Confessions (London, 1907).
५. Aurobindo, Sri : Letters (Pondichery, 1951).
६. Aurobindo, Sri : The Life Divine.
७. Banerjee, A. K. : A Dynamic view of God and Man (Gorakhpur, 2010).
८. Bestide : The Mystical Life.
९. Boehme, Jacob : Confesions (London, 1926).
१०. Boisin, A. T. : Exploration of the Inner World (New York, 1936).
११. Bucket, G. : The English Mystics.
१२. Butler, D. C. : Western Mysticism (London, 1945).
१३. Catherine, St. : The Divine Dialogue (London, 1926).
१४. Chapman, D. J. : Mysticism (Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 9).
१५. Dasgupta, S. N. : The Hindu Mysticism (Chicago, 1914).
१६. Dionysius Airopagite ; The Divine Name and Mystical Theology (London, 1920).

१७. Gobind Anagarika : An Introduction to Tibetan Mysticism.
१८. Greenlees, D. : Gospel of China (Adyar).
१९. Greenlees, D. : Gospel of Guru Granth Saheb (Adyar).
२०. Greenlees, D. : Gopel of Israel (Adyar).
२१. Greenlees, D. : Gospel of the Hermes (Adyar).
२२. Greenlees, D. : Gospel of the Mystic Christ (Adyar).
२३. Greenlees, D. : Gospel of the Pyramids (Adyar).
२४. Greenlees, D. : Gospel of Zaratustra (Adyar).
२५. Gregry, E. : An Introduction to Christian Mysticism (London, 1901).
२६. Herrigal Engen : The Method of Zen (London)
२७. Hugel, Baron Von : The Mystical Element in Religion (Cambridge, 1908).
२८. Inge, W. R. : Christian Mysticism (London, 1899).
२९. Inge, W. R. : Mysticism in Religion.
३०. Inge, W. R. : Personal Idealism.
३१. Inge, W. R. : The Mystic Way.
३२. John of the Cross : Mystical Doctrine.
३३. John, St. of the Cross : The Dark Night of the Soul (N. Y., 1957).
३४. Johnes R. M. : Studies in Mystical Religion.
३५. Jones Rufus : Some Experiments of Mystical Religion (London, 1930).
३६. Jones, Rufus : The Flowering of Mysticism (N. Y., 1939).
३७. Kempis, T. : Of the Imitation of Christ (London, 1900).
३८. Lal Bankey Behari : Mysticism of the Upanishads (Gorakhpur, 1940).
३९. Lehman, E. : Mysticism in Heathenism and Christendom (London, 1910).
४०. Lord William : A Serious Call to a Devout and Holy life.
४१. Maharaj Huzur : Pilgrim's Path (Dayal Bagh Agra, 1948).
४२. Nicholon, R. A. : Mysticism and the Eastern Church (London).
४३. Nicholson, R. A. : Studies in Islamic Mysticism.
४४. Nicholson, R. A. : The Mystics of Islam.
४५. Oman, J. C. : The Mystics, Ascetics and Saints of India (London, 1905).
४६. Palmer, E. A. : Oriental Mysticism.
४७. Peers, E. A. : Mystics of Spain (London, 1957).
४८. Poulin, A. : Graces of Inner Prayer (London, 1950).
४९. Raghuvir : Vedic Mysticism.

५०. Rao, K. A. Ram . Mysticism Unveiled (Bombay, 1946)
५१. R. P. Aniruddha : An Introduction into Lamaism (Hoshiarpur, 1959).
५२. Sachachter, S. : Studies in Jewish Mysticism (N. Y., 1958).
५३. Schfman, G. G. : Major Trends in Jewish Mysticism (London, 1913).
५४. Scully, Don. V. : A Medieval Mystic : B. John Ruysbroccke.
५५. Sen, K. M. : Medieval Mysticism of India.
५६. Singh, Mohan Dr. : Gorakhnath and Medieval Mysticism (London, 1937).
५७. Sircar, M. N. : Hindu Mysticism.
५८. Sircar, M. N. : Mysticism of the Bhagavadgita.
५९. Smith, Margaret : Rabia the Mystic (1928).
६०. Smith, Margaret . Readings from the Mystics of Islam (Luzac and Co, London).
६१. Subhan, J. A. : Sufism, its Saints and Shrines, (Lucknow, 1960).
६२. Surly Albert : Mysticism of Paul, Apostle (Lndon).
६३. Suzuki, D. T. : Essays in Zen Budhism (in 3 parts) London, 1950.
६४. Suzuki, D. T. : Mysticism Budhist and Christian (1957).
६५. Swetenham, L. : The Mysticism of Jesus (Open Court, 1927).
६६. Tauler, St. : The Inner Way (London, 1909).
६७. Teresa, St. : The Interior Castle (London, 1912).
६८. ? The Cloud of Unknowing (London, 1912).
६९. Trever, J. : My Quest of God (London, 1897).
७०. Underhill, E. : Essentials of Mysticism (London, 1920).
७१. Underhill, E. : Mystics of the Church (London, 1925).
७२. Underhill, E. : Mysticism (1955).
७३. Underhill, E. : The Life of Spirit and the Life of Today (London, 1952).
७४. Vaughan, R. A. : Hours with the Mystics (London, 1880).
७५. Waily, A. P. : Studies in Mysticism (London, 1906).
७६. Whitaley, A. R. : The Inner Light (London, 1908).
७७. Winslow, J. C. The Indian Mystic (London, 1929).
७८. Zaehner : Hindu and Muslim Mysticism.
७९. Zaehner, R. C. : Mysticism : Sacred and Profane (Oxford, 1961)
८०. Zuhuruddin Ahmad : An Examination of the Mystic Tendencies in Islam, 1932.

अन्य भाषा

१. तिलक, लो० : गीतारहस्य
२. विद्यारण्यःजीवन्मुक्ति विवेक (संस्कृत) मद्रास, १९३५ ई०
३. विनोबा: गीता प्रवचन
४. विनोबा: स्थितप्रज्ञ दर्शन

(३) रहस्यात्मक अभिव्यक्ति

१. Armotrong A. H : Plotinus.
२. Aurobindo, Sri : Foundations of Indian Culture (N. Y., 1953).
३. Aurobindo, Sri : The Future Poetry (Pondichery, 1953).
४. Chandrasekharan, K. : The Poet as Sthitaprajna (Madras, 1949).
५. Cousins, J. H. : New Ways in English Literature (Madras).
६. Damdu, S. F. : William Blake, his Philosophy and Symbols (London).
७. Daries, T. H. : Spiritual Voices in Modern Literature.
८. Desikar, R. S. : Grains of Gold (Madras, 1934).
९. Evans, C. De. : Ekhart's Sermons (London, 1904).
१०. Gupta, N. K. : Poets and Mystics (Madras, 1957).
११. Guyon, Madame : Autobiography 2 Vols. (London, 1897).
१२. Karamkar, A. P. : Mystic Teachings of the Haridasas of Karnatak
१३. Karl Jaspers : Truth and Symbol (London).
१४. Nicholson : Roomi, Poet and Mystic.
१५. Palmer, W. S. : Jacob Boehme's Confessions (London, 1920).
१६. Pandit, M. G. : Mystic Approach to Vedas and Upanishads.
१७. Ranade, R. D. : Mysticism in Maharastra (Poona, 1933).
१८. Rānade, R. D. : Pathway to God in Kannad Literature.
१९. Ranade, R. D. : Pathway to God in Hindi Literature.
२०. Richard, A. R. : Principles of Literary Criticism.
२१. Robert, Alfred : Hours with the Mystics (1860).
२२. Russel Bertrand : Mysticism and Logic (1949).
२३. Sethna, K. D. : The New Age of Mystical Poetry.
२४. Spurgeon Medhwrst, C. : The Tao Teh king
२५. Spurgeon, C. F. E. : Mysticism in English Literature (London, 1913).
२६. Vāsu, N. N. : Modern Budhism in Orissa (Calcutta, 1911).
२७. Worsfold, W. B. : Judgement in Literature (London, 1951).

अन्य भाषा

१. अशोक कुमार सिंह: काव्य के बाद (दिल्ली)
२. असरारे खुदी (फ़ारसी)–डॉ० मुहम्मद इक़बाल
३. ईशाद्यष्टोपनिषद् (संस्कृत)
४. गुलाब राय : रहस्यवाद और हिन्दी कविता (आगरा, १९५६)
५. जनार्दन मिश्रा : भारतीय प्रतीक विद्या (पटना, १९५९)
६. जोशी, पी० एन० : मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति (पुणे, १९५७), (मराठी)
७. टण्डन, प्रेमनारायण (डॉ०): रहयवाद और हिन्दी-कविता
८. धीरेन्द्र वर्मा (सं०) : हिन्दी साहित्य कोश (वाराणसी, १९५८)
९. नगेन्द्र (डॉ०): आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियां
१०. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी : भक्ति मार्गी बौद्ध धर्म (प्रयाग, १९६१)
११. नामवर सिंह (डॉ०): आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां (प्रयाग, १९५४)
१२. परशुराम चतुर्वेदी : भक्ति साहित्य में मधुरोपासना (प्रयाग, १९६१)
१३. 'प्रसाद', जयशंकर : काव्य और कला तथा अन्य निबंध (प्रयाग, १९५७)
१४. ब्रजमोहन गुप्त (डॉ०) : हिंदी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियां
१५. भुवनेश्वर नाथ मिश्रा 'माधव', (डॉ०): रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना (पटना, २०१४)
१६. मानव : महादेवी की रहस्य साधना (प्रयाग, १९५७)
१७. रामकुमार वर्मा (डॉ०) : कबीर का रहस्यवाद (प्रयाग, १९३१)
१८. रामचन्द्र शुक्ल : 'चिन्तामणि' भा० २ (वाराणसी, १९५७)
१९. रामरतन भटनागर (डॉ०): रहस्यवाद (प्रयाग, १९५१)
२०. रिसाल-ए-हक्नुमा (फ़ारसी)– मुहम्मद दाराशिकोह
२१. विश्वनाथ गौड़ : आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद (वाराणसी, १९६१)
२२. श्रीमद्भगवत्गीता (संस्कृत)
२३. श्रीशचन्द्रदास : साहित्य दर्शन (कलकत्ता, १९५९), (बंगला)
२४. श्री सद्गुरुशरण अवस्थी : रहस्यवाद और हिन्दी में उसका स्वरूप
२५. सिंह, भगवती प्रसाद (डॉ०) : राम भक्ति में रसिक संप्रदाय (बलरामपुर, २०१४)
२६. सिंह, शंभूनाथ (डॉ०) : छायावाद युग (वाराणसी, १९५२)
२७. त्रिगुणायत, गोविन्द (डॉ०): कबीर और जायसी का तुलनात्मक रहस्यवाद

(४) सामान्य परिचय, क्रमिक विकास और प्रासंगिक अध्ययन

१. Bagchi, P. C. : Studies in the Tantras (Calcutta, 1939).
२. Bergson, Henri : An Introduction to Metaphysics.
३. Bouguet, A. C. : Comparative Religion (Pelican, 1933).
४. Brahma, N. K. : Philosophy of Hindu Sadhana (London, 1932).
५. Caird, Edward : The Evolution of Religion (Glasgow, 1893).

६. Curtis, A. : The New Mysticism.
७. Dasgupta, S. B. : Obscure Religious Cults (Calcutta, 1916).
८. Dasgupta, S. N. : A History of Indian Philosophy.
९. Eddington, A. S. : The Nature of the Physical World.
१०. Elide, M. : Yoga (London, 1939).
११. Ferm, V. : Ancient Religions (New York, 1950).
१२. Gaer, J. : How Great Religions Began (Key Book, 1935).
१३. Gayor, F. : A Dictionary of Mysticism (New York, 1933).
१४. Guenther, H. V. : Philosophy and Psychology in the Abhidharma (Lucknow, 1957).
१५. Hocking, W. P. : The Meaning of God (Yale, 1912).
१६. Hopkinson, A. W. : Mysticism Old and New.
१७. Jeans, James, Sir. : Physics and Philosophy.
१८. Johnson, E. : Religious Symbolism (New York).
१९. Karamkar, A. P. : Vratyas of Dravidian System.
२०. Khan, Khafi : Studies in Tasawwuf.
२१. Kumarappa, B. : The Hindu Conception of Deity (Luzac, 1934).
२२. Leadbeater, C. W. : Glimpses of Masonic History (Adyar, 1926).
२३. Levi Eliphas : The History of Magic (New York, 1948).
२४. Mainkar, T. G. : Mysticism in the Rigveda (Bombay, 1961).
२५. Maitra, S. K. : Studies in Aurobindo's Philosophy (B. H. U., 1945)
२६. Murti, T. R. V. : The Central Philosophy of Buddhism (London, 1955);
२७. " " : Mysticism at the Dawn of the Modern Age.
२८. Nicholson, J. A. : The Idea of Personality in Islam (1923).
२९. Pandey, K. C. : Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study (Banaras, 1935).
३०. Paras, P. A. : The Miraculous and the Mysticisms in the Vedic Literature (Bombay, 1952).
३१. Parmer, G. : Worship in the World's Religions.
३२. Paucker, G. D. : Occult Glossary (London, 1933).
३३. Radhakrishnan, S. : Philosophy Eastern and Western, 2 Vols.
३४. Radhakrishnan, S. : The Philosophy of Rabindra Nath Tagore.
३५. Ramaswami, K. S. : Evolution of Indian Mysticism (Bombay).
३६. Reincourt, A. : The Soul of India (London, 1950).

३७. Rele, V. S. : The Mysticms Kundalini.
३८. Robertson, J. M. : A Short History of Free Thought, 2 Vols. (London, 1915).
३९. Sircar, M. N. : Mysticism of the Tantras (Calcutta, 1951).
४०. Shantinath, Sadhu : Experiences of a Truth Seeker (Gorakhpur).
४१. Shinde, N. J. : The Religious Philosophy of the Atharva Veda (Poona, 1952).
४२. Smith, Margaret : Studies in Early Mysticism in the Near and Middle East (1931).
४३. Sorely, W. R. : Moral Values and the Idea of God.
४४. Snlivan, J. W. N. Limitations of Science (Menter Book, 1959).
५४. Sweitzer, A. : Indian Thought and its Development (London, 1952).
४६. Takakusu, J. : The Essentials of Budhists Philosophy (Bombay, 1956)
४७. Thomas, E. J. : The History of Buddhist Thought (London, 1951).
४८. Vetter, G. B. : Magic and Religion (New York, 1958).
४९. Whitehead, A. N. : Science in the Modern World.
५०. Winternitz, M. : A History of Indian Literature (Calcutta, 1927).

अनुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका